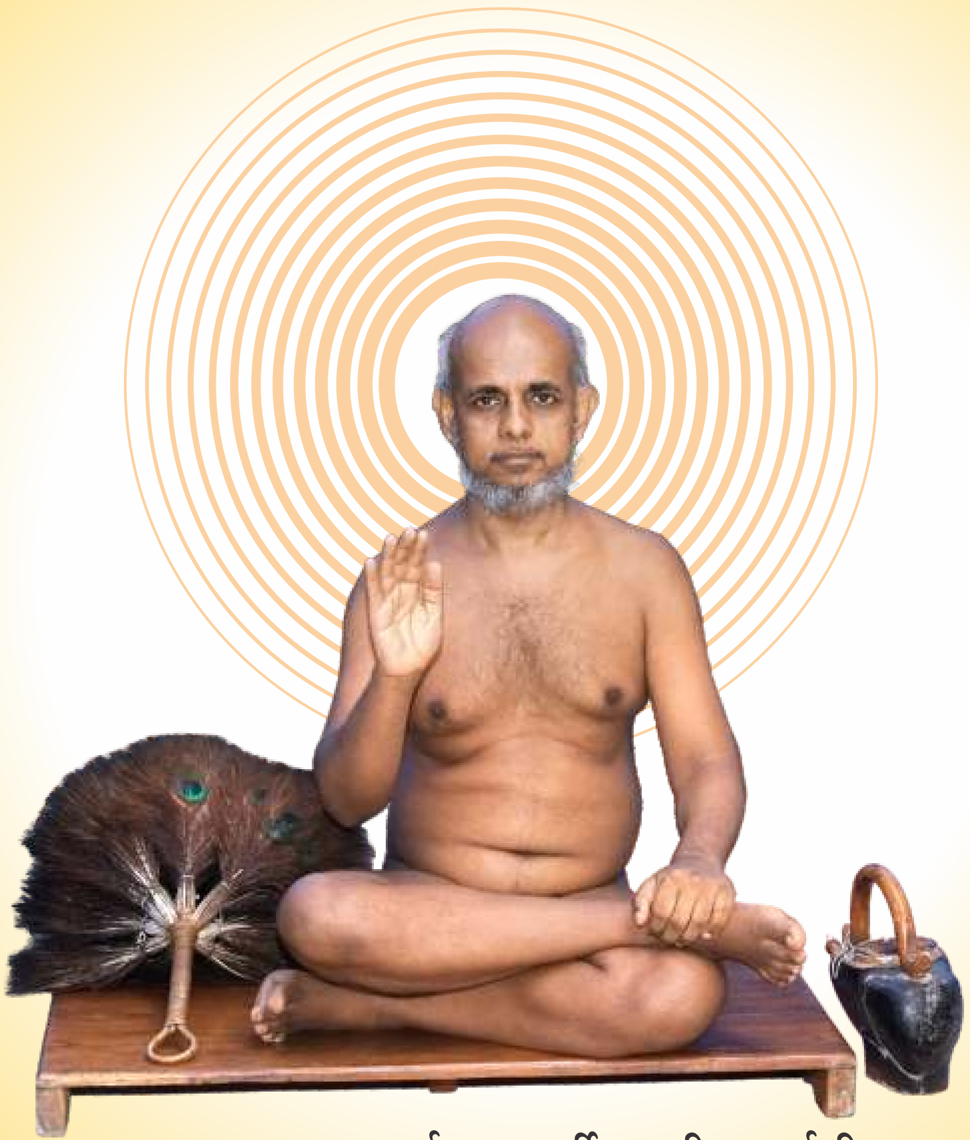

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

# सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

## जिनवाणी-महोत्सव

# सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

# संस्कृत गीतिकाव्य का विकास

लेखक
डॉक्टर परमानन्द शास्त्री

प्रकाशक : प्रकाशन प्रतिष्ठान, मेरठ (उत्तरप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या ४६७५२
काल नं० २८१ परमा
खण्ड

# संस्कृत गीतिकाव्य का विकास

# संस्कृत गीतिकाव्य का विकास

[शोध प्रबन्ध]


लेखक :

डा० परमानन्द शास्त्री
एम ए., पी-एच डी.

रीडर, संस्कृत-विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़



प्रकाशन प्रतिष्ठान
सुभाष बाजार, मेरठ, (उ० प्र०)



MUNSHI RAM MANOHAR LAL
Oriental & Foreign Book Sellers

© सर्वाधिकार लेखक के अधीन

● मूल्य अठारह रुपए

● प्रकाशक
डा० विद्याभूषण भारद्वाज
एम ए, पी एच डी
अधिष्ठाता एवं नियन्ता
प्रकाशन प्रतिष्ठान
सुभाष बाजार, मेरठ, उ० प्र०
फोन ४५८१

● मुद्रक .
प्रभात प्रेस, मेरठ ।

# समर्पणम्

विद्या नयश्च विनयश्च विचारणं च सत्त्वं दृढत्वमृजुता च सहिष्णुता च ।
त्यागश्च धर्मगरिमा परकर्मयोगो यस्मिन् गुणाः समुदिता मुदिता इवासन् ॥
युद्धं च शान्तिमथ यो ह्यजयत् समानमिच्छोगिलस्य निकटेऽपि च ताशकन्दे ।
तस्यैव वीरवरलालबहादुरस्य पुण्यस्मृतौ कृतिरियं सफलत्वमेतु ॥

—परमानन्द शास्त्री

# आमुख

मेरा विचार है कि किसी भी साहित्य का सबसे सुन्दर अङ्ग उसका गीतिकाव्य होता है क्योंकि 'सत्य शिव सुन्दरम्' की जितनी कोमल और मधुर अभिव्यक्ति इसमे होती है उतनी अन्यत्र नही। इस दृष्टि से सस्कृत का गीतिकाव्य बडा ही समृद्ध है। उसकी यह गुण-समृद्धि दीर्घकालीन विकास-परम्परा का परिणाम है। ऋग्वेद मे जहाँ तहाँ प्रकट हुई यह क्षीण निर्झरिणी अनेक व्यापक घटनाओ के फलस्वरूप विभिन्न दशाओ से प्रवहमान जनमानस की सहस्रधारा प्रवृत्ति का सङ्गम पाकर भावो की शान्त समतल भूमि पर कलकल ध्वनि से बहने लगी थी। अनेक मनीषियो ने इस पावन गङ्गा मे स्नान किया और असख्य लोगो को इसके रसामृत का प्रसाद बाँटा। कुछ ने विशेष विशेष स्थानो मे गोता लगाकर थाह ली और अपनी अपनी पहुँच के अनुसार गहराई को अङ्कित किया किन्तु इस अविच्छिन्न धारा का अनुसन्धान कर उद्गम-दर्शन का विचार किसी समर्थ सर्वेक्षक के मन मे नही आया। कुछ दिन हुए एक निर्बल सी पद-चाप इसके शान्त कूल पर सुनाई पडी। गुरुवर हरवशलाल शर्मा के पथ-निर्देशन मे मैं इस ओर चल पडा था। जिज्ञासा की इस यात्रा मे अपनी क्षमता के अनुरूप जो कुछ मैं देख सका उसी का स्केच आपके हाथो म है। मुझे यह स्वीकार करने मे सकोच नही कि मैं किनारे-किनारे चला हूँ। आरम्भ से अन्त तक की गहराई नापने का प्रयत्न मैंने नही किया क्योकि मेरा उद्देश्य इसकी सुदीर्घ दूरी मे मिलने वाली अन्यान्य धाराओ के सङ्गम से उत्पन्न विकास-गति के साथ-साथ रास्ते मे पडने वाले अनेक मोडो का ही चित्रण करना था। इन्ही विशेष स्थलो पर गहराई की थाह लेने का प्रयास भी मैने किया है। ऋग्वेद के गङ्गोत्तरी से निकलने के पश्चात् बौद्ध थेर थेरियो की गाथाओ की अलकनन्दा से मिलकर ही गीतिकाव्य की यह गङ्गा अपना व्यक्त स्वरूप प्राप्त कर सकी है। कालिदास का मेघदूत इसका हरिद्वार है जहाँ शीतल रस का अथाह प्रवाह पद-तरङ्गो की सुन्दर सगीत-ध्वनि के साथ सहज समतल गति से आगे बढता है, और जयदेव का गीतगोविन्द वह तीर्थराज है जहाँ शृङ्गार तथा भक्ति की गङ्गा यमुना का लोकविश्रुत पदशैली की अन्त सलिला सरस्वती से अभूतपूर्व सङ्गम होता है—ऐसा सङ्गम जहाँ 'पद पद होतु प्रयागु'। मेरी यात्रा यही तक है। इसके लिए जो मार्ग मुझ से बन पडा वह अच्छा है या बुरा इसका निर्णय तो सहृदय विद्वान् ही करेंगे। मैं केवल इतना जानता हू कि—

स तु तत्र विशेषदुर्लभ सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म य।

विनीत

शिवरात्रि, वैक्रमाब्द २०२२

परमानन्द शास्त्री
रीडर, सस्कृत विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

# विषय-सूची

**१—विषय-प्रवेश** १–१२

काव्य में गीतिशैली का महत्त्व और उसका जीवन से सामीप्य १, लोकगीत ३, लोकगीत और गीतिकाव्य ४, संस्कृत-काव्यशास्त्र में गीतिकाव्यविषयक उदासीनता और उसका कारण ५, विषय-विवेचन की आवश्यकता और उपयोगिता १०, उपलब्ध सामग्री १०

**२—गीतिकाव्य की सामान्य विशेषताएँ** १३–३६

भारतीय मत १३, पाश्चात्य मत १४, समीक्षा और दोनों मतों का समन्वय २१, गीतिकाव्य के मूल तत्त्व—भावमयता २७, मनोवैज्ञानिक आधार २८, भावान्विति ३१, संक्षिप्तता ३२, सहज अन्तःप्रेरणा ३२, गेयता ३२, भाषा-शैली ३५।

**३—संस्कृत काव्य में गीतिकाव्य के सोपान** ३७–१०६

वैदिक साहित्य ३७, ऋग्वेद का साहित्यिक महत्त्व ३८, यजुर्वेद ६०, सामगायन ६१, उपनिषत्साहित्य का योगदान ६५, वाल्मीकि रामायण ६७, महाभारत ८०, पुराण-साहित्य ८५, महाकाव्य ८६, नाटक-साहित्य ९८।

**४—संस्कृत में काव्यशैली का विकास और गीतिकाव्य के प्रकार** १०६–१२४

काव्यशैली का प्रारम्भिक विकास १०६, प्रबन्धशैली ११७, महाकाव्य ११८, खण्डकाव्य ११६, निबन्ध शैली ११६, मुक्तक शैली १२०, मुक्तककाव्यसंग्रह १२३।

**५—संस्कृत गीतिकाव्य पर लोकभाषाओं के साहित्य का प्रभाव** १२५–१८०

लोकभाषा का महत्त्व १२५, प्राकृत भाषा—प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति १२६, प्राकृत का महत्त्व १२७, पालि १३१, साहित्यिक प्राकृतें और उनकी विशेषताएँ १३५, प्राकृत भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव १३८, प्राकृत की शृङ्गारोपयोगिता १३६, पालि साहित्य का प्रभाव १४४, थेरी-गाथाएँ १४६, प्राकृत साहित्य का प्रभाव १५३, गाथासप्तशती और अमरुक १५३, गाथासप्तशती और गोवर्धनाचार्य १५६, अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव १६६, नाथों का साहित्य १७७।

**६—शृङ्गारिक गीतिपरम्परा** १८०–२६६

पृष्ठभूमि १८०, प्रथम उन्मेष—कालिदास और हाल १८८, कालिदास के गीतिकाव्य १८८, ऋतुसंहार १९०, मेघदूत १९२, घटकर्पर काव्य

२१२, गाथासप्तशती २१४, द्वितीय उन्मेष—भर्तृहरि, मयूर और अमरुक २२१, पृष्ठभूमि २२१, भर्तृहरि का शृङ्गारशतक २२५, अमरुकशतक २३३, तृतीय उन्मेष—बिल्हण गोवर्धन, धोयी १४४, पृष्ठभूमि २४४, चौर पंचाशिका २४६, आर्यासप्तशती २५३, दूतकाव्य (प्रबन्ध गीति) २६०, पवनदूत २६१।

७—धार्मिक गीतिपरम्परा २६७–२७६

काव्यशास्त्रियों का दृष्टिकोण २६८, स्तोत्र परम्परा का महाकाव्यों पर प्रभाव २६८, बौद्ध और जैन धर्मों में स्तोत्र-परम्परा २६६, शृङ्गार-भावना का समावेश २७३।

८—युगप्रवर्तक कवि जयदेव २७७—३२२

पृष्ठभूमि २७७, गीतगोविन्द की कसौटी भगवल्लीलागान २८३, शृङ्गार-वर्णन २८६, गेयपदशैली ३०२, उत्तरवर्ती कवियों पर प्रभाव और संस्कृतसाहित्य में जयदेव का स्थान ३१५, उपसंहार ३२१।

१

• • •

# विषय-प्रवेश

+ + +

## काव्य में गीति-शैली का महत्त्व और उसका जीवन से सामीप्य

आचार्य मम्मट ने यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अमङ्गल-क्षति, लोकोत्तर आनन्द तथा कान्ता-सम्मित उपदेश को काव्य का उद्देश्य माना है। उनकी यह मान्यता काव्य तथा जीवन के सम्बन्ध की वास्तविक व्याख्या प्रस्तुत करती है। काव्य का अस्तित्व जीवन से है और जीवन की अमरता काव्य से है। दोनों का शाश्वत सम्बन्ध है। जिस दिन मानव हृदय मे अनुभूति का अदम्य स्फुरण हुआ उसी दिन काव्य का भी निभृत आविर्भाव हो गया था, भाषा का माध्यम पाकर वह मुखरित हो उठा और लिपि के सकेत पाकर चाक्षुष बन गया। फिर तो स्वयं काव्य के जीवन की कहानी प्रारम्भ हो जाती है जिसका अन्त मानव जाति के अन्त के साथ ही बँधा है।

आहार, निद्रा आदि सहज प्रवृत्तियाँ तथा भौतिक-साधन संग्रह के व्यापारों में ही जीवन की इयत्ता नही है। ये तो जीवन के केवल एक पक्ष का ही प्रतिपादन करते हैं। जीवन की पूर्णता तो मानव की रागात्मक वृत्तियों के उभार और विकास में है। आज का मानव जीवन के स्थूल रूप में ही अधिक रमा हुआ है। यद्यपि जीवन के स्थूल पक्ष की रक्षा भी अनिवार्य है तथापि एकाङ्गी दृष्टिकोण से मानव-कल्याण का पथ प्रशस्त नही किया जा सकता। मानव-जीवन की चेतना उसकी अन्तर्वृत्तियों में है। उनके अभाव में मनुष्य केवल प्रतिमा रह जाता है। अतः इन अन्तर्वृत्तियों के परिष्कार और उदात्त रूप की चिरस्थायिता का प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। कवि का हृदय अन्तर्वृत्तियों के इस स्वरूप को, जिसका उदय सात्त्विक संवेदनशील क्षणों में होता है, काव्य में बाँध रखने का प्रयत्न अनायास ही करता रहता है। अतः काव्य जीवन की व्याख्या ही नहीं उसका स्वरूप भी होता है। तभी तो जॉन ड्रिङ्कवाटर ने कवि को अन्य किसी भी कोटि के महापुरुष से उच्च माना है क्योंकि केवल एक भी सच्चे गीत की सृष्टि इस तथ्य का स्वतः प्रमाण है कि कम से

कम जीवन के कुछ क्षण पूर्णरूपेण जीवनमय (अनुभूतिमय) होकर बिताये गये है।[1] 'पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया' के अनुसार गीत में अनुभूति का स्वतः उच्छ्वसित प्रवाह रहता है और वह स्वयं काव्य का एक रूप हो जाता है। गीत में मनुष्य की विभिन्न अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। वे अनुभूतियाँ कवि के कार्य-व्यापार और वातावरण के कारण अनेक रूप धारण करती हैं। हर्ष, विषाद, राग-द्वेष, संयोग-विरह आदि अनेक शाश्वत मनोवृत्तियों का चित्रण उसमे रहता है। इस प्रकार गीत के कई रूप हो जाते हैं पर उनमें आत्माभिव्यञ्जन-प्रधान रहता है। कभी-कभी कवि आत्माभिव्यञ्जन और आत्मानुभूति के लिए बाह्य विषय का आधार स्वीकार करता है। बाह्य विषय के पुट की प्रधानता के कारण उसकी अभिव्यक्ति के रूप को बाह्य-विषयात्मक कहने लगते है। सम्भवतः इसीलिए इस कल्पित आधार पर काव्य शास्त्रियों ने काव्य के दो भेद किए होंगे। १—आत्माभिव्यञ्जनात्मक और २—बाह्य-विषयात्मक। दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों के मूल तत्त्व एक होते हुए भी उनके आकार-प्रकार और सीमाओं मे भेद हो जाता है। आत्माभिव्यञ्जनात्मक को गीति-काव्य कहने लगते है और बाह्य-विषयात्मक को प्रबन्ध काव्य आदि।

प्रबन्धकार की अनुभूति पर बौद्धिक नियन्त्रण अपेक्षाकृत कुछ अधिक होता है। कथा-वस्तु, नायक, वर्णन-वैविध्य तथा आदर्श आदि के व्यवस्थित समावेश के प्रति सजगता मूल भावोन्मेष में कुछ शिथिलता तो ला ही देती है। महाकाव्य जीवन के विविध चित्रो का रंग-बिरंगा अलबम प्रस्तुत करता है और गीति अपने आप मे पूर्ण केवल एक चित्र। महाकाव्य में कथा का सूत्र जीवन के अनुभूतिमय स्थलों को जोड़कर एक बड़ा ढाँचा प्रस्तुत करता है और पाठक की दृष्टि को उन स्थलों से हटकर इधर-उधर प्रसृत होने का अवसर भी देता है। अलङ्कारो का नाद, चरित्र-चित्रण का चमत्कार और वन-उपवन, नगर आदि की शोभा भी उसके आकर्षण-केन्द्र बनते है तथा कथा-सूत्र मे यत्र-तत्र गुंथे हुए भावमय सुमन ही बीच-बीच में अपने रस द्वारा उसकी आस्वाद्यता बनाये रखते है, किन्तु गीति गम्भीर अनुभूति का मधुमय चषक है जो अपनी मादकता से बाह्य चेतना को भुलाकर अन्तस् के उल्लास में मग्न कर देता है। अतः महाकाव्य की अपेक्षा गीति-काव्य में जीवनतत्त्व (अनुभूति) की सघनता अधिक रहती है। संस्कृत के गीति-काव्य के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक दृढ़ता के साथ कही जा सकती है। कारण यह कि संस्कृत के महाकाव्यों पर परम्परागत रूढियों का अंकुश अपेक्षाकृत अधिक रहा है।[2] वास्तव में गीति-काव्य

1. It may be asked 'Do you really think that a poet, who has left no other record of himself than a page or two, can claim a greater distinction than a great man who is not a poet ?' I do think so. To have written one perfect song is to have given witness, and the only kind of witness that is finally authoritative that at least one moment of life has been perfectly expesienced. (*The Lyric*, pp. 25)

2. The genius of Sanskrit-writers in their realism of life has found a much better expression in small pictures of lyric poems than in longdrawn epics. (S N. Dasgupta, *HSL*, *Int.*, pp. XXXVIII.)

हृदय की अपनी वस्तु है जबकि प्रबन्ध काव्य में मस्तिष्क भी बहुत कुछ साझीदार हो जाता है। गीति-काव्य की तुलना किन्हीं अंशों में लघु कथा से की जा सकती है। लघु कथा की भाँति उसमें भी जीवन के एक ही पहलू का चित्र होता है। किन्तु कहानीकार को अपने चित्र को उभारने के लिए चरित्र-चित्रण के चारु वर्णों का प्रयोग करने की सुविधा है, गीतिकार के लिये यह भी नहीं। कथा का आधार उसकी अनुभूति को प्राप्त नहीं होता। गीति-काव्य एक रेखाचित्र है जिसकी अभिव्यक्ति का माध्यम कुछ गिनी-चुनी रेखाएँ हैं। गीति-चित्रकार रेखाओं का भी सुविधानुसार मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता। उसे सामञ्जस्य और सन्तुलन के लिये पूर्णतया सजग रहना पड़ता है। एक रेखा की कमी हुई कि चित्र में अधूरापन झाँकने लगा और एक रेखा अधिक हो गयी तो विकृति ने कृति को कहीं का न छोड़ा। रेखाचित्र की कला आसान नहीं है। केवल सन्तुलित संस्पर्श ही चित्र मे जीवन डाल सकते हैं। इसी प्रकार गीति-काव्य में भी अनुभूति की अभिव्यक्ति कुछ ही संकेतों से करनी पड़ती है। यही कारण है कि गीतिकाव्य में कवि की मौलिक अनुभूति तक पहुँचने में अधिक व्यवधान नहीं होते और पाठक से उसका सीधा सम्पर्क हो जाता है। इसीलिये गीति का प्रभाव अन्यविध काव्य की अपेक्षा अधिक सार्वजनीन होता है।[1] मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' की अपेक्षा वर्ड्स्वर्थ की 'सॉलिटरी रीपर' का आस्वादन अधिक व्यक्ति कर सकते हैं।[2] 'अमरुकवेरेकः श्लोकः' प्रबन्धशतायते मे भी यही तथ्य अभिव्यक्त हुआ है। गीति मे प्रसार नहीं, गहराई अधिक होती है। जीवन के हास-रुदन की जैसी स्वाभाविक और गम्भीर ध्वनि गीति से आती है वैसी किसी अन्य काव्य में नहीं।

लोक गीत

गीतिकाव्य का शिष्ट साहित्य में वही स्थान है जो जन-साहित्य में लोकगीतों का। विकासवादी विद्वानों के अनुसार तो उसका उद्भव लोकगीत ही हैं। वस्तुतः भारतीय जीवन तो प्रारम्भ से अन्त तक गीतों की ध्वनि से गूँजता रहा है। जीवन का कोई पहलू नहीं रहा होगा जिसके सम्बन्ध में गीतों का प्रचलन भारतीय समाज में न हो और शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसके कण्ठ से कभी कोई गीत न फूट निकला हो। विविध उत्सवों, पर्वों और शुद्ध मनोरञ्जन के अतिरिक्त श्रम-जन्य क्लान्ति को मेटने में भी गीतों का उपयोग जन-साधारण करता आया है। राह चलते हुए बटोही, पत्थर डालते हुए मजदूर, पुर चलाते हुए किसान, हल चलाते हुए हलवाहे और पशु चराते हुए चरवाहे गाते-गाते अपना काम करते रहते हैं और ताजगी प्राप्त करते रहते हैं। इनके गीत स्वान्तःसुखाय होते हैं, यह आवश्यक नहीं कि उन्हें

1. And lyric Being pure poetry, and most commonly found in isolation in short poems which are called lyrics, will make the widest appeal of all the forms in which poetry is found. For while sympathy with poetic energy is almost universal, sympathy with most other great energies is relatively rare. (John. Drink water, *Art & Craft of letters*, pp. 30.)

2. Do pp. 30.

सुनने के लिये कोई श्रोता भी उपस्थित रहे। पुरुषों की अपेक्षा नारियों के गीतों का संसार अधिक विस्तृत है। संस्कार, पर्व और मेले-ठेले के गीत तो उन्हीं के एकाधिकार में हैं। इसके अतिरिक्त चक्की चलाते समय, चरखा कातते समय, बच्चे को सुलाते समय तथा गृहस्थी के अन्य कार्यों के समय भी कार्य के साथ प्रायः गीत भी चलते रहते हैं, खेत निराने-गोडने और फसल काटने के अवसर के गीतों में नारी-हृदय के सुख-दुःख की मर्मस्पर्शी कहानी छिपी रहती है। मेले-ठेले के गीतों में अवसरानुसार भक्ति, नीति आदि का समावेश रहता है। फागुन के गीतों में यौवन की अल्हड़ता तथा सावन की मल्हारो में शृङ्गार के संयोग एवं वियोग पक्षों का मनोहर रूप झलकता है। लड़कियों के झूला-गीतों में भ्रातृ-प्रेम की अजस्र धारा बहती है तो लड़कों के टेसू के गीतों में बाल-सुलभ-चापल्य तथा उत्सुकता का पुट होता है। वृद्धों में निर्वेदपरक और भक्तिभावपूर्ण गीत गाये जाते हैं। इसी प्रकार गीतो मे जीवन और जीवन में गीत पूर्णतया रमे हुए है। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक की मन स्थिति का विकास एवं विशिष्ट क्षणों में जागरित भावविशेष का समावेश इन गीतों मे मिलता है।

## लोकगीत और गीतिकाव्य

गीतिकाव्य तथा लोकगीतों का मूल प्रवृत्तिनिमित्त समान ही है विषय-वैविध्य की दृष्टि से गीति-काव्य लोकगीतों की अपेक्षा सकीर्ण है क्योंकि शिष्ट साहित्य होने के कारण वह प्राकृत जीवन के कितने ही पहलुओं से बच कर चला है। उस पर कलात्मक प्रसाधनों का गहरा रंग है तथा भावना की सहजना पर वाग्वैदग्ध्य का आवरण पड़ गया है। यह आवरण अपेक्षित अवश्य है किन्तु भीने रूप में ही जिससे अनुभूति के सौन्दर्य की झाँकी दुर्लभ ही न हो जाय। प्रारम्भिक कला-गीतों मे कल्पना और वाक्चातुर्य का अनुभूति के साथ सामञ्जस्य और सन्तुलन रहा किन्तु धीरे-धीरे उनके बाह्य रूप के सँवारने और कल्पना का गहरा रग चढ़ाने पर बल दिया जाने लगा। गीतिकार ने शब्द-संगीत, अर्थ-गौरव और शब्द-शक्तियों के प्रयोग से लोक-गीत के अनगढ कलेवर को सुडौल बनाया जिससे उसमे गरिमा और महत्ता की प्रतिष्ठा तो हुई परन्तु इस सस्करण-क्रिया मे अनुभूतिगत स्वाभाविकता भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। नैसर्गिक वातावरण के स्थान मे कृत्रिमता का समावेश हुआ तथा अभिरुचि, विचार और शैली को अनुपातत अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इसी तथ्य को लक्षित कर महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने कहा है कि "सच्ची प्रतिभा-सम्पन्न जन-कविता क सामने शिष्टो की कविता सूर्य के सामने दीपक सी होती है। इसकी गवाही वे सहृदय पाठक दे सकते हैं जिन्होंने भोजपुरी के कवि बिसराम के बिरहों को सुना है अथवा राजस्थान के पँवाडे, पाबूजी का अवलोकन किया है। पाबूजी की पत्नी (सोढीजी) और उनकी भाभी जिस वक्त अपने पतियों के साथ सती होने की तैयारी करती है उस स्थल को पढ़ते समय एक-एक पंक्ति पर पाठकों को आँसू रोकना मुश्किल हो जाता है। यह सहज सुन्दर कविता है। सहज सौन्दर्य रखने वालों के लिये अलङ्कारों की कोई आवश्यकता नहीं होती—इसे यह

कविता बताती है। इससे यह भी मालूम हो जाता है कि कविता का प्राण रस है।"[1]

यह सब कुछ होते हुए भी गीतिकाव्य में रस की अधिकता रहती है। उसकी प्राणवत्ता का रहस्य यही है। रस से रहित—कोरे वैचित्र्य पर आधृत—काव्य को गीति की संज्ञा नहीं दी जा सकती हैं। यहा हम रस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में कर रहे है जिसके अन्तर्गत व्यञ्जित व्यभिचारी, भावोदय, भावशान्ति आदि भी आ जाते है क्योंकि ये भी मानव हृदय की सघन अनुभूति की ही विशिष्ट संज्ञाएँ हैं और मन को रमा लेने में समर्थ होते हैं।

## संस्कृत-काव्यशास्त्र में गीति-काव्य-विषयक उदासीनता और उसका कारण

संस्कृत-काव्यशास्त्र में पृथक् काव्याङ्ग के रूप में गीति का विवेचन नहीं हुआ है। आजकल **'गीति'** शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के **'लिरिक'** शब्द के अर्थ में हो रहा है। लिरिक का स्वरूप आज चाहे जो कुछ हो गया हो परन्तु विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे उसका मूल तत्त्व गेयता ही समझा जाता था। स्वयं 'लिरिक' शब्द, जो यूनानी शब्द 'लायर' से विकसित हुआ है, इसका प्रमाण है। लायर एक प्रकार का वाद्य होता था। प्रारम्भ में इस बाजे पर एकाकी व्यक्ति द्वारा गाये जाने वाले गीत ही लिरिक कहलाते थे। अंग्रेजी लिरिक काव्य का उद्भव इन्ही गीतों से हुआ। भारतीय साहित्य एवं संस्कृति मे तो गीत का महत्त्व और भी अधिक है। प्राचीन काल में ही गीत शैली का विकास दो विभिन्न दिशाओं में हो चुका था जिसके फल-स्वरूप काव्य तथा संगीत शास्त्र की प्रतिष्ठा हुई। गेयता का तत्त्व संगीतशास्त्र तथा काव्य मे अलग-अलग ढंग से विकसित हुआ। काव्य के क्षेत्र मे शास्त्रीय संगीत को तो प्रश्रय नहीं मिला किन्तु संगीत-रहित काव्य की कल्पना भी संस्कृत के साहित्यकार नहीं कर सकते थे। अत: काव्योचित संगीत का विकास छन्द:शास्त्र के रूप में संगीत-शास्त्र से कुछ विभिन्नता के साथ हुआ। संगीतशास्त्र के अनुसार संगीत 'मार्ग' और 'देशी' भेद से दो प्रकार का होता है। 'मार्ग' संगीत ही शास्त्रीय संगीत है। अन्य अनेक शास्त्रों और विद्याओं की भाँति इसका सम्बन्ध भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि अलौकिक व्यक्तियों से जोडा गया है तथा अन्यान्य शास्त्रों के उद्देश्य के सदृश इस का उद्देश्य भी मुक्ति की प्राप्ति है। 'देशी' संगीत प्रादेशिक रुचि आदि के अनुरूप अनेक प्रकार का होता है जिसका उद्देश्य जन-मनोरञ्जन-मात्र है।[2] गीत, नृत्य और

१. अवन्तिका अंक १, १९५४, पृष्ठ ७६।

२. गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।
मार्गो देशीति तद्द्विधा, तत्र मार्गः स उच्यते॥
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः।
देवस्य पुरतः शंभोर्नियताभ्युदयप्रदः॥
देशे देशे जनानां यद् रुच्या हृदयरञ्जकम्।
गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते॥ संगीतरत्नाकर, पृष्ठ ६

वाद्य के समवेत रूप को ही संगीत कहा गया है और संगीत के इन तीन तत्त्वों में से गीत की बड़ी भारी महिमा बतायी गयी है। वह पशु-पक्षियों से लेकर शिव तक पर अपना प्रभाव डालता है[1]। सुर, असुर, यक्ष, गन्धर्व आदि सब गीत में रत हैं। वह अभिमत फल प्रदान करने वाला वशीकरण है। संगीतरत्नाकर में गीत के सर्वव्यापी प्रभाव एवं महत्त्व का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः।
गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशं गतः॥
सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणासक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः॥
अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्यङ्किकागतः।
रुदन् गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥
वनेचरस्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः।
लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते त्यजति जीवितम्।
तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैकसाधनम्॥[2]

अर्थात् सर्वज्ञ देव पार्वतीपति (शिव) गीत से प्रसन्न होते है। गोपीपति कृष्ण भी वंशी की ध्वनि के वश में थे। ब्रह्मा सामगीति मे रत हैं और सरस्वती वीणा में आसक्त। फिर यक्ष, गन्धर्व, देव, दानव और मानव का तो कहना ही क्या ? विषयों के आस्वाद से अपरिचित सदा खाट पर पड़ा रहने वाला शिशु भी गीत का अमृत पान कर रोता-रोता प्रसन्न हो उठता है। आश्चर्य है कि गीत पर मुग्ध होकर वन मे विचरण करने वाला तृणभोजी मृगशिशु भी प्राण तक दे देता है।

---

तथा— मार्गदेशीविभागेन संगीत द्विविधं मतम्।
द्रुहिणेन यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरतेन च॥
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तिदम्।
तत्तद्देशस्थया रीत्या यत्स्याल्लोकानुरञ्जनम॥
देशे देशे तु संगीतं तद्देशीत्यभिधीयते। संगीतदर्पण ३—६

१. गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परं पदम्।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते॥
गीतेन हरिणा रङ्कं प्राप्नुवन्त्यपि पक्षिणः।
वनादायान्ति फणिनः शिशवो न रुदन्ति च॥
कृतिचमत्कृतये किमतः परं फणिवरोऽश्वतरो बत पन्चमः।
अपि मृतां यदवाप मदालसां मधुरगीतवशीकृतशङ्करः॥
परमानन्दविवर्धनमभिमतफलदं वशीकरणम्।
सकलजनचित्तहरणं विमुक्तिबीजं परं गीतम॥ (संगीतदामोदर)

२. संगीतरत्नाकर (आनन्दाश्रम), पृष्ठ ६

ऐसे गीत की महिमा का गान कौन कर सकता है ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का यही एक अद्वितीय साधन है।' सामगीतिरत से स्पष्ट है कि 'गीति' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से 'गीत'अथवा 'गान' अर्थ में किया गया है। शब्द कल्पद्रुम कोश में भी गीति का अर्थ गान ही दिया है।[1] वहीं पर गीत का लक्षण तथा भेद बताते हुए निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया गया है—

> धातुमातुसमायुक्तं गीतमित्युच्यते बुधैः।
> तत्र नादात्मको धातुर्मातुरक्षरसञ्चयः।
> गीतं च द्विविधं प्रोक्तं यन्त्रगात्रविभागतः।
> यन्त्रं स्याद् वेणुवीणादि गात्रं तु मुखजं स्मृतम्।
> (अपि च—) निबद्धमनिबद्धं च गीतं द्विविधमुच्यते।
> अनिबद्धं भवेद् गीतं वर्णादिनियमं विना।
> यद्वा गमकधातुभिरनिबद्धं बिना कृतम्।
> निबद्धं च भवेद् गीतं तालमानरसाञ्चितम्।
> छन्दोगमकधातुभिर्वर्णादिनियमैः कृतम्।[2]

"आचार्यों ने गीत को धातु तथा मातु तत्वों से युक्त कहा है। धातु नादतत्व और मातु अक्षरसञ्चय का नाम है। 'यन्त्र' और 'गात्र' भेद से गीत दो प्रकार का होता है। वेणु, वीणा आदि यन्त्र है और मुख से उत्पन्न गीत गात्र। इसके अतिरिक्त गीत के दो अन्य भेद है—निबद्ध और अनिबद्ध। निबद्ध गीत, ताल-मान तथा रस पर आश्रित होता है और अनिबद्ध छन्द, अक्षर, ताल आदि के नियमों से मुक्त।"

आधुनिक शब्दावली मे यन्त्र को इंस्ट्रूमैण्टल तथा गात्र को वोकल कहा जा सकता है। इसी प्रकार से निबद्ध को शास्त्रीय सगीत और अनिबद्ध को सुगम संगीत कह सकते है।

निबद्ध गीत के लक्षण में 'तालमान' 'रसाञ्चित' और 'छन्दोगमक वर्णादि-नियम' ध्यान देने योग्य है। 'तालमान' के अतिरिक्त अन्य दो विशेषताएँ संस्कृत काव्य में भी समान रूप से दृगोचर होती है। रस उसका जीवन है तो वर्णादिनियमों के आधार पर निबद्ध छन्द उसका परिधान। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि संस्कृत की किसी कविता को 'तालमान' के अनुसार गाया जा सके तो वह गीत की संज्ञा पा सकती है और ऐसे उदाहरण मिलते भी हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना में 'तवास्मिगीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः' कहकर सूत्रधार ने जिस गीत की प्रशंसा की है वह यह है—

> ईसीसिचुम्बिआइँ भमरेहिँ सुउमारकेसरसिहाइं।
> ओदंसयन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं।

---

१. गीति, स्त्री० (गै गाने+क्तिन्), शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ ३३२

२. शब्द कल्पद्रम कोश, पृष्ठ ३२९-३३०।

इसी प्रकार पञ्चम अंक के अन्तर्गत यह प्रसङ्ग भी उल्लेखनीय है:—

**विदूषक**—(कर्णं दत्त्वा) **भो वयस्य ! संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि । कलविशुद्धायाः गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते । जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति ।**

**राजा**—**तूष्णीं भव यावदाकर्णयामि ।** (आकाशे गीयते)

**अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।**
**कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर ! विस्मृतोऽस्येनां कथम् ।**

**राजा**—अहो रागवाहिणी गीतिः ।

प्रथम उदाहरण में जैसी रचना को **'गीत'** बताया गया है ठीक वैसी ही रचना को दूसरे उद्धरण मे **'गीति'** कहा गया है । **'राग'** का सम्बन्ध भी दोनों से ही बताया गया है । दूसरे उद्धरण में **स्वरसंयोग** का भी उल्लेख है, किन्तु स्वरसयोग राग से व्यतिरिक्त वस्तु नही है । ये दोनों ही रचनाएँ यदि इन विशिष्ट प्रसङ्गों से अलग रख कर देखी जायँ तो इन्हें साधारणतया कविता ही कहा जायगा । अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत में कवियो एवं आचार्यों ने काव्य, गीत और गीति मे कोई विशेष भेद नही माना है । नाटकों मे 'गीत' के नाम पर भावमयी छन्दोबद्ध रचनाएँ ही समाविष्ट की गयी हैं । छन्दः शास्त्र मे **गीति आर्या जाति** का एक विशेष प्रकार का मात्रिक छन्द स्वीकार किया गया है जो **गीति उपगीति, आर्यागीति** और **उद्गीति** भेद से चार प्रकार का होता है । आर्या का उत्तरार्ध भी जब पूर्वार्ध के सदृश हो तो गीति कहलाता है, पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध के व्यत्यय से उद्गीति, आर्या के अन्त मे एक गुरु और एक लघु बढ़ा देने से आर्यागीति और आर्या के उत्तरार्ध के ही समान पूर्वार्ध भी होने पर उपगीति छन्द होता है ।

नाट्यशास्त्र में भी **गीति** शब्द एक विशेष प्रकार के गान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । गान्धर्व के **स्वरात्मक, तालात्मक** और **लयात्मक** भेदों[2] के अन्तर्गत तालात्मक गान्धर्व की इक्कीस विधियों में से एक **गीति** भी होती है जिसके अनेक भेद-प्रभेद माने गए हैं ।[3] गेय रचना के बाह्य रूप का गठन ही इस भेद-विभाग का कारण

१. वृत्तरत्नाकर, अध्याय २, गीतिप्रकरण ।
२. नाट्यशास्त्र, २८,१२-१६
३. प्रथमा मागधी ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी ।
सम्भाविता तृतीया च चतुर्थी पृथुला स्मृता । (नाट्यशास्त्र २९, ७७)
भिन्न-वृत्ति-प्रगीता या सा गीतिर्मागधी मता ।
अर्धकालनिवृत्ता च विज्ञेया त्वर्धमागधी ।
सम्भाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमन्विता ।
लघ्वक्षरकृता नित्या पृथुला संप्रकीर्तिता ।
एतास्तु गीतयो ज्ञेया ध्रुवायोगं विनैव हि ।
गान्धर्व एव योज्यास्तु नित्यं गानप्रयोक्तृभिः । (नाट्यशास्त्र १९, ७८-८०)

प्रतीत होता है यह 'सम्भाविता' गीति के गुर्वक्षरसम्मित तथा 'पृथुला' के लघ्वक्षरकृत होने से ही प्रकट है।

तथाकथित वैयक्तिक अनुभूति को आधार मानकर काव्य का वर्गीकरण भारतीय मनीषियों को समीचीन नहीं जान पड़ा। वस्तुतः इस प्रकार का विभाजन भारतीय साहित्य में ही नहीं विश्व साहित्य में भी अपेक्षाकृत आधुनिक है। अंग्रेजी के विश्वकोष (Encyclopaedia Britannica) से ज्ञात होता है कि गीति के रूपमें काव्य का स्वतन्त्र प्रकार विलियम वेब नामक विद्वान् ने सन् १५८६ ई० में किया।[1] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि काव्य विभाग के रूप में 'गीति' का नाम यूरोप में उस समय सुन पड़ा था जब संस्कृत में काव्यशास्त्रीय विवेचन चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर प्रायः रुक सा गया था और जब अंग्रेजी साहित्य के साथ यह भारत में आया तब तक संस्कृत-काव्य का सर्जन भी प्रायः बन्द सा ही हो चला था। यदि ऐसा न भी हुआ होता तो भी संस्कृत के आचार्य गीति की आधुनिक परिभाषा को स्वीकार करते, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे वैयक्तिकता के स्थान में साधारणीकरण के ही पक्षपाती रहे हैं। भेद में अभेद तथा समष्टि में व्यष्टि का दर्शन भारतीय दर्शन और साहित्य की विशेषता रही है।

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि संस्कृत साहित्य में आधुनिक अर्थ में 'गीतिकाव्य' कही जा सकने वाली रचनाओं का, जिनमे आत्मनिष्ठता, गेयता और स्वतः स्फुरित सहज अनुभूति हों, सर्वथा अभाव है। ऋग्वेद मे ही इस प्रकार की कुछ रचनाएँ खोजी जा सकती है और स्तोत्रसाहित्य मे तो कवि की आत्मनिवेदन-परक उक्तियों के सुन्दर उदाहरण अनेकत्र भरे पडे है। किन्तु संस्कृत-गीति-काव्य को आधुनिक गीति की कसौटी पर कसने का अर्थ है उसके व्यापक क्षेत्र को सकीर्ण बना देना, और इससे भी बडी विषमता यह है कि ऐसा करना मनोवैज्ञानिक भी नही है। केवल पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को स्वीकार कर संस्कृत साहित्य के किसी भी अङ्ग की समीक्षा उपहासास्पद है। संस्कृत काव्यशास्त्र मे ध्वनिपरक काव्य को उत्तम माना गया है और उसमें भी असलक्ष्यक्रम ध्वनिरूप रस को अधिक महत्त्व दिया गया है। अतः विलायती आत्मनिष्ठता के स्थान में हमे रसनिर्भरता को ही प्रमुख तत्त्व मान कर चलना होगा। स्वय पाश्चात्य विद्वानों ने भी संस्कृत गीतिकाव्य का अध्ययन इसी दृष्टि से करना उचित समझा है, अन्यथा अमरुक-शतक जैसी उच्च कोटि की रचना को भी वे उसमें स्थान न दे पाते। अतः संस्कृत गीतिकाव्य के अध्ययन के लिये इसी व्यापक दृष्टि को अपनाना आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है। इसी दृष्टि से देखकर ग्रियर्सन इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भारतीय कविता का विकसित कमल उसका गीतिकाव्य है। मुक्तक छन्दों में भारतीय

1. The earliest English critic who enters into a discussion of the law of prosody, William Webe, lays it down in 1586 that in verse the most usual kinds are four, the heroic, elegiac, iambic and lyric (*Encyclopaedia Britannica*, vol. 11, pp. 533.)

गीतिकाव्य पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। ये छोटे-छोटे पद्य प्रवीण हाथों द्वारा दो-चार रेखाओं के माध्यम से ही खिंचे हुए चित्र हैं जो कला एवं भाव की दृष्टि से पूर्ण तथा एक कमनीय, लचीली और प्राञ्जल भाषा से रञ्जित हैं। इन छन्दों ने भारत और यूरोप के प्रथम संपर्क में ही पाश्चात्य प्रशंसकों को आकृष्ट कर लिया था।"[1]

## विषय-विवेचन की आवश्यकता और उपयोगिता

संस्कृत साहित्य की जिस विशाल रत्नराशि की पाश्चात्य विद्वानों ने भी हार्दिक प्रशंसा की है, उस पर आज तक विशिष्ट प्रकाश नहीं डाला गया। गीति की आधुनिक परिभाषा के साथ भारतीय काव्य-शास्त्रियों की मान्यताओं का समन्वय कर संस्कृत के गेय काव्य का परीक्षण करना आवश्यक है क्योंकि—(१) इससे हमारे प्राचीन साहित्य के मूल मे निहित विकास-प्रवृत्तियों का पर्यवेक्षण हो सकेगा। इतना ही नहीं, कुछ अंशों मे यह अध्ययन अनिवार्य भी है क्योंकि इसके द्वारा अर्वाचीन युग मे साहित्य के विभिन्न अंगों के आविर्भाव के दावे की भी एक अंश तक परीक्षा हो जायेगी। (२) मध्यकालीन हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के गीति-साहित्य की मूल परम्पराओं को समझने में यह अध्ययन बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। कारण यह है कि इन भाषाओं के गीतिसाहित्य का विकास संस्कृत गीति-साहित्य की पृष्ठभूमि पर ही हुआ है। संस्कृत तथा आधुनिक भाषाओं के साहित्य के इस अङ्ग मे परस्पर भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से जितना अधिक साम्य है उतना अन्य अङ्गो में नहीं। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन स्वयं शोध का एक विषय है और प्रस्तुत अध्ययन उसकी पृष्ठभूमि का कार्य करेगा। इस दृष्टि से इसका उद्देश्य और उपयोगिता व्यापक है। (३) संस्कृत साहित्य के विभिन्न इतिहास-ग्रन्थों, कुछ एक भूमिकाओं और एक-आध छुट-पुट-लेख मे इस विषय पर जो चर्चा की गयी है वह एकाङ्गी और अपर्याप्त है। इसलिये एक विस्तृत तथा स्वतन्त्र अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। (४) संस्कृत गीतिसाहित्य पर अन्य भाषाओ की साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रभाव पर भी इससे कुछ प्रकाश पड़ सकेगा।

## उपलब्ध सामग्री

साधारणतया गीतिविषयक सामग्री दो रूपों मे प्राप्त होती है। एक तो वे मूल रचनाएँ जिनमें गीतिकाव्य के लक्षण घटित होते है और दूसरी वे रचनाएँ जिनमें मूल गीतिकाव्य की आलोचना की गयी है। गीतिकाव्य की सैद्धान्तिक आलोचना

1. The lotus bloom of Indian verse is its lyric poetry. It is however in its detached verses—Sonnets if I may use the expression—that the genius of Indian lyric poetry has reached its full perfection. These brief quatrains miniatures, each portraying by means of a few lines drawn by a master hand, little pictures complete alike in its nature and in its art coloured with all the richness which a copious and flexible language could give, attracted the attention of Western admirers at an early stage of the intercourse between Europe and India.

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने आवश्यक ही नहीं समझी, यह पीछे कहा जा चुका है।

गीतिकाव्य के तत्त्वों की दृष्टि से यदि संस्कृत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद का ही अध्ययन किया जाये तो भी अध्येता को निराश नहीं होना पड़ेगा। आत्मानुभूति जैसा तत्त्व भी ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों में देखा जा सकता है। सामवेद तो गेयता की दृष्टि से प्रसिद्ध है ही। पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह निष्कर्ष निकाला है कि सामवेद के समय तक संगीत-शास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था। उपनिषदों के अध्ययन से यह अवश्य प्रतीत होता है कि वातावरण दार्शनिक चिन्तन से ओत-प्रोत था। अतः भाव-प्रधान रचनाओं के लिये उचित अवसर न मिला होगा। इस युग की ऐसी रचनाएँ उपलब्ध भी नहीं है; किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी उपनिषदों से मानव के अन्तर्मुख होने का प्रमाण तो मिलता ही है जो स्वयं गीतिकाव्य के—और सामान्य रूप से काव्यमात्र के— अन्त प्रधानत्व गुण के उद्‌गम का संकेत करता है। अतः वैदिक साहित्य का समीक्षण भी गीतिकाव्य के तत्त्वों के सोपान को खोजने के लिये परम आवश्यक है।

वाल्मीकि रामायण तो निर्विवाद रूप से आदिकाव्य के रूप में स्वीकृत हो ही चुकी है और यह प्रसिद्ध है कि महर्षि वाल्मीकि का उद्दाम शोक ही श्लोकत्व को प्राप्त होकर काव्य-जगत् का आदिपुरुष प्रमाणित हुआ। अतः उनकी रचना में प्रगाढानुभूति से भरी हुई उक्तियों का अभाव नहीं है। उसमें अनेक स्थल रसपेशल और आकर्षक हैं। महाभारत के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की धारणा और कसौटी चाहे कुछ भी हो किन्तु है वह इतिहासग्रन्थ ही। इतिहास होकर भी वह भावात्मक गेय स्थलों से शून्य नहीं हैं। द्रौपदी-स्वयंवर के पश्चात् द्रुपद का अन्तर्द्वन्द्व इस बात का प्रमाण है।

बौद्धों का दुःखवाद, जो थेरियों की गाथाओं में बड़ी ही भावात्मकता के साथ अभिव्यक्त हुआ है, गीतिकाव्य में शान्तरस की धारा को प्रवाहित करता है। ये निर्वेदपरक उक्तियाँ इतनी मार्मिक है कि विण्टरनिट्ज ने इन्हें ऋग्वेद तथा कालिदास के मध्य का सर्वोत्कृष्ट गीतिकाव्य माना है। यद्यपि दुःखवाद का सिद्धान्त ललित-कलाओं के विकास में शिथिलता का ही अग्रदूत कहा जा सकता है तथापि विरक्ति विषाद और करुणा के उत्कर्ष के साथ वैयक्तिकता की भावना ने गीतिकाव्य के विकास में एक नया अध्याय जोड़ा जो बौद्ध संघारामों के इस युग का एक अन्य विरोधाभास है। इसलिये थेरीगाथाओं का अध्ययन भी बड़ा आवश्यक है।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, रूपक साहित्य में नाट्य-शास्त्रीय दृष्टि से गीति-योजना एक अन्य ही वस्तु है किन्तु स्थल-स्थल पर गीत्यात्मक सरस मुक्तक भी भरे पड़े हैं जिनका अपना महत्त्व है। ये श्लोक स्वतःपूर्ण तथा रस-सृष्टि में समर्थ है। नाटकों में ही नहीं, प्रबन्धकाव्यों में भी गीति-वातावरण पाया जाता है। बहुत से स्थलों पर वस्तु केवल पृष्ठभूमि का कार्य करती है और भावना का एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो जाता है। उदाहरणार्थ कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग में इतिवृत्त

अनुभूति की सघनता में खो-सा गया है। डा० एस० एन० दासगुप्त का कथन है कि "संस्कृत महाकाव्य जिस श्लोक फॉर्म में लिखे गये हैं वह सम्पूर्ण वस्तु को खण्डचित्रों के रूप में परिणत कर देती है जो अपने आप में पूर्ण होते हैं और स्वतन्त्र सत्ता रख सकते हैं इसके कारण प्रायः सामूहिक प्रभाव का अवरोध हो जाता है; कथानक गौण पड़ जाता है और पाठक का ध्यान इन छोटे-छोटे चित्रों में अभिव्यक्त भावप्रवाह मे लीन हो जाता है।"[1] अतः इस अध्ययन में महाकाव्यों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मेघदूत सर्वप्रथम व्यवस्थित रचना है जिसे गीतिकाव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। कालिदास से लेकर आज तक भी गीतिकाव्य-रचना का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है जिसमे कालगति के साथ अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। इस प्रकार संस्कृत-गीतिकाव्य की एक सुदीर्घ परम्परा है किन्तु हमारा अध्ययन जयदेव तक ही सीमित है जिनका गीतगोविन्द गीतिकाव्य के विकास मे अन्तिम महत्त्वपूर्ण कडी है। उसके बाद की रचनाएँ तो कोरे अनुकरण की उपज हैं। अतः इस अवधि मे प्रणीत गीतिकाव्य की प्रतिनिधि रचनाएँ ही हमारे अध्ययन का विषय है। कालिदास का मेघदूत, घटंकर्पर, भर्तृहरि के शतक, अमरुक शतक, चौरपञ्चाशिका, आर्यासप्तशती और पवनदूत आदि रचनाओं के अतिरिक्त ब्राह्मण जैन और बौद्धधर्मावलम्बियों के सैकड़ो स्तोत्र इसकी परिधि में आते है।

सस्कृत गीतिकाव्य को लेकर व्यवस्थित निर्णयात्मक आलोचना प्रायः नही लिखी गयी। सस्कृत साहित्य के विभिन्न इतिहासों मे, जो समय-समय पर भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानो द्वारा लिखे जाते रहे हैं, इस दृष्टि से कुछ विचार किया गया है किन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म है जिससे गीतिकाव्य के विकास का पूरा स्वरूप और उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों का उदघाटन नही हो पाता है। इन इतिहास ग्रन्थों मे केवल साहित्यिक पृष्ठभूमि को ही लक्ष्य मे रखा गया है। सामाजिक और सामयिक जीवन विषयक दृष्टिकोण पर, जो युग की प्रवृत्तियों के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी हुआ करता है, अधिक प्रकाश नही डाला गया है। इसके अतिरिक्त कुछ पुस्तकों की भूमिकाओ के रूप मे भी बिखरी हुई सामग्री मिलती है जिसका मूल्य बहुत अधिक नही है। प्रस्तुत अध्ययन में उक्त सभी प्रकार की सामग्री का यथोचित उपयोग किया गया है।

---

1. The Slok form in which the Sanskrit kavyas are generally written, renders the whole representation into little fragmentary pictures—which stand independently by themselves and this often prevents the developments of a joint effect as a unitary hole. The story or the plot becomes of a secondary interest and the main attention of the reader is drawn to the poetical effussion of the writer as expressed in little pictures.

(*In it. HSL, XXI*)

२

• • •

# गीति-काव्य की सामान्य विशेषताएँ

\+ + +

## भारतीय मत

पिछले अध्याय मे यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि सस्कृत काव्यशास्त्र मे 'गीति' कोई स्वतन्त्र काव्य भेद नही माना गया है। अत यहाँ सामान्य रूप से सस्कृत के काव्यशास्त्रियो द्वारा लक्षित काव्य की विशेषताओ पर ही दृष्टि डालनी पडेगी। विभिन्न सम्प्रदायो के वाद-विवाद के पश्चात् सस्कृत साहित्य म रस की महत्ता स्वीकृत हुई और उसी को काव्य का जीवन माना जाने लगा। यद्यपि रस-रहित से केवल वैचित्र्यप्रधान रचना को काव्य की सज्ञा से वञ्चित नही किया गया तथापि उसे अपेक्षाकृत नीचा स्थान मिला और वैचित्र्य की पराकाष्ठा होन पर तो **'अधम'** विशेषण से विभूषित किया गया। ध्वनि-प्रधान काव्य उत्तम समझा गया और उसमे भी असलक्ष्यक्रम ध्वनि का विशिष्ट स्थान मिला तथा रसानुभूति पर बल दिया गया जिस हम किसी भावविशेष की सघन, अबाध और एकतान अनुभूति कह सकते है। कोमल भावो को उदबुद्ध करने वाली रचनाओ के प्रति अधिक रुचि प्रकट की जाने लगी। प्रारम्भ मे तो रस की स्थिति नाटक मे ही समझी गयी किन्तु आगे चलकर अनुभव के आधार पर उसे प्रबन्ध काव्य मे और उसके पश्चात् मुक्तक मे भी सम्भव मान लिया गया। प्रबन्ध काव्या म प्रसङ्गानुसार यत्र-तत्र अनेक प्रकार के भावो की अभिव्यक्ति का अवसर होता है किन्तु मुक्तको मे अथवा लघुकलेवर रचनाओ मे केवल एक भाव की ही अभिव्यक्ति सम्भव है या यूँ कहिये कि क्षणिक भावावेश मे किसी इतिवृत्त अथवा वस्तु का आश्रय लिये बिना केवल एक ही भावना की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। ऐसी रचनाएँ सस्कृत मे हुई अवश्य पर उनका अलग से नामकरण नही किया गया। इनम कवियो ने इच्छानुसार अपने अथवा जग के अनुभूत भाव व्यक्त किये है।

इन रचनाओ की एक प्रमुख विशेषता यह है कि ये सभी गेय हैं। यो तो सस्कृत का प्रत्येक छन्द गेय है और छन्दोहीन कविता सस्कृत मे आज तक लिखी ही नही गयी किन्तु इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत आदि इतिवृत्तात्मक ग्रन्थ प्राय अनुष्टुप् छन्द में ही लिखे गये हैं जो अपेक्षाकृत कुछ कम गेय हैं अथवा सहज गेय नही हैं। महाकाव्यो की रचना तो गेय छन्दो मे ही हुई। रस परिपाक का भी उसमे

पर्याप्त ध्यान रखा गया किन्तु साधारण रसपेशल मुक्तक से महाकाव्य में एक मौलिक भेद यह रहा कि कथानक एवं वर्णन-वैविध्य के आग्रह के कारण उसमें वस्तुनिष्ठता का स्वर ही ऊँचा रहा। अतः पुराण, महाकाव्य आदि इतिवृत्त पर आधृत रचनाओं से अलग रसात्मकता संक्षिप्तता और गेयता आदि गुणों की प्रधानता रखने वाली लघु रचनाओं को गीतिकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

## पाश्चात्य मत

पाश्चात्य विद्वानों ने **आत्मपरक** (Subjective) तथा **वस्तुपरक** (Objective) भेद से काव्य के दो प्रकार माने हैं और पूर्ण तथा सापेक्ष भेद से दो प्रकार की कवि-दृष्टि मानी है। महाकाव्य अथवा नाटक की रचना के लिये प्रथम तथा विशुद्ध गीति की रचना के लिये द्वितीय प्रकार की दृष्टि (Vision) अपेक्षित है। सापेक्ष अथवा संकीर्ण दृष्टि वाला कवि अपने व्यक्तित्व से अभिभूत रहता है। अतः स्वतन्त्र चरित्रों (पात्रों) की अवतारणा मे असमर्थ होता है। उसके पात्र उसी के व्यक्तित्व का भार ढोते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह प्रकारान्तर से अपना ही चित्रण करता है। निरपेक्ष अथवा पूर्ण दृष्टि वाला कवि अपने से भिन्न पात्र की सृष्टि करता है जिसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र होता है।[1] आलङ्कारिक शैली के साथ ब्रिटेन के विश्वकोश में लिखा है कि यों तो सभी कवि गायक होते है किन्तु उन सबको तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :—

१—गीतिकार, जो अपने अकेले स्वर में केवल एक ही तान छेड़ सकता है।

२—महाकाव्यकार तथा अधिकाश आख्यानकार कवि, जिनमे से प्रत्येक अपनी एक ध्वनि से कई स्वरों मे गा सकता है।

३—सच्चा नाटककार जो प्रत्येक स्वर में गा सकता है।

गीति-प्रवृत्ति का मूल आधार केवल आत्मवाद है। अनेक गीतिकारो मे तो सापेक्ष दृष्टि (Relative vision) का भी उन्नत रूप नहीं दिखाई पडता। वे अपने ही भावों में लीन रहते हैं; अपने चारो ओर फैले हुए जीवन से उनका कोई गहरा लगाव नहीं होता और यह कहा जा सकता है कि इस कोटि के कवि के लिये उसका अन्तःकरण एक साम्राज्य है तथा जितना छोटा वह कवि होगा उतना ही बड़ा उसके लिये यह साम्राज्य होगा। उसका गीत बड़ा ही मधुर, करुण और सुन्दर होता है किन्तु वह होता है उसके ही आन्तरिक जगत् से सम्बद्ध। उसी के सुख-दुःख, आशा-निराशा, इच्छा, भय आदि से वह ओत-प्रोत रहता है।

1. Between relative and the absolute vision, the difference seems to be this the former only enables the poet, even in its very highest exercise, to make his own individuality, or else humanity as represented by his own individuality, live in the imagined situation, the latter enables him in its highest exercise to make special individual characters other than the poet's own life in the imagined situation. (*Encyclopaedia Britannica*, vol. 18, pp. 107)

दूसरी कोटि के कवि आत्मवादी तो होते हैं फिर भी उनकी दृष्टि कुछ व्यापक होती है, किन्तु दूरदर्शी होते हुए भी वे सूक्ष्मदर्शी नहीं होते और जाति को देखकर भी व्यक्ति को नहीं देख पाते। सामान्य से आगे विशेष तक उनकी दृष्टि नहीं पहुँच पाती। वे वर्गगत (Typical) चरित्रों को जन्म दे सकते है व्यक्तिगत (Individual) चरित्रों की सृष्टि नही कर सकते। अपने अह से ऊपर ये भी नही उठते जिसके कारण कल्पना-प्रसूत वर्ण्य परिस्थिति में अपने आपको ही केन्द्रीय तत्त्व समझ लेते हैं। फल-स्वरूप उनकी रचनाएँ भी उन्हीं के चारों ओर घूमती रहती है। इस ढँग का कवि समूची मानव जाति का प्रतिनिधित्व करता है और किसी भी परिस्थिति का चित्रण करते समय स्वयं को उस परिस्थिति में डाल देता है तथा वही करता है, वही कहता है, वही विचारता है और वही अनुभव करता है जो उस स्थिति में पड़ा हुआ कोई भी सामान्य व्यक्ति किया करता है।

तीसरी कोटि का कवि आत्मवाद की परिधि से बाहर होता है। '**एकोऽहं बहु स्याम्**' की भावना उसकी कला को प्रेरणा देती है और वह, वर्ग की नही, व्यक्ति की सृष्टि करता है। उसकी सृष्टि अलौकिक और स्वतः पूर्ण होती है—इतनी पूर्ण कि उसके अन्दर कोई दैवी शक्ति प्रविष्ट होकर पर्थ-प्रदर्शन करती हुई सी प्रतीत होती। वह सजीव पात्रों का स्रष्टा होता है जो उसकी कल्पना से प्रसूत होकर भी उसके व्यक्तित्व से दबे हुए नहीं होते। वे अपने पृथक् व्यक्तित्व के कारण सामान्य जन-सम्मर्द में भी दूर से ही पहचाने जा सकते हैं।[1] ऐसे ही कवियों को सेमुएल जॉनसन ने विशिष्ट-शक्ति-सम्पन्न तथा कुशलतम प्रतिभाशाली कहा है।[2]

इस सम्बन्ध में जॉन ड्रिङ्कवाटर का मत भी उल्लेखनीय है। उन्होंने मानव-प्रवित का विश्लेषण करते हुए मानसिक शक्ति के चार प्रमुख भेद माने है :—

१—किसी प्रस्तुत सामग्री पर पूर्ण बौद्धिक नियन्त्रण करने की शक्ति (Profound intellectual control of material)।

२—वस्तु के प्रति पूर्ण भावात्मक चेतना (Profound emotional sensitiveness to material)।

३—नैतिकता (Energy of morality)।

४—कवित्व शक्ति (Poetic energy)।

प्रथम प्रकार की शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति बिखरे हुए तत्त्वों को एकत्र कर उन्हें एक सन्तुलित सुडौल रूप देने में दक्ष होता है। यह गुण बहुत से लोगों में होता है। सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक नेताओं, शासकों और प्रबन्धकों में यह पर्याप्त उन्नत अवस्था में मिलता है जिससे वे संगठन-कार्य में विशेष रूप से सफल होते हैं। किसी वस्तु के सौन्दर्य की सत्ता में अथवा किसी विशिष्ट वातावरण में आत्म-

1. *Encyclopaedia Britannica*, article on poetry.

2. There is the highly specialized energy that delights in the objective perception of differentiatious character, the chief energy of the deftest wit.

विस्मृत होकर अनुभूतिमय बन जाना अपेक्षाकृत कुछ कम लोगों में देखा जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने ऐसे परिष्कृत-हृदय व्यक्ति को सहृदय की संज्ञा दी है। यह शक्ति जहाँ आत्म-तुष्टि का साधन बनती है वहाँ परोपकार की ओर भी उन्मुख करती है। नैतिकता का गुण और भी कम लोगों में पाया जाता है और कवित्वशक्ति तो विरल व्यक्तियों में ही होती है। जॉन ड्रिङ्कवाटर ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है और इसे प्रशस्त (सर्वश्रेष्ठ) से भी अधिक बताया है।[1] विशुद्ध कवित्वशक्ति ही गीतिकाव्य की जन्मदात्री है।

इन शक्तियों में से किसी एक का भी उत्कर्ष मनुष्य की ख्याति के लिये पर्याप्त है। एकाधिक के योग का तो कहना ही क्या ! कवित्वशक्ति के साथ जिस कवि मे जितना ही अन्य शक्ति या शक्तियों का योग होगा उतना ही वह महान् होगा। यह एक निश्चित बात है कि महाकवि मे कवि तो प्रायः ऐसा ही होता है जैसा अन्य कवियों मे किन्तु उसमे महामानव अवश्य विद्यमान रहता है। महाकवि कवि और महा मानव का समन्वित रूप होता है। किन्तु केवल कवित्वशक्ति भी अपने आप में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी के कारण अनुभूति की सघनता उपयुक्ततम शब्दो मे फूट निकलती है जिनको परिवर्तित करने का अर्थ होता है उसके सौन्दर्य का हनन। किसी भी रचना को काव्य कहने और न कहने का निर्णय उसमे इस शक्ति के प्रतिफलन और अभाव पर ही आश्रित है। जॉन ड्रिङ्कवाटर ने लिखा है कि 'जब हम गीति की बात कहते हैं तो हमारा उद्देश्य कवित्व शक्ति के इसी गुण से होता है और हम समझते हैं कि विशुद्ध कवित्व शक्ति की अभिव्यक्ति तथा गीतिकाव्य एक ही वस्तु है।'[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि विश्वकोष मे गीतिकार को महत्त्व की दृष्टि से नही देखा गया है, महाकाव्य के महत्त्व को स्वीकार किया गया है और नाटककार को सब से अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, परन्तु जान ड्रिकवाटर ने गीतिकार के विषय मे अधिक निष्पक्षता से विचार किया है। काव्यमात्र में निहित मूल तत्त्व के आधार पर उसने भेद मे अभेद का जो दर्शन किया है वह भारतीय दृष्टिकोण के निकट होने के कारण ही स्पृहणीय नहीं है अपितु तर्कसम्मत और वैज्ञानिक होने के कारण उपादेय भी है। उसके अनुसार गीति काव्य के संक्षिप्त होने का कारण यही है कि भाव का अतिरेक (tension of poetic emotion) क्षणिक होता है और उसी स्थिति में कवि वास्तविक काव्य की सृष्टि करता है। महाकाव्य भी समय-समय पर प्रादुर्भूत होने वाले भावातिरेक की दशा में रचित अनेक संक्षिप्त काव्य इकाइयों का (जिन्हें आप चाहें तो गीति भी कह सकते है) ग्रथित रूप है जिन्हें कवि हृदय की सामान्य दशा में प्रसूत रचनाओं के सूत्र में गूँथ देता

1. Poetic energy is witness of the highest urgency of individual life, of all things the most admirable, but, still great. (*The Lyric*, pp. 22)

2. And it seems to me, further, that what we have in our mind when we speak of lyric, is precisely this same quality; that lyric and the expression of pure poetic energy unrelated to other energies are the same thing. (*The Lyric*, pp. 29)

है। इस कार्य में वह अपनी बौद्धिक नियन्त्रण शक्ति की सहायता लेता है।[1]

"Any long work in which poetry is persistent, be it epic or drama or narrative, is really a succession of separate poetic experiences governed into a related whole by an energy distinct from that which evoked them."[1]

विश्वकोष की ही भाँति हीगेल और अल्फ्रेड यूफेम ने भी आत्मनिष्ठता को गीति की सब से बड़ी विशेषता बताया है[2] किन्तु आत्मपरकता अथवा वैयक्तिकता का विकास धीरे-धीरे हुआ। गमरे का कथन है कि अत्यन्त प्राचीन साहित्य, गीति जैसा प्रतीत भले ही होता हो, आधुनिक अर्थ में आत्माभिव्यक्तिपरक नहीं है क्योंकि व्यक्ति का प्रादुर्भाव विकसित सामाजिक जीवन के परिणामस्वरूप हुआ जो अपेक्षाकृत बाद की वस्तु है[3] किन्तु प्रारम्भिक 'लिरिक' में वे सब बीज मौजूद अवश्य थे जो गीति की आधुनिक विशेषताओं के रूप में प्रस्फुटित हुए। उदाहरणार्थ सैफो के एक गीत का यह भाव लीजिए—

(सुन्दरी!) वह युवक अमरों के समान सौभाग्यशाली है जिसके नेत्र तुम्हारे सौन्दर्य को निहारते है और जिसके कान तुम्हारे मधुर गीत का रसास्वादन करते हैं तुम्हारी मुस्कान इतनी मधुर है कि मेरे हृदय को अपने सम्मोहन से अधीर कर देती है। जब तुम्हें देखता हूँ तो सारी शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं और मैं अवाक् देखता रह जाता हूँ, मेरे सिहरते हुए अङ्गों में बिजली सी दौड़ जाती है, मस्तिष्क एक मादक सगीत में घूमने लगता है, जड़ता छा जाती है। अङ्गों मे कम्पन होने लगता है और मै घास की भाँति विवर्ण हो जाता हूँ। तब दृष्टि और वाणी दोनों ही कुण्ठित हो जाती हैं।[4]

1. *The Lyric*, pp. 44.

2. *Typical Forms of English Literature*, pp. 39.

3. Every student of literary evolution is of course aware that very early literature, even when it assumes what seems to be a lyrical form, is not in our sense of the term a literature of self-expression. This is becouse the emergence of the individual unit from the mass is a relatively late result of advancing social life. (*Beginning of Poetry*)

4. Blest as the immortal gods is he,
The youth whose eyes may look on thee,
Whose ears thy tongue's sweet melody
May still devour.
Thou smilest too ? Sweet smile, whose charm
Has struck my soul with wild alarm,
And, when I see thee, bids disarm
Each vital power.
Speechless I gaze : the Flame within
Runs swift o'er all my quivering skin;
My eye-balls swim, with dizzy din

इस गीत की भावमयता वर्णनीय है। प्रेमी के मनोगत भावों का सुन्दर चित्रण है। कल्पना का पुट सरलता के मार्ग में बाधक नहीं है। भावान्विति अव्याहत है और संक्षिप्तता अनाहत। मूलगीत में संगीत की स्थिति क्या थी? यह कहना कठिन है, फिर भी अनुवाद से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भाषा एव संगीत में सन्तुलन रहा होगा और वे एक दूसरे के पूरक अवश्य रहे होंगे। आत्मनिष्ठता और वैयक्तिकता की छाप से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। सचमुच ईसापूर्व ७ वी शताब्दी की इस कवयित्री ने गीतिकाव्य के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।[1]

ऐंग्लो सैक्सन युग की जो रचनाएँ बच सकी हैं उनसे इस बात के सकेत मिलते हैं कि तत्कालीन कवियों ने जातीय निराशा और दौर्भाग्य को वैयक्तिक स्तर पर अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। यद्यपि इस काल की रचनाएँ प्राय: इतिवृत्तात्मक, विवरणात्मक और उपदेशात्मक है तथापि कुछ रचनाएँ ऐसी भी है जो भावमय होने के साथ-साथ जातीय भावना को वैयक्ति अनुभूति की पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत करती हैं। उदाहरणार्थ 'डिओर्स लेमन्ट' शीर्षक कविता की अन्तिम कडी को ही ले लीजिए जिसका अनुवाद प्रो० गमरे ने इस प्रकार किया है—

To say of myself the satory now,
I was singer erewhile to sons of Heoden
dear to my master Deor my name
Long were the winters my lord was kind;
I was happy with clansmen; Till Heorend now
By grace of his lays has gained the land
Which the haven-of-heroes erewhile gave me
That he surmounted : So this may I[2].

अर्थात् अब मैं अपनी कहानी कहूँ? मैं हिओडन के पुत्रों का गायक था। मेरा नाम डिओर है। मैं अपने स्वामी का प्रिय था। जाड़े की लम्बी ऋतुएँ थी और मेरा स्वामी मुझ पर कृपालु था। मैं अपने ज्ञातिजनों के साथ प्रसन्न था कि (मेरे) वीर पुङ्गव (स्वामी) द्वारा दी हुई भूमि हिओरैण्ड ने ले ली।

---

My brain reels round,
And cold drops fall; and trembling frail
Seizes every limb; and grassy pale
I grow; and than together fail
Both sight and sound

(Translation by John H. Merivale, 1833)

1. "The practice of Pindar and Sappho, we may say, has directed the course of lyrical poetry ever since, and will Unquestionably continue to do so. They discovered how with the maximum of art to pour forth strains of personal magic and music, whether in a public or a private way." (*Encyclopaedia Britannica* article on Lyric, Vol. 14.

2. The oldest English Epic, pp. 178.

इसके पश्चात् इंगलिश गीतों पर लैटिन के धार्मिक गीतों का भारी प्रभाव पड़ा जो ऐंग्लो सैक्सन गीतों की ही भाँति करुण थे। लैटिन गीतों ने अत्यन्त तुक और नियमबद्ध छन्दःपरिधान इंगलिश गीतों को प्रदान किये। नार्मन विजय के पश्चात् इंगलैण्ड में फ्रेञ्च गीतों का अधिक प्रचलन रहा और इंगलिश साहित्य को स्वयं अपना मार्ग बनाने में लगभग दो शताब्दियों का समय लग गया। अंग्रेजी साहित्य के प्रथम प्रेमगीत और प्रथम वसन्त गीत **'ब्लो नॉर्दर्न विण्ड'** का प्रणयन इसी युग में हुआ जो सन् १३१० के एक हस्तलिखित संकलन में संगृहीत है।[1] इस संकलन के ११७ गीतों में से ४० अंग्रेजी में हैं इन इंगलिश गीतों पर फ्रेंच गीतों का पर्याप्त प्रभाव है। १४ वीं शती के चौसर की रचना में फ्रेंच प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है किन्तु उसमें विदेशी फॉर्म को पचा कर अपना बना लेने की क्षमता थी। १५ वीं शताब्दी के पश्चात् फ्रेंच साहित्य के माध्यम से ही इटैलियन सॉनेट शैली अंग्रेजी को प्राप्त हुई तथा वॉट हेनरी, हॉवर्ड, आदि ने अंग्रेजी में सॉनेट लिखना प्रारम्भ किया।

ऐलिज़ाबेथ युग अंग्रेजी गीतिकाव्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। भाव और कला की दृष्टि से तो गीतिकाव्य इस युग में उन्नत हुआ ही उसका शास्त्रीय विश्लेषण भी इसी युग में हुआ और, जैसा कि हम पीछे कह आये है, **विलियम वेब** ने १५८६ ई० में सर्वप्रथम गीतिकाव्य को एक स्वतन्त्र काव्यविधा स्वीकार कर उस की व्याख्या प्रस्तुत की। फिलिप सिडनी, एडमण्ड, स्पेन्सर, सेमुएल डेनियल और शेक्सपियर जैसे लोक-विश्रुत गीतिकारों का आविर्भाव इसी युग में हुआ जिनकी रचनाओं में सब्जैक्टिविटी की उन्मुक्त अभिव्यक्ति हुई है। यूफेम ने सिडनी की कृति 'एस्ट्रोफेल एण्ड स्टेला' को इस युग का आदर्श गीतिकाव्य माना है[2] जिसमें सिडनी ने प्रकारान्तर से अपने ही असफल प्रेम का वर्णन किया है। इसमें आत्मानुभूति का उच्च स्वरूप, अभिव्यक्ति का सरल निदर्शन तथा वस्तु-वर्णन का सूक्ष्म प्रदर्शन हुआ हुआ है। उदाहरणार्थ इस संग्रह की तेतीसवी सॉनेट ही ले लीजिए जिसमें प्रेम के क्षेत्र में अवसर चूक जाने पर एस्ट्रोफेल के पश्चात्ताप का मार्मिक चित्रण है। स्वानुभूत सूक्ष्मतम विशिष्ट चित्तवृत्तियों के अनेकानेक उदाहरण इस में भरे पड़े हैं। कला की दृष्टि से २४ वीं सॉनेट का उल्लेख किया जा सकता है जिसमे 'रिच' शब्द के साथ खिलवाड़ किया गया है। नवम सॉनेट में प्रतीकों का प्रयोग पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। सुरा, सुन्दरी, सुमन एवं इतर सुकुमार सुन्दर वस्तुओं की अनुभूति तथा भाव और भाषा का कलात्मक सामञ्जस्य ऐलिज़ाबेथ कालीन गीतिकाव्य की विशेषता है जो ग्रीक एवं लैटिन गीतों के प्रभाव का परिणाम है।[3]

अठाहरवीं शताब्दी में भी सामान्यतः प्रवृत्तियाँ ये ही रहीं किन्तु इस शती के उत्तरार्ध में Pindaric ode शैली का भी प्रचलन हुआ जिसमें असमान चरणों

1. The Typical Forms of Eng. Literature, p 42.
2. The Typical Forms of Eng. Literatute, p 46.
3. The Typical Forms of Eng. Literatute, p. 51

का प्रयोग किया गया और परिश्रम-साध्य कृत्रिम शैली को प्रश्रय मिला। अठारहवीं शताब्दी में विज्ञान, राजनीति और दर्शन का भी विकास हुआ। अंग्रेज जाति के मस्तिष्क पर विचार और तर्क का प्रभुत्व छा गया जिससे व्यक्तिवाद का जोर बढ़ गया। हृदय की अपेक्षा बुद्धि को बढ़ावा मिलने के कारण अभिव्यक्ति में भी कलात्मकता का आग्रह स्वाभाविक ही था। इसीलिये कुछ आलोचकों ने इस युग को गीतिकाव्य का युग नहीं माना।[1] अन्त में इन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया-स्वरूप पुनः रोमाण्टिक तत्त्वों का स्फुरण हुआ और साहित्यिक क्षेत्र में तर्क के स्थान पर अनुभूति की प्रतिष्ठा और गीतिकाव्य का पुनरागमन हुआ।

आत्माभिव्यञ्जन का अभिनिवेश उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया जिसका फल यह हुआ कि आजकल गीतिकाव्य जनसाधारण की समझ के बाहर की वस्तु बन गयी। वह विशिष्ट शिक्षित सहृदयों का ही मनोरञ्जन कर सकता है। उसकी सार्थकता कला के माध्यम से जीवन के आन्तरिक रहस्यों, आशा-निराशा, हर्ष-शोक आदि का चित्रण करने में है। अर्नस्ट राइस के मत से सच्ची गीति में भाव का भाषा के रूप में प्रस्फुटन होता है। उसमें शब्द और लय का सामंजस्य अभीष्ट भाव को पूर्णतया चित्रित कर देता है। पद-लालित्य एवं नाद-माधुर्य से भावित संगीतमय ध्वनि उसे अभिव्यक्ति की पूर्णता प्रदान करती है।[2]

हडसन के अनुसार गीतिकाव्य में अनुभूति की सघनता और औचित्य अपेक्षित हैं। भाव और भाषा का सामञ्जस्य उसकी विशेषता है। विशुद्ध गीति किसी एक ही चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति करती है। अतः संक्षिप्तता उसका स्वभाव है। उसके कलेवर की लघुता घनीभूत भाव की सान्द्रता ही व्यक्त करती है तथा कला का चमत्कार उसकी हीनता का ही द्योतक होता है।[3]

पाश्चात्य गीतिसाहित्य की इन विशेषताओं के आधार पर ही यूफेम ने कहा कि गीतिकाव्य के विकास-क्रम में उत्तरोत्तर अनेक तत्त्वों का समावेश हुआ। आत्मपरकता एवं अन्तरवलोकन को बड़ा महत्त्व दिया गया। वास्तव में आत्माभिव्यञ्जन उसका प्रमुख तत्त्व प्रतिष्ठित हो चुका है और लम्बी गीतियों में भी भावान्विति को

1. Upham. Do.

2. The Lyric has the function of revealing, in terms of pure art, the secret of the inner life. (Ency. Br, Vol. 14, Lyric)

3. ...... a lyric, to the good of its kind, must satisfy us that it embodies a worthy feeling, it must impress us by convincing sincerity of its utterance, while its language and imagery must proprietly, or the hormony which in all is required, between the subject and its medium. It would also be found that pure lyric, having for its purpose the expression of some single mood or feeling commonly gains much in emotional power by brevity and condensation, and that over elaboration is almost certain to entail loss in effectiveness.

(Introduction to the study of Literature, pp. 126—117).

बनाये रखा गया है।[1]

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि :—

१—पाश्चात्य विद्वानों ने आत्माभिव्यक्ति (वैयक्तिक अनुभूति) को गीति का प्रमुख तत्त्व माना है।

२—गीति काव्य की अन्य विशेषताएँ है—

(अ) भाव-सान्द्रता।

(आ) भावान्विति।

(इ) संक्षिप्तता।

(ई) सहज अन्तःप्रेरणा।

(उ) सरल और स्वाभाविक अभिव्यक्ति।

३—भारतीय मान्यता में आत्माभिव्यक्ति पर कोई विशेष बल नहीं दिया गया है। गीति की अन्य विशेषताएँ संस्कृत साहित्य में व्यावहारिक रूप से रसमय मुक्तकों और लघुकलेवर खण्डकाव्यादि रचनाओं में मिल जाती है।

## समीक्षा और दोनों मतों का समन्वय

वैयक्तिक अनुभूति को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर पाश्चात्य विद्वानों ने गीति को एक प्रकार से कवि की व्यक्तिगत सम्पत्ति ही बना दिया है। अलफ्रेड यूफेम का कथन है कि "वास्तव मे गीति एक ऐसी वैयक्तिक वस्तु है कि प्रायः जन-साधारण के लिये न तो वह सहजगम्य ही है और न ही रुचिकर।"[1] पश्चिम में इस वैयक्तिकतावाद के महत्त्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् १९१० मे हडसन की "साहित्य के अध्ययन की भूमिका के, (An Introduction to the study of Literature) जिसमें इस वाद के प्रति उदासीनता बरती गई थी, प्रकाशित होने पर बडी टीका-टिप्पणी हुई जिसके फलस्वरूप दूसरे संस्करण में (सन् १९१५ में) उसे इस विषय पर एक परिशिष्ट जोड़कर अपनी स्थिति स्पष्ट कर देनी पड़ी। फिर भी सच्चे आलोचक के नाते उसने स्वीकार किया कि यद्यपि 'लिरिकल' काव्य का सार वैयक्तिकता है तथापि यह भी याद रखना चाहिये कि संसार के महान् गीतिकाव्यों में से अधिकांश का साहित्य में स्थान इस कारण है कि उसमें व्यक्ति अथवा विशेष के स्थान में सामान्य मानवमात्र का प्रतिबिम्बन हुआ है। यही कारण है कि प्रत्येक पाठक उनमें स्वास्वादनयोग्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का दर्शन करता है। ऐसे स्थलों में हमें स्वयं अपने आप को कवि के स्थान में नहीं

1. In the process of evolution several things have happened. The subjective, introspective element has been greatly intensified.........subjectivity, indeed has become the chief lyric-characteristic. Imagination has at times made overfree with lyric verse.........unity of impression has been maintained, even in longer and more complex lyric-forms, such as ode.
(*Typical Forms of Eng. Literature* pp. 39)

2. The lyric, of course, is a peculiarly personal and intimate thing, often so much so as to be obscure and uninteresting to the general public.
(*Typical Forms of Eng. Lit.*, pp. 74-75)

रखना पड़ता क्योंकि वह पहले ही हमारी स्थिति में पड़ चुका होता है। इसके अतिरिक्त बहुत सा गीति-साहित्य ऐसा है जो वैयक्तिक विशेषता की अपेक्षा जातीय विशेषताओं से ही अधिक युक्त है। साहित्य के उद्गम सम्बन्धी शोध ने स्पष्ट कर दिया है कि काव्य का प्रादुर्भाव समाज की अनुभूतियों को व्यक्त करने की चेष्टा के फलस्वरूप हुआ न कि व्यक्ति के भावों को व्यक्त करने में।[1]

पाश्चात्य विद्वानों की देखा-देखी आधुनिक भारतीय आलोचकों ने भी आत्मानुभूति को ही अधिक प्रश्रय दिया। संस्कृत के विद्वान् इस विषय पर मौन है (विकासक्रम की दृष्टि से संस्कृत-गीति साहित्य का अध्ययन अभी तक हुआ भी नहीं) किन्तु हिन्दी के आलोचकों ने गीतिकाव्य की जो परिभाषाएँ दी हैं वे भारतीय परम्परा के मेल मे उतनी नही हैं जितनी पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित। कुछ उदाहरण लीजिए .

"गीतिकाव्य मे कवि अपनी अन्तरात्मा मे प्रवेश करता है और बाह्य जगत् को अपने अन्त करण मे ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है। आत्माभिव्यञ्जन सम्बन्धी कविता गीतिकाव्य में भी छोटे-छोटे गेय पदों में मधुर भावापन्न, आत्मनिवेदन से युक्त स्वाभाविक ही जान पडती है। ······कवि उसमे अपने अन्तर्तम को स्पष्टतया द्रष्टव्य कर देता है। वह अपने अनुभवो और भावनाओ से प्रेरित होकर उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति कर देता है।"[2]

"साधारणत. गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय है।"[3]

"कविता की मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति है और वही जब स्वाभाविक गतिमय और गेयस्वरलहरी मे प्रकट होती है तो 'गीति' हो जाती है। गीति को हम दो रूपों मे देख सकते है—एक शुद्ध गीति और दूसरी प्रगीत मुक्तक। शुद्ध गीति मे स्वानुभूति निरूपण करने वाले गीत है। जिनमे प्रायः प्रथम या द्वितीय पंक्ति टेक के रूप मे पद पूरा होने पर दुहराई जाती है और प्रगीत मुक्तक के अन्दर वे अन्य छन्द है जिन

1. Though the essence of lyrical poetry is personality, it must yet be remembered that the majority of the world's great lyrics owe their place in literature very largely to the fact that they embody what is typically human rather than what is merely individual and particular, and thus every reader finds in them the expression of experiences and feelings in which he himself is fully able to share. In such cases we do not have to put overselves in poet's place because he has already put himself into ours. Moreover there is much lyrical poetry which is communal rather than personal in character. Investigations into the beginings of literature have shown that poetry originated in the desire to give out word form to the feelings not of the individual but of the class or group'

(*An Introduction to the study of Lit.*, pp. 127)

२. आचार्य श्यामसुन्दरदास। [हिन्दी गीतिकाव्य में श्री ओमप्रकाश अग्रवाल द्वारा उद्धृत]

३. महादेवी वर्मा। [वही उद्धृत]

में स्वानुभूति का तीव्र प्रकाशन संगीतात्मक शब्दों में होता है। वे ललित स्वर के साथ पढ़े जा सकते हैं, शास्त्रीय पद्धति पर 'सेट' करके चाहे गाए न जा सकें।[1]

'गेयत्व और सघन आत्मानुभूति जिस कविता में एक साथ पाई जाती है उसीको गीतिकाव्य मानना चाहिए।"[2]

"गीतिकाव्य का जो स्वानुभूतिक तत्त्व उसमें विद्यमान रहता है वही उसे कविता का रूप देता है।"[3]

आत्मानुभूति अथवा आत्माभिव्यक्ति से हमारा (संस्कृत-काव्य-शास्त्र का) कोई विरोध नहीं। विरोध इस शब्द की उस व्याख्या से है जिसने इसे संकीर्ण बना दिया है। प्रश्न यह है कि क्या कवि के वैयक्तिक जीवन में घटित घटनाओं और अनुभवों ने जिस भावना को उसके हृदय में जागरित किया उसी को हम कवि की अनुभूति कह सकते है? (जैसा कि उक्त उद्धरणों से प्रकट है) अथवा तदितर घटनाओं और दृश्यों के सन्निकर्ष से उसके अन्तःकरण में उद्बुद्ध भावना को भी? हमारे विचार से तो दोनो ही अनुभूतियाँ कवि की हैं। ये एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। फिर यह आत्मानुभूति तो कवितामात्र के मूल में विद्यमान रहती है। गीति से ही उसका विशेष सम्बन्ध क्यो? और यह आती कहाँ से है? बाह्य जगत् के सन्निकर्ष से ही नहीं। अल्फ्रेड यूफेम का कथन है कि गीतिकाव्य के मूल मे प्रायः आत्मनिष्ठता और वस्तुपरकता का सम्मिश्रण कार्य करता है।[4] गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगौर का कथन है कि "यह बाह्य जगत् जब हमारे चेतन जगत् में प्रविष्ट होता है तो एकदम कुछ और ही हो जाता है। यद्यपि इसका रूप, रंग, ध्वनि सब ज्यों के त्यों रहते हैं तथापि वे हमारे सवेदन, भय, विस्मय, हर्ष-विषाद आदि से रञ्जित हो जाता है और इस प्रकार यह जगत् हमारे भावों के अनेक गुणो से अनुप्राणित होकर हमारा अपना बन जाता है।"[5]

बाह्य जगत् के साथ तदाकार-परिणति कवि की अनुभूति का अवलम्ब है। कुछ रूप रङ्ग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिये हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार जमा लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप मे ही परिणत हो जाते हैं। हमारी

---

१. डा० भगीरथ मिश्र, साहित्य-परीक्षण में संगृहीत एक लेख में, पृष्ठ ५८–५६

२. डा० भगीरथ मिश्र लखनऊ से प्रकाशित 'किंजल्क' [२००७] मे प्रकाशित 'हिन्दी गीतिकाव्य का विकास' शीर्षक लेख, पृष्ठ ६६.

३. राजस्थानी, (मार्च १६४८) 'डिंगल गीतों की सारणी' शीर्षक लेख।

4. More frequently still, the lyric impetus is probably a combination of objective and subjective. (*Typical Forms of Eng. Lit.*, pp. 74)

5. This world outside us, when it enters into our consciousness, becomes quite another kind of world. Though its form, colour, sounds and the rest remain as they are, they become tinged with our approval, our wonder and fear, our pleasure and pain, and thus variegated with the manifold qualities of our feelings, this world is wrought into one that is intimately our own. (*Vishwa Bharati*, Quarterly, May 1935)

अन्त: सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।[1] शैली ने भी अपने 'स्व' (प्रकृति) को त्याग कर विचार, वस्तु अथवा प्राणी में जो सुन्दर है और हमारा नहीं है, उसके साथ तादात्म्य करने की बात कही।[2] श्री इलाचन्द्र जोशी का यह कथन भी उल्लेखनीय है कि मनुष्य विश्व के अनेक ृपों में प्रतिपल प्रकाशित अव्यक्त "चेतना से प्रेरित होकर सृष्टि के संगीत को अपनी भाषा में व्यक्त करना चाहता है।"[3] इसका अर्थ यह हुआ कि वैयक्तिक अनुभूति समष्टिगत संगीत की अभिव्यक्ति का निमित्तमात्र है। हडसन का कथन कि "जब साधारण भाव गम्भीरता के साथ उद्रेक को प्राप्त होते हैं और मनुष्य अपने 'स्व' तथा वैयक्तिक सम्बन्धों से ऊपर उठ जाते है तो काव्य मे सार्वजनीन तत्त्व विशेष रूप से प्रकट होते हैं।[4] अंग्रेजी साहित्य का घोर व्यक्तिवादी कवि बायरन इस का प्रत्यक्ष उदाहरण है जिसने फ्रांस की राज्यक्रान्ति के युग में अपनी सार्वजनीन भावो से भरी हुई रचनाओं से यूरोप में एक तहलका मचा दिया था।[5] तात्पर्य यह है कि वैयक्तिक अनुभूति को ही मौलिक आधार मान कर गीतिकाव्य को अलग काव्यविधा मानना न तो युक्तिसगत ही है और न वैज्ञानिक ही। ब्रिटेन के विश्वकोप यह भी लिखा है कि कदाचित् जौफ्रॉय प्रथम काव्यशास्त्री था जिसने सर्वथा स्पष्ट देखा था कि गीति स्वयं कविता-मात्र का ही दूसरा नाम है जिससे यह सिद्ध होता है कि लिरिकल कविता मे कविता के सारे प्राण का—व्यक्तिगत तथा भावगत अंग का—अन्तर्भाव है। इसलिये आडम्बरी समालोचनाकृत काव्यविभाजन कविता-तत्त्व के विवेचन के लिये किसी काम का नही। हम वर्णनात्मक काव्य को एक परिष्कृत ग का काव्य मानते है, नाटक को भी मानते हैं। इन दोनों में ही जब व्यक्तिगत भाव प्रबल हो जाता है तब वे भी गीतिकल्प हो उठते हैं, किन्तु शुद्ध नाटक और शुद्ध प्रबन्ध के अतिरिक्त प्राय: सब कविता लिरिकल होती है।"[6] "इससे स्पष्ट है कि गीतिकाव्य केवल वही कविता नही है जो

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ २२४-२५.

2. A going out of our own nature and an identification of ourselves with the beautiful which exists in thought, action or person, not our own. (*In defence of Poetry*).

3. कला का उद्गम शीर्षक लेख, साहित्य सुषमा, पृष्ठ २६.

4. When general feelings are deeply stirred, and men are lifted out of themselves and the concerns of their private lot, the concerns of there private lots, the communal element in poetry becomes speially conspicuous.

(*An Introduction to the study of Literature*)

5. ch Revolution and English Literature by Dowdon.

6. Jouffry was perhaps the first aesthetician to see quite clearly that lyrical poetry is, really, nothing more than another name for poetry itself, that it includes all the personal and enthusiastic part of what lives and breathes in the art of verse, so that the divisions of padantic criticism are of no real avail to us in its consideration. We recognise a narrative a classical poetry; we recognise drama, in both of these when the individual inspiration is strong, there is much that trembles on the verge of the lyrical. But outside what is pure epic and pure drama, all or almost all is lyrical (*Ency. Brit.* 14th Vol., pp 523).

कवि की अहंबुद्धिद्योतक अथवा आत्मानुभूतिव्यञ्जक हो। कवितामात्र में सबके भाव का अन्तर्भाव है, चाहे वह कवि का अपना हो अथवा राम कृष्ण आदि काव्यगत व्यक्तियों का।[1] अतएव "यह समझना भ्रम है कि कोई अनुभूति इस लिये कम वैयक्तिक है कि उसका सम्बन्ध किसी ऐसी घटना से है जो कवि के साथ न घटकर किसी अन्य व्यक्ति के साथ घटी है और कवि ने उसका केवल वर्णन कर दिया है।[2]

तात्पर्य यह है कि कोई भी रचना विषय और विषयी दोनों की प्रेरणा से अस्तित्व में आ सकती है (गीतिकाव्य भी इसका अपवाद नहीं है) और प्रत्येक अनुभूति, जिससे प्रेरित होकर कवि काव्यसर्जना में प्रवृत्त होता है, चाहे वह उसे बाह्य जगत् को अन्तर्जगत् में ले जाकर देखने से प्राप्त हुई हो या अन्तर्जगत् को बाह्य जगत् में लीन कर देने पर मिली हो, उसकी अपनी अनुभूति है और उसकी होकर भी सब की है। टैगौर ने इसको 'विश्वआत्मा' (Universal self) अथवा व्यापक व्यक्तित्व (large individuality) कहा है।[3] कीट्स इसे नो सेल्फ (No self) कहते हैं[4] जो भारतीय 'साधारणीकरण' से भिन्न कुछ नहीं है। टी० एस० इलियट के शब्दों मे यह कवि का आत्म बलिदान (सेल्फ सैकरीफाइस) है।[5] अनुभूति की पूर्णता भी इसी व्यापकता में है। इसी को दृष्टि मे रखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की आलोचना करते हुए कहा है कि "तुलसी की स्वानुभूति ऐसी नही जो एक दम सब से न्यारी हो।[6] गीति के सम्बन्ध मे जब वैयक्तिक अनुभूति अथवा आत्माभिव्यञ्जन की बात कही जाये तो उसका अर्थ कवि की यही व्यापक अनुभूति और आत्मा मानना चाहिये। अन्य किसी संकुचित अर्थ को स्वीकार करना अनुचित और अवज्ञानिक है। अतः गीति एक सार्वभौम अभिव्यक्ति है जो कवि के आत्म-निवेदन अथवा विषय की गहन भावात्मक अनुभूति से अनुप्राणित होती है। आत्म-निवेदन मे विषय और विषयी की अभिन्नता दीख पडती है जिसकी पृष्ठ भूमि यह जगत् ही है। जहाँ कवि अपनी वासना, भावना आदि की अभिव्यक्ति करना चाहता है वहाँ सामाजिक, वैयक्तिक, नैतिक आदि कारणों से अपने आप को गुप्त भी रखना चाहता है। आत्माभिव्यक्ति की सफलता अपने आपको प्रच्छन्न रखने में ही है क्योंकि यदि आत्माभिव्यक्ति के बिना कला अस्तित्व मे ही नही आती तो व्यक्तित्व के अधिक प्रक्षेप (projection) के कारण उसका ह्रास भी हो जाता है। अतः व्यक्तित्व का सन्तुलित प्रक्षेप ही कला की रक्षा के लिये अभीष्ट है। गीतिकाव्य की आत्मनिष्ठता का अर्थ यही है कि उसमें वस्तु गौण रहती है और अनुभूति प्रमुख।

1. डा० सिद्धेश्वर वर्मा, हिन्दी गीत गोविन्द की भूमिका, पृष्ठ ८.

2. It is fallacy to suppose that some experience is the less personal becouse it is concerned with an event happening to some one else.

*(John Drink water, The Lyric, pp.*

3. साहित्येर पथे, बं० स० ३४२, pp. १६८—१६९.

4. Keat's letter to Wood House, 27 Oct. 1817.

5. Tradition and Individual Talent, (1932).

6. तुलसीदास पृष्ठ, ८५.

प्रत्येक कवि अपनी रुचि के अनुकूल आत्माभिव्यक्ति का माध्यम चुनता है नाटककार यह कार्य पात्रों की सृष्टि द्वारा करता है। प्रत्येक नाटक में एक-आध पात्र ऐसा अवश्य होता है जो कवि के ही स्वर को दुहराता है। कालिदास के कई पात्रों में उसकी सरल, भावुक, उदार और आदर्श-प्रिय प्रकृति की झलक स्पष्ट रूप से मिलती है। हिन्दी के प्रमुख नाटककार प्रसाद के पात्र उनकी विचारधारा के मूर्त प्रतीक हैं और बनार्ड शा की बुद्धिवादिता उनके पात्रों मे स्वयं बोलती है। महा-काव्य मे भी कवि की चेतना परोक्ष रूप में निहित रहती है। अतः जब गीतिकाव्य के विषय में आत्माभिव्यक्ति की बात कही जाती है तो उसका एक विशिष्ट अर्थ होता है जिसे हम "**अनुभूति का आवेशमय अभिनिवेश**' कह सकते है। यदि कवि अपनी रचना का लक्ष्य स्वय ही बन जायेगा तो वह पाठक के साथ सहज सम्पर्क बनाये नहीं रह सकता। डा० रामखेलावन पाण्डेय ने ठीक ही कहा है कि "व्यक्ति को सामाजिक प्रतिवेश से हटा कर देखने का अर्थ कृत्रिम वातावरण मे उसे रख कर देखना है।[१] अतः सामान्य रूप से कविता की, तथा विशेष रूप से गीति की, अनुभूति कॉमन (विश्वजनीन) होती है। कवि जहाँ आत्माभिव्यक्ति के लिये लालायित रहता है वहाँ वह पाठक के मनोवेग को भी जगाना चाहता है। यदि वह अपनी ही गाथा गाता चला जाये और पाठक का हृदय इसका आस्वादन न कर सके तो उसकी कला का करुण अवमान ही समझिए। इसलिये वह 'अपबीनी' कहता हुआ भी अन्य के मन की बात कहता है और दोनों का समन्वय ही कला का कलित रूप प्रस्तुत करता है। कवि का व्यक्तित्व उसके जीवन से सम्बद्ध घटनाओ में निहित नहीं होता अपितु उसके मानसिक घात-प्रतिघातो मे रहता है। अतः उसके व्यक्तित्व और आत्मनिष्ठता का अर्थ यह नहीं है कि वह आत्म-चरित से सम्बद्ध घटनाओं का यथावत् वर्णन करता चला जाये। वह कल्पना के माध्यम मे आत्मतत्त्व का परिष्कार कर अपने अनुभूत भावों को सहृदय की मनोभूमि में उतारने मे सफल हो सकता है। अतएव गीतिकाव्य मे बाह्य घटनाओं की अपेक्षा मानसिक दशा के चित्रण का ही महत्त्व अधिक है क्योंकि अनुभूति के तीव्रतम क्षणों को कला के पाश मे बाँध रखना ही उस का चरम उद्देश्य है। अनुभूति के लिये भी किसी वस्तु अथवा घटना का आश्रय तो अपेक्षित है ही। "कला वास्तव मे न तो वस्तुगत हो सकती है और न आत्मगत बल्कि दोनो के सम्यक् सन्तुलन में ही कला की परिणति होती है," पर यह आवश्यक नहीं कि वह वस्तु कवि के ही जीवन से सम्बद्ध हो और उसकी अनुभूति इस अर्थ में अपनी हो। डा० रामखेलावन पाण्डेय ने स्पष्ट कहा है कि अनुभूति की एकता (अखण्डता) के कारण किसी की अनुभूति न्यारी हो ही नहीं सकती।"[२] अतः इस कृत्रिम आधार पर काव्य का वर्गीकरण उचित प्रतीत नहीं होता। संस्कृत के आचार्यों ने ऐसा किया भी नहीं है और जौफ्राय, हडसन आदि पाश्चात्य आलोचकों का दृष्टिकोण भी यही है। जान ड्रिङ्कवाटर का कथन है कि कविता भावों के

१. गीतिकाव्य, पृष्ठ ८१.
२. गीतिकाव्य पृष्ठ ८४.

सघनतम व्यापारों का परिणाम होती है; काव्य में भावों की अभिव्यक्ति, लय के साथ हुआ करती है तथा भावाभिव्यक्ति-समर्थ शब्दों का कौशलपूर्ण चयन विषय-वस्तु के महत्त्व का परिचायक होता है। इन विशेषताओं से सम्पन्न कला—**बैस्ट वर्ड इन द बैस्ट ऑर्डर**—को ही हम काव्य की संज्ञा देते हैं। काव्य का वर्गीकरण असंभव है किन्तु काव्य की (मूल रूप में) अभिव्यक्ति प्राय. लघु रचनाओं में ही जिन्हें हम लिरिक कहते हैं, पायी जाती है। इसलिये हम कह सकते है कि लिरिक की विशेषता उसके विशुद्ध कवित्व-शक्ति-प्रसूत होने में है और लिरिक तथा काव्य समानार्थक शब्द हैं।[1]

अतः उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि गीतिकाव्य में कवि की सान्द्र भावानुभूति की अभिव्यक्ति होती है, वस्तु का स्थान अत्यन्त गौण (केवल भाव के आधार रूप में) होता है तथा यह आवश्यक नहीं कि भाव को जागरित करने वाली घटना कवि के जीवन से ही सम्बद्ध हो।

## गीतिकाव्य के मूल तत्त्व

**भावमयता**—आनन्दवर्धन ने वाल्मीकि का अभिनन्दन करते हुए कहा है कि **क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागत**। स्वय रामायण के प्रारम्भ मे भी ऐसा ही कहा गया है और महाकवि कालिदास ने भी **'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'** कह कर इसका उल्लेख किया है। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध गीतिकार शैली का मत है कि 'हमारे मधुरतम गीत करुणतम वस्तुओं की कहानी कहते है" और हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि पन्त ने गाया है—

**वियोगी होगा पहला कवि आह से निकला होगा गान।**
**निकल कर आखों से चुपचाप बहो होगी कविता अनजान॥**

देश, काल और भाषा की दृष्टि से महान् अन्तर होते हुए भी इन तीनों उक्तियो मे एक समान तत्त्व की ओर संकेत किया गया है और वह है करुणभाव, जिसे संस्कृत के कवियों ने कविता के शैली ने गीत के और पन्त ने कविता और गीत दोनों के प्रादुर्भाव का मूलकारण माना है। शोक कदाचित् मन को अभिभूत करने वाली वृत्तियों में सब से अधिक प्रबल हैं इसीलिए भवभूति तो **'एको रसः करुण** एव' का दावा भी करते हैं। शोक की जिस अदम्यता का उक्त कथनों में उल्लेख

1. We find that poetry is the result of the intensest emotional activity attainable by man focussing itself upon some manifestation of life, and experiencing that manifestation completely; that the emotion of poetry expresses itself in rythm and that the significance of the subject-matter is realised by intellectual choice of perfect word We recognise, in the finished art, which is the result of these conditions,—The best word in the best order—poetry; and to put this essential poetry into different classes is impossible But since it is most commonly found by itself in short poems which we call lyric, we may say that the characteristic of the lyric is the product of the pure poetic energy unassociated with other energies, and that lyric and poetry are synonymous terms. (*The Lyric*, pp. 63—64).

किया गया है वह वास्तव में उपलक्षणमात्र है। वस्तु-स्थित यह है कि जब किसी भी कोमलभाव की अनुभूति पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो गीत स्वतः ही फूट निकलता है। यद्यपि काव्य के किसी भी रूप का अस्तित्व भाव के ही आधार पर टिक सकता है। महाकाव्य हो या खण्डकाव्य; नाटक हो या गीति; सब के मूल में भाव की मार्मिकता अनिवार्य रूप से अभीष्ट है किन्तु गीति के विषय में भावाभिनिवेश और भी अधिक अपेक्षित है क्योंकि गीतिकार का क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यन्त संकुचित होने के कारण प्रभाव की सृष्टि के लिये उसे मूलतत्त्व (भाव) का अधिकाधिक आश्रय लेना पड़ता है। उसी के द्वारा वह अपने पाठकों की अनुभूति को तीव्र कर सकता है।

वस्तुतः गीति की आत्मा भावातिरेक ही है। कवि अपनी रागात्मक अनुभूति तथा कल्पना से विषय अथवा वस्तु को भावात्मक बना देता है। जिस प्रकार सांसारिक वस्तुएँ स्वयं जीवन का साध्य नही साधन है उसी प्रकार गीतिकाव्य में भी वस्तु अथवा विषय अनुभूति का साधन मात्र बन जाता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि कवि अनुभूति से वस्तु की ओर जाता है अथवा वस्तु से अनुभूति की ओर क्योंकि जहाँ अनुभूति के रग मे वस्तु का रँगा जाना दीख पड़ता है वहाँ वस्तु द्वारा अनुभूति की तीव्रता भी दृष्टिगोचर होती है, किन्तु इतनी बात तो अवश्य है कि अनुभूति की चरमावस्था में वस्तु का अपना महत्त्व कुछ नही रह जाता। वह गौण होकर अनुभूति के ही अनुरूप कार्य करने लगती है। यही कारण है कि अनुभूति के अनुसार एक ही वस्तु से विभिन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ हुआ करती हैं। संयोग की अवस्था मे शीतलता प्रदान करने वाले चन्द्र और चन्दन वियोग अवस्था में अग्नि से दाहक जान पड़ते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कवि की अन्तर्वृत्ति वस्तु अथवा विषय के साथ स्वानुरूपता स्थापित कर लेती है और विषय तथा विषयी का भेद तिरोहित हो जाता है। गीति-काव्य की मार्मिकता का रहस्य यही तादात्म्य स्थिति है।

**मनोवैज्ञानिक आधार—**

गीति के भावमय होने का यह अर्थ कदापि नही है कि उसमे बुद्धितत्त्व–पदार्थ नियन्त्रण शक्ति—का हस्तक्षेप बिलकुल ही नही होता। जब तक बुद्धि का समुचित नियन्त्रण प्राप्त नहीं होता तब तक भावावेश काव्य के रूप में ढाला ही नही जा सकता। यह मत कि "जब बुद्धि भाव की अपेक्षा गौण पड़ जाती है तो अभिव्यक्ति का उचित साधन काव्य होता है और जब भाव बुद्धि से गौण रह जाता है तो गद्य[1]" स्थूल रूप से सत्य है। जॉन बेली ने केवल भाव पर आश्रित काव्य को हीन वस्तु कहा है और जान ड्रिङ्कवाटर के अनुसार तो केवल भाव के आधार पर कविता का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता। काव्य में बुद्धितत्त्व का समावेश भी अनजाने ही

1. It has been said by a living writer that when reason is subsidiary to emotion verse is the right means of expression, and, when emotion to reason, prose.' This is roughly true, though the poetry of mere emotion is poor stuff (John Bailly's essay on Milton).

हो जाता है और दूषित काव्य में कवि का भाव और बौद्धिक तत्त्व दोनों ही कवित्व शक्ति के मानदण्ड से नीचे रह जाते हैं।[1] यूफेम ने भी भावानुभूति तथा उसके द्वारा तत्काल ही मस्तिष्क में उद्बुद्ध विचार के योग से गीति का प्रादुर्भाव माना है।[2]

गीतिकाव्य का सम्बन्ध, जैसा कि कहा जा चुका है, कवि की गम्भीर रागात्मक अनुभूति से है, किन्तु अनुभूति के चरमोत्कर्ष की अवस्था मे अभिव्यक्ति सम्भव नहीं क्योंकि उस समय मानसिक स्थिति ऐसी होती है कि किसी अन्य प्रवृत्ति के लिये अवकाश ही नहीं रह जाता। अंग्रेजी की कहावत कि 'जब हृदय भरा हुआ होता है तो वाणी मूक हो जाती है'[3] इसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधृत है। तात्पर्य यह है कि कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये (जिसमें गीतिकाव्य भी सम्मिलित है) अनुभूति के प्राधान्य की नितान्त आवश्यकता होते हुए भी चिन्तन भी—जिसे संस्कृत के आचार्यों ने चर्वण संज्ञा दी है—आवश्यक है। सत्य तो यह है कि अनुभूति, इच्छा शक्ति और बोधवृत्ति आदि मानसिक शक्तियों का रूप जल-वीचि सदृश मिश्रित एवं अभिन्न है। व्यावहारिक दृष्टि से इनमें भेद भले ही मान लिया जाये किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इन्हें विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। गीतिकाव्य में अनुभूति प्रधान रहती है तथा इच्छा शक्ति एवं बोधवृत्ति उसके अङ्ग रूप में आती हैं; रागात्मक वृत्ति पर बोधवृत्ति का शासन नहीं रहता पर वह साधन के रूप में साथ अवश्य रहती है। बोधवृत्ति रागात्मक वृत्ति के निकास (अभिव्यक्ति) में सहायक तो रहती है पर न तो वह रागात्मक वृत्ति को जन्म ही दे सकती है और न ही उसमें तीव्रता ला सकती है। प्रेम एक रागात्मक वृत्ति है जिसकी उद्बोध-अवस्था में प्रेमी अपने प्रिय के लिये विचारपूर्वक कल्याण-कामनाएँ कर सकता है और क्रियात्मक रूप से उसके हित का सम्पादन भी कर सकता है किन्तु सोच-विचार करने के बाद कोई किसी से प्रेम करता नहीं देखा गया। सारांश यह है कि जब भावना का उभार होता है तो बोधवृत्ति गौण पड़ जाती है और उसके निकास में सहायक बनती है। गीतिकाव्य में यही सब कुछ तो होता है। भावना और कर्त्तव्य के द्वन्द्व की बात भी जीवन तथा साहित्य में बहुत कुछ देखी सुनी जाती है। यह संघर्ष रागात्मक वृत्ति तथा बोधवृत्ति का स्तर समान होने पर होता है। जब बोधवृत्ति रागात्मक वृत्ति के समानस्तर पर क्षण भर रह कर पुनः उसमें लीन सी हो जाती है तो तर्क सञ्चारी की आख्या पाती है। बोधवृत्ति की चरम स्थिति शास्त्रीय ज्ञान के रूप में पर्यवसित होती है। आचार और नीतिशास्त्र में बोधवृत्ति का प्राधान्य रहता है और रागात्मक अनुभूति कुण्ठाग्रस्त हो जाती है।

1. I would suggest the poetry of emotion, in this sense does not, and could not exist. Bad verse is merely the evidence of both emotion and intellect that are so to speak, bellow poetic power not of emotion divorced of intellect, which evaporates unrecorded. (*The Lyric*, pp. 22)

2. More frequently still, the lyric impetus is probably a combination of objective and subjective, an experience of sense, impression plus the idea it at once arouses in the mind (*Typical Forms of Eng. lit.*, pp. 74).

3. 'When heart is full, tongue is silent'.

अतः गीतिकाव्य के क्षेत्र में नैतिक अनुभूति अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के साथ पदार्पण नहीं कर सकती, जहाँ कहीं नीति का पुट होता भी है वहाँ वह अनुभूति से अभिभूत ही रहती है। निष्क्रिय बुद्धिवादिता का भार वहन करना अनुभूति के बस की बात नहीं।

चित्त की चञ्चलता तो प्रसिद्ध ही है। अनुभूति की प्रगाढता क्षणिक होती है जिसे गीतिकार अपनी इच्छा-शक्ति और विचार-शक्ति का सहारा पाकर अभिव्यञ्जनीय बना वाणी का रूप देने का प्रयास करता है। अनुभूति के आविर्भाव के मूल में कारण चाहे कुछ—वस्तु, विषय, परिस्थिति, व्यक्ति आदि—रहा हो उसका अनुभूति के उद्बोध से अलग कोई महत्त्व नहीं होता। जब अनुभूति तीव्र होती है तो कवि कारण के प्रति उदासीन हो जाता है किन्तु जब अनुभूति समुचित स्तर से नीचे रह जाती है तो उसके साथ काव्य में विषय भी प्रतिफलित होने लगता है। अर्थात् अनुभूति जिस अनुपात से उथली होती जाती है उसी अनुपात से विषय का प्रतिफलन भी बढ़ता जाता है और जब अनुभूति का आवेश बहुत क्षीण हो जाता है तो विषय उभर कर गीत पर छा जाता है क्योंकि केवल कल्पना रागात्मक आवेश की पूर्ति नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में अन्तर्वृत्ति का गौण रह जाना स्वाभाविक ही है। मनुष्य के अन्तःकरण का सगठन कुछ ऐसे ढंग से हुआ है कि उस पर बाह्य जगत् के व्यापारों का बड़ा प्रभाव पडता है। परन्तु यह समानता होते हुए भी विभिन्न मनुष्यों के अन्तःकरण की प्रतिक्रिया एक ही प्रकार की और एक ही स्तर की नहीं दीख पड़ती। इतना ही नहीं, एक ही व्यक्ति मे एक ही वस्तु द्वारा विविध अन्तर्वृत्तियाँ भी जग जाती हैं। किसी अज्ञात वस्तु को देखकर पहले भय, आश्चर्य और तत्पश्चात् आकर्षण विकर्षण आदि की भावना जगती है। देश और काल की विभिन्नता भी किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रभाव मे वैषम्य उत्पन्न कर देती है। अतएव महत्त्व व्यक्ति, विषय और वस्तु का नही, तज्जन्य प्रभाव का होता है जिससे अभिभूत कवि का हृदय आत्मभिव्यक्ति के लिये व्यग्र हो उठता है। मन की इस अवस्था को गीति-वृत्ति (Lyric mood) कहा जा सकता है।

अनुभूति की तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था में वह अपने विशुद्ध रूप में रहती है और जैसा कि कहा जा चुका है, बोधवृत्ति के प्रसुप्त रहने के कारण अभिव्यक्त नही की जा सकती; (वस्तु, परिस्थिति आदि से जनित हर्ष-विषाद की चरम अनुभूति की अवस्था में एक प्रकार की जडता छा जाती है) दूसरी अवस्था मे सवेदन के प्रथम आघात से उत्पन्न कुण्ठा में शैथिल्य आने लगता है और प्रसुप्त बोध-वृत्ति में स्पन्दन होता है जिससे अभिव्यक्ति की मानसिक एवं शारीरिक चेष्टाएँ प्रकट होने लगती हैं। तीसरी अवस्था में सामाजिक प्रतिक्रिया के विचार—समाज के व्यक्तियों की सहानुभूति अथवा विरोध—का उदय होता है और कवि को (अथवा अनुभूति के आश्रयभूत व्यक्तियों को) अपनी वृत्ति की नैतिकता, तीव्रता आदि का ज्ञान हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि रागात्मिका वृत्ति स्वकारणभूत विषय या वस्तु की प्रकृति की अपेक्षा उसके द्वारा मानसिक जगत् में उद्भूत सक्षोभ को ही व्यक्त करती

है। जिस कवि में अन्तःक्षोभ का आविर्भाव नहीं होता वह वस्तु का ही अधिकाधिक चित्रण करने लगता है जिससे पाठक के हृदय में चित्रात्मकता-प्रसूत प्रसाद की अनुभूति भले ही हो जाये अन्तःसंक्षोभ का सचार नहीं हो सकता। उपर्युक्त क्षणिक अन्तःक्षोभ को शब्दों के रूप में मुखरित करने का प्रयत्न ही गीतिकाव्य का मनोवैज्ञानिक आधार है।

## भावान्विति

क्षणिक होने के कारण गीति में अभिव्यक्त अनुभूति एक ही मूल भाव से अनुप्राणित रहती है। गीति का केन्द्रबिन्दु यही मूलभाव होता है जिसका विश्लेषण और विस्तार कवि गीति के कलेवर मे करता है। पदात्मक अथवा राग-रागनियों मे लिखे हुए गीतो मे इस केन्द्र की स्थिति 'टेक' अथवा 'ध्रुवपद' मे रहती है संगीत में गायक प्रारम्भिक स्वरालाप द्वारा अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर गीत के मूलभाव की, पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है (आधुनिक सिने-गीतों मे यह कार्य विविध वाद्यों से भी पूरा किया जाता है) फिर टेक के रूप में मूल-भाव उपस्थित करता है और तदनन्तर राग विस्तार, स्वर, तान, आलाप आदि साधनो से उसको व्यापक उत्कर्ष तक पहुँचाता है। इसी प्रकार कलात्मक गीतों मे भी टेक का भाव गीत के विभिन्न चरणों मे विकास पाकर पूर्णता को प्राप्त होता है। **गीत गोविन्द** के गीत इसी प्रकार के है। सस्कृत का अधिकांश गीति साहित्य पदबद्ध न होकर छन्दोबद्ध है जिसमें टेक का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, फिर भी इन मुक्तकों में प्रायः किसी पद या वाक्य मे पूरा भाव समाया रहता है और जिस प्रकार गाने में विभिन्न स्वरों के अनेक बोल बनाता हुआ गायक विविध भाव-भङ्गियों से टेक के भाव को विकसित करता है उसी प्रकार सस्कृत के प्रगीत मुक्तकों का लेखक कल्पना, शब्द-योजना, ध्वनि, अलङ्कार आदि के आधार पर उस भाव का विस्तार करता है। प्रो० चन्द्रशेखर पाण्डेय ने गीति के सम्बन्ध में लिखा है कि "सुख और दुःख की अनुभूति जब तीव्र से तीव्रतम हो जाती है, तब उसी आवेश मे उदात्त और अनुदात्त ध्वनियों के सामञ्जस्य से कवि के कण्ठ से जो शब्द निकल पड़ते है, वे ही गीत की संज्ञा पा सकते हैं। उसमें कवि की एक ही भावानुभूति कोमल और मधुर शब्दों के संबल से गीति-प्रधान शैली में व्यक्त होती है।"[१] एक ही भावानुभूति से ओत-प्रोत होने के कारण गीति में स्वत पूर्णता एवं स्वयं सवेद्यता का गुण आप से आप समाविष्ट हो जाता है। वस्तु की आधार भूमि पर अङ्कुरित होकर तथा उससे रस ग्रहण करके भी वह भाव के उन्मुक्त वातावरण में विकसित होकर अपने मधुर सौरभ को विकीर्ण करती है। इससे स्पष्ट है कि भाव की अन्विति (Unity of emotion) गीति काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। गीति नामक काव्य भेद न मानकर भी सस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने काव्य मे भावान्विति पर बल दिया है। किसी भी पद्य अथवा वाक्यांश में एक से अधिक रसकी प्रमुखता उन्हें स्वीकार नही। प्रमुख रस के साथ अन्य रसों का समावेश अङ्गरूप में ही हो सकता है। यदि कोई भाव मुख्य रस के उपकार के स्थान मे

१. सस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृष्ठ ३२६।

क रे तो ह रसदोष का बाधायक समझा जाता है।

## संक्षिप्तता

गीति के उपर्युक्त गुणो—भावना की क्षणिकता, एकता, अन्विति आदि—से उसकी सक्षिप्तता का भी पता चलता है। तथापि उसकी सक्षिप्तता के विषय मे किसी निश्चित मापदण्ड अथवा परिमाण का निर्धारण नही किया जा सकता। उसके आकार का स्वरूप भावना की पूर्णता अपूर्णता पर निर्भर रहता है। कभी-कभी भावना का आवेश इतना क्षणिक होता है कि कवि एक ही पद या पद्य मे उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति कर देता है और कभी-कभी वह कई पद्यो मे उसे समेट पाता है। प्राय किसी कथानक पर आधृत गीतियो मे अनेक पद्यो का सगुम्फन रहता है जिनमे एक ही मुख्य भावना के विभिन्न स्तर अथवा पोषक अवान्तर भावनाओ की पृथक्-पृथक् पद्यो मे अभिव्यक्ति होती है। ये पद्य व्यष्टि रूप से अपने आप मे पूर्ण और स्वत सवेद्य भी होते है और प्रधान अनुभूति के पोषक होने के कारण समष्टि रूप मे परस्पर सम्बद्ध भी होते है।

## सहज अन्त प्रेरणा

गीति कवि की अन्त पेरणा का सहज समुच्छवसित रूप है। उसम वस्तु अथवा विषय का आधार तो नाममात्र का ही होता है। यो तो, जैसा कि वर्ड्स्वर्थ ने कहा है और जिसका उल्लेख हम पीछे कर आये है कविता मात्र ही अन्त प्रेरित होती है किन्तु गीति मे यह विशेषता और भी अधिक मिलती है, यही कारण है कि व्यक्तित्व के प्रतिफलन की सम्भावना भी इसमे अधिक रहती है जिसे पाश्चात्य काव्य शास्त्रियो ने गीति का अनिवार्य तत्त्व ही मान लिया है।

## गेयता

गेयता गीति काव्य के प्रमुख तत्त्वों मे से है। किन्तु गीति की गेयता को शास्त्रीय सगीत के बन्धन मे बाँधना उचित नही। श्री ओमप्रकाश अग्रवाल का कथन है कि "सगीत गीति काव्य की अनिवार्य विशेषता है।" गीति काव्य में काव्य की अपेक्षा सगीत की ही मात्रा अधिक होती है, कारण यह कि गीतिकाव्य का उद्देश्य आत्मकल्याण और परम आनन्द की प्राप्ति करना है और इनका सर्वोत्कृष्ट साधन है सगीत।[१] यह कथन भ्रान्तिजनक है क्योकि गीतिकाव्य सर्वप्रथम काव्य है बाद मे कुछ और। उसका महत्त्व इसलिये नही है कि वह सगीतमय है अपितु इसलिये है कि उसमे काव्यत्व है। सगीत के स्वर अपने स्वतन्त्र स्वर होते है और उनका विस्तार सकोच अपने नियमो के अनुसार होता है। अत काव्य के प्रवाह के साथ-साथ सगीत का तारम्य बँधा नही रह सकता। काव्य में सगीत को प्रमुख रूप देने का अर्थ है उसके काव्यत्व का ह्रास और काव्यत्व की रक्षा का अर्थ है सगीत को गौणता प्रदान करना। इसीलिये जॉन ड्रिंकवाटर ने कहा है कि जब कभी सच्चे काव्य को सगीत के साँचे मे ढाल दिया जाता है जो तो उसका मूल्य घट जाता है और जब कोई कविता गायक

१ हिन्दी गीतिकाव्य पृष्ठ १२।

के हाथ पड जाती है तो वह कविता नही रह जाती ।[1] कारण यह है कि काव्य और सगीत दोनो मे शब्दो का प्रयोग एक ही ढँग से नही होता । सगीत में गायक आलाप के द्वारा वातावरण की सृष्टि कर लेता है और शब्दो के उच्चारण को सगीत के अनुसार परिवर्तित कर स्वरो के द्वारा भावाभिव्यक्ति में तीव्रता लाता है । यही कारण है कि किसी गेन की भाषा से सवथा अपरिचित श्रोता भी केवल स्वरो के आरोह-अवरोह से आनन्द प्राप्त कर सकता है किन्तु कविता मे शब्दो का प्रयोग दूसरे ही ढँग से होता है । इसीलिये जॉन ड्रिङ्कवॉटर का कथन है कि इन दो महान् कलाओ—काव्य तथा सगीत—से सम्बद्ध व्यापारो की चर्चा का कोई अर्थ ही नही क्योकि दोनो की पद्धति और क्षत्र सर्वथा भिन्न हैं ।[2]

उपर्युक्त कथन से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि गीतिकाव्य मे शास्त्रीय सगीत का समावेश न तो आवश्यक ही है और न अभीष्ट ही । इसका यह अर्थ नही कि उसमे किसी प्रकार का भी सगीत नही होता क्योकि गीतिकाव्य मे सान्द्र-अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है और जैसा कि डारविन ने लिखा है जब वाणी को किसी सबल भाव का माध्यम बनाया जाता है तो वह सगीतात्मक वैशिष्टय की और झुक जाती है ।[3] उसका कथन है कि मनुष्य म सगीत ध्वनि निकालने को आदत का विकास सवप्रथम प्रणयनिवेदन के साधन के रूप म हुआ और इस प्रकार सर्वप्रबल भावो—प्रम विरोध आदि— के साथ उसका सम्बन्ध हो गया ।[4] अभिव्यक्ति का यह वैशिष्टय नाद सौन्दर्य और भाव सगीत कहा जा सकता है जो आधुनिक युग मे गीतिकाव्य का आवश्यक अग समझा जाता है ।[5] कहने की आवश्यकता नही कि सस्कृत का कवि इसके प्रति सदा से ही सजग रहा है ।

इस अन्त सगीत के अतिरिक्त छन्द सगीत का उल्लेख भी आवश्यक है । गेय छन्दो के परिधान मे गीतिकाव्य का सौन्दय और भी खिल उठता है । यद्यपि

1 Whenever a true poem is given a musical setting the strictly poetic quality is destroyed The musician if he be a good one—finds his own perception and he translates the expression of that perception from the terms of poetry into the terms of music The result may be and often is of rare beauty and of an artistic significance as great perhaps as that of the poem itself But in the hands of musicians once a poem has served this purpose it has as poetry no further existence (*Art and craft of letrer page 50*)

2 It is unnecessary to discuss the relative functions of the too great arts wholly different in their methods different in their scope

3 When the Voice is used under any strong emotion it tends to assume through the principle of association a musical character

(*The Expression of the Emotions page 36*)

4 The habit of uttering musical sounds was first developed as a means of courtship in the early progenitors of man and this became associated with the strongest emotions of ardent love rivalry and truimph

(*The Expression of the Emotions page 35*)

5 Today we rather expect good lyric ot abound in this verbal melody

(Upham *Typical forms of Eng Lit page 40*)

आधुनिक युग में कवि ने छन्द के बन्धन से भी छुटकारा पाने की चेष्टा की है। वाल्ट ह्विटमैन और उनके अनुयायियों ने मुक्तछन्द कविता का सफलतापूर्वक प्रणयन और प्रचार किया है। यूफेम का कथन है कि गीतिकाव्य में भी मुक्तछन्द शैली का प्रयोग सुन्दरता के साथ किया जा सकता है[1] तथापि छन्द का महत्त्व पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे भी कुछ कम नही माना गया है। श्री लीलाधर गुप्त ने अपने पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त में लिखा है कि लय की उत्पत्ति अन्तर्वेग से है और अन्तर्वेग को उत्तेजित करने की उसमें विशेष क्षमता है, लय हमें हँसा सकती है, लय हमें रुला सकती है, लय हमें आकृष्ट कर सकती है, लय हमे उत्कृष्ट कर सकती है, लय हमारे शरीर मे हरकत कर देती है, हम नाचने लगते है, हम ताल देने लगते है। छन्द का काव्यात्मक मूल्य और भी अधिक है। छन्द प्रावेक्षण (anticipation) की प्रवृत्ति को उत्तेजित कर शब्दों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध कर देता है। छन्द विस्मय द्वारा चेतना को धीमा करके मोहन निद्रा सी ले आता है और व्यञ्जकता तथा संवेदनशीलता की वृद्धि करता है। छन्द अपनी ध्वनि और गति से अर्थ का प्रकाशन करता है। यदि अन्तर्वेग अतितीव्र हो तो वह उसकी तीव्रता मे सतुलन ला देता है और यदि अन्तर्वेग अतिमन्द हो तो उसको उत्कृष्ट कर देता है। छन्द कविता का वातावरण उपस्थित कर देता है, काव्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति को स्थिर और परिभाषित कर देता है, कल्पना को दीप्त कर ऐसी दृश्यमान एवं श्रोतव्य प्रतिमाएँ (images) प्रदान करता है जिनसे उनके अनुभव की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है।[2] जॉन ड्रिङ्कवाटर का कथन है कि कविता स्वभाव से ही पद्य का रूप धारण करती है।[3]

सस्कृत के कवि तो छन्दोहीन कविता की कल्पना भी नही कर सके थे। छन्दोहीन पदावली को वे गद्य ही कहते है[4] जो संगीत के क्षेत्र में भले ही ग्राह्य हो पर कविता नही कहला सकती। अत. छन्दोमुक्त गीतिकाव्य संस्कृत में मिल ही नही सकता। छन्दों की लयात्मक गेयता संस्कृत गीतिकाव्य का विशेष गुण है। डा० एस० एन० दास गुप्ता का कहना है कि संस्कृत कविता की गेयता परिचित कानों पर ऐसा सम्मोहन डालती है कि केवल समुचित ढंग से कविता पाठ ही प्रभाव उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। यूरोप में मैंने जब कुछ पद्यों का पाठ किया तो वे व्यक्ति भी जो सस्कृत से तनिक भी परिचित नही थे, संस्कृत पद्यों की मोहक लय से अत्यन्त प्रभावित हुए और अधिकतर श्रोतृ-समुदाय संगीत के जादू से सम्मोहित

---

1. It lends itself well enough to.... ....even those lyrics in their impulses. It may be done with no little charm. (*The typical forms of Eng. Lit., page 72*)

2. पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, पृष्ठ २२८

3. It should here be added that poetry habitually takes the form of verse. (*The Lyric, page 57*)

4. गद्यं निगद्यते छन्दोहीनं पदकदम्बकम्, संगीत रत्नाकर, पृष्ठ ३०६।

सा हो गया।[1] स्पष्ट है कि यह संगीत संस्कृत के छन्दों का स्वाभाविक संगीत था शास्त्रीय संगीत नहीं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है कि गीतिकाव्य कहलाने के लिए गीत तभी योग्य हो सकते हैं जब उनमें काव्यरस और काव्यबिम्बना का पूरा-पूरा संचार हो। इस दृष्टि से गीतिकाव्य उन गीतों का नाम है जिनमें काव्यरस तथा काव्यबिम्बना असंदिग्ध हो और जिन्हे सर्वसाधारण वास्तव में गा सकें।[2]...... कहने की आवश्यकता नही कि सर्वसाधारण छन्द: संगीत के अनुसार ही गा सकते है। इसी छन्द: संगीत की ओर संकेत करते हुए हिन्दी के आधुनिक गीतिकार सुमित्रानन्दन पन्त ने कहा है, कि जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति में मूर्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती है उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा व्यञ्जना आदि विशेष शब्द शक्तियों तथा विशेष छन्दों के समिश्रण और सामञ्जस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।[3] संस्कृत के कवि छन्दों का भावानुसार प्रयोग करने में बड़े सजग रहे है। भोज के कविकण्ठाभरण, क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों मे छन्द के प्रयोग के ढँग पर विचार किया गया है।

**भाषा शैली**

गीतिकाव्य का कोमल कलेवर भाषा के बोझिल आडम्बर को सहन करने में असमर्थ होता है। अतः भाषा की जटिलता को उसमे प्रोत्साहन नही मिलता। गीति मे भावना का उमडता हुआ प्रवाह रहता है और यही उसकी प्रमुख विशेषता है। शब्दों की कठिनता तथा पदविन्यास की जटिलता एवं अनियमितता इस प्रवाह में व्यवधान बन कर गतिरोध उत्पन्न करती है और पाठक रस ग्रहण से वञ्चित रह जाता है। गीति की भाषा वस्तु और भाव का संकेत प्रत्यक्ष शैली में करती है। शाब्दिक चमत्कार और अर्थगाम्भीर्य के लिए उसमे स्थान नहीं होता। सादगी, सौन्दर्य और जोश उसकी विशेषता है। कम से कम शब्दों मे भाव की पूरी-पूरी अभिव्यक्ति कर हृदय को रसप्लावित कर देना गीति का एक विशेष गुण है। इस लिए गीतिकाव्य मे ध्वन्यात्मक भाषा का प्रयोग आवश्यक हो उठता है। गीतिकार सब कुछ कह डालने का प्रयत्न नहीं करता। उसकी दशा बहुत कुछ रत्नाकर की गोपियो की सी होती है जिन्होंने अपने मन की बात—

**नैकु कही बैननि अनेकु कही नैननि सों।**
**बची खुची सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सों॥**

जैसा कि कहा जा चुका है, गीति की अनुभूति क्षणिक होती है। उसमे विचारों का ठोस और स्थिर रूप नहीं होता। अनुभूति की द्रवणशीलता, कल्पना की उन्मुक्त उड़ान को सहन नहीं कर सकती। इसीलिये गीतिकाव्य में कल्पना का संयत

1. एस० एन० दास गुप्ता, सं० सा० के इति० की भूमिका।
2. हिन्दी गीत गोविन्द की भूमिका, पृष्ठ ६।
3. हिन्दी गीत गोविन्द की भूमिका, पृष्ठ ६।

रूप रहता है जो वास्तविकता से दूर नहीं रह सकता। गीति के सुकुमार सुविभक्त और सुगठित कलेवर पर एक प्रकार का नाद-सौन्दर्य अपेक्षित है जो उसकी अन्तरात्मा के अनुसार 'अन्यदेव' प्रतीयमान होता है। भाषा की शिथिलता इसमें अक्षम्य है। प्रबन्ध काव्य में तो कथा के प्रभाव में निस्तेज पंक्तियाँ भी खप जाती है और उनकी पृष्ठभूमि पर 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' के अनुसार क्षीणतेज पंक्तियों के भी चमकने की संभावना रहती है किन्तु गीति में न तो इतिवृत्तात्मकता ही होती है और न विवरणात्मकता ही। अतः भाषा की समाहार शक्ति का पूर्ण विकास गीति-काव्य में ही देखा जाता है। जिस प्रकार इत्र के विलीन हो जाने पर भी उसकी मादक, मोहक और मधुर सुगन्ध देर तक हृदय को उल्लसित करती रहती है, उसी प्रकार गीतिकाव्य मे शब्दों की झकृति भावना को उद्दीप्त कर पूर्णता प्रदान करती है। सस्कृत साहित्य मे रीति की प्रतिष्ठा का उद्देश्य यही है जिसे किसी-किसी आचार्य ने तो काव्य की आत्मा ही मान लिया। विषय के अनुरूप नाद-सौन्दर्य-समन्वित विशिष्ट शब्दों का चयन ही तो रीति है।

संक्षेप मे गीतिकाव्य की आत्मा है सान्द्र अनुभूति तथा कलेवर सहज अभिव्यक्ति। गेय छन्द उसका उपयुक्त परिधान है और नादसौन्दर्य प्रसाधन। इस विवेचन के आधार पर संस्कृत मे गीति की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—

**गौणवस्तु भवेद् गीतिर्भावाभिव्यञ्जनं कवेः।**
**लघुकलेवरा गेया संकभावरसाश्रया ।।**

३

• • •

# संस्कृत साहित्य में गीति-काव्य के सोपान

*　　*　　*

## वैदिक साहित्य

ऋग्वेद विश्व के पुस्तकालय की सर्वप्रथम पुस्तक है। यों, मिश्र, असीरिया, तूरान और चीन की सभ्यता भी बड़ी प्राचीन समझी जाती हैं और उक्त देशों के विद्वान् अपने-अपने देश की सभ्यता की प्राचीनता सिद्ध करते है किन्तु बिना किसी ननु नच के उनकी बात को मान भी लें तो भी भारतीय सभ्यता का महत्त्व कम नहीं हो जाता। साहित्य सभ्यता के उत्कर्ष का एक विश्वसनीय मानदण्ड है और भारत का प्राचीनतम साहित्य किसी भी देश के पुराने से पुराने साहित्य की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है। स्वयं वेबर ने अपने सस्कृत साहित्य के इतिहास मे कहा है कि भारतीय साहित्य मे उक्त देशों के प्राचीन साहित्य से एक मौलिक अन्तर है। मिश्र के साहित्य में शासकों की नामावली और युद्धों के उल्लेख के सिवाय कुछ नही है। असीरिया और बेबीलोन के लेख भी ऐसी ही कहानी कहते हैं। प्राचीन चीन का साहित्य भी सभ्यता और सस्कृति के विकास के विषय में कोई प्रकाश नही डालता किन्तु भारतीय साहित्य का रूप कुछ और ही है। उसमे न तो राजाओं की वंशावली ही है और न युद्धों या अन्य ऐसी घटनाओं का ही विवरण मात्र। इसमे सभ्यता और संस्कृति के विकास तथा प्रसार का एक स्पष्ट और सुसबद्ध चित्र प्राप्त होता जो किसी अन्य साहित्य मे नही मिलता। वास्तव मे ऋग्वेद की प्रौढ रचना भावात्मकता, कलात्मकता और इनसे अभिव्यक्त संस्कृति का उदात्त रूप इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि वैदिक साहित्य के प्रणयन से पहले ही साहित्य, सभ्यता और संस्कृति के कितने ही स्तर जम चुके थे और समाज कितने ही उत्थान-पतन देख चुका था। संघर्षों की कठोरता ने आर्य जाति की जीवनी शक्ति को अधिक पुष्ट, दृढ़ और सक्षम कर दिया जिससे अनेक कष्टों और कठिनाइयों का सामना करके भी यह जाति विकास पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होने के लिये उपयुक्त शक्ति का संचय करती रही।

इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद की रचना और संकलन ऐसे समय में हुए होंगे जबकि अनेक युगों का व्यवधान आ जाने के कारण प्राचीन काल के कवियों और आचार्यों के प्रति श्रद्धा और मान्यता की भावना का उद्रेक हो गया होगा। ऋग्वेद की अनेक पंक्तियां अन्तःसाक्ष्य के रूप में प्रमाणस्वरूप उपस्थित की जा सकती

हैं जिनमें तत्कालीन कवियो ने अपने पूर्ववर्ती कवियो के प्रति श्रद्धा प्रकट की है[1], प्राचीनों के साथ नवीन कवियों का उल्लेख किया है[2] और नवीन ऋचाओं को स्वीकार करने की प्रार्थना की है।[3] विण्टरनिट्ज ने अपने इतिहास में ब्लूमफील्ड के कथन का उल्लेख किया है जिसके अनुसार ऋग्वेद में ५००० पंक्तियाँ पुनरुक्त हैं।[4] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आधुनिक युग के समान ही तत्कालीन अनेक कवियों ने प्रचलित पक्ति विशेष को आधार मानकर समस्या पूर्ति के रूप में उन ऋचाओं की रचना की होगी। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद अनेक परम्पराओं का विकसित स्वरूप उपस्थित करता है और उसे काव्य का उद्गम मान लेना असमीचीन न होगा। ऋग्वेद की पूर्ववर्ती रचनाओं में से एक भी अब उपलब्ध नहीं है अतः संसार का सर्वप्रथम काव्य-संग्रह ऋग्वेद को ही मानना पड़ेगा।

## साहित्यिक महत्त्व—

विण्टरनिट्ज का कथन है कि जब तक ऋग्वेद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को मान कर न चला जायेगा तब तक कालिदास की प्रौढ एव परिष्कृत रचना, कपिल की दार्शनिक शक्ति, जयदेव की आनन्दमयी रहस्यात्मक प्रवृत्ति और व्यास तथा वाल्मीकि की प्रसाद-गुण-पूर्ण शैली, ये सभी जो स्वय में इतने महत्त्वपूर्ण है, रेगिस्तान मे हरे-भरे प्रदेशों (नखलिस्तान) की भाँति बिखरे-बिखरे प्रतीत होंगे। मैक्डानल ने भी कहा है कि वैदिक काल के पूर्वार्ध का साहित्य सर्जनात्मक तथा कवित्वमय है।[5] इसी प्रकार इम्पीरियल गज़ेटियर मे भी वैदिक साहित्य का महत्त्व स्वीकार किया गया है।[6] निःसन्देह ऋग्वेद मे अनेक ऋचाएँ ऐसी है जो किसी भी भाषा की उत्कृष्टतम रचना के समकक्ष रखी जा सकती हैं। यद्यपि परवर्ती प्राञ्जल साहित्य की अपेक्षा उनमे अभिव्यक्तिगत अन्तर स्पष्ट दीख पडता है तथापि उनकी सहज अनवद्य हृद्यता की उपेक्षा कोई भी रसिक पाठक कर नही सकता। इसी प्रकार आगमकालीन प्रौढ दार्शनिकता के दर्शन ऋग्वेद में चाहे न हो किन्तु वे मूलतत्त्व अवश्य विद्यमान है जिनकी नीव पर भारतीय दर्शन का पूरा भवन खडा है।

यह सत्य है कि ऋग्वेद का सकलन उपासना, स्तुति और यज्ञों के लिए हुआ अतः इसमें प्रायः यज्ञपूरक मत्रों का ही सग्रह हुआ है तथापि कुछ ऐसे मन्त्रों का भी समावेश हुआ है जो उक्त विषयों से सर्वथा भिन्न विषयो पर आधारित है, जिन्हें

1. पुरा देवा अनवद्यास आसन। ७।९१।४ त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यास। ७।७६।४।
2. ये च विप्राः, ऋ० ७।२२।९।
3. प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि। ऋ० ७।६१।६, शुचि नु स्तोमं नवजातमद्य इन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम्। ऋ० ७।९३।१।
4. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, वाल्यूम १, अ० १।
5. In the former half of vedic age the character of its literature is creative and Practical. (*Macdonell, Hist. of Sons. Lit., Page 8*)
6. देखिये, पृष्ठ २०६।

पाश्चात्य विद्वानों ने 'सेक्यूलर' कहा है और हम लौकिक कह सकते हैं। प्रकृति के कतिपय दृश्य ऐसे भी हैं जिनमें देवत्व की प्रतिष्ठा नहीं की गयी है। विण्टरानिट्ज़ के शब्दों में "बहुत से सूक्त न तो सूर्यदेव को ही अर्पित किये गये हैं, न अग्निदेव को, न द्यौ को, न वायु तथा जल देवों को और न उषा देवी को ही ये सूक्त अर्पित किये गये हैं, किन्तु स्वयं प्रकाशमान सूर्य, रात्रि में गगन में चमकता हुआ चन्द्रमा, वेदी अथवा चूल्हे से उठती हुई अग्नि की लपटे या मेघों से फूटने वाली विद्युत की दीप्ति, दिन का निर्मल और रात्रि का तारों भरा आकाश, गरजता हुआ वायु, मेघों या नदियों से प्रवाहित होने वाला जल, प्रकाशमयी उषा' और शस्यश्यामला विस्तृत पृथ्वी, इन समस्त प्राकृतिक दृश्यों का कवित्वपूर्ण वर्णन किया गया है।[1] ऋग्वेद में काव्य-तत्त्वों का उल्लेख करते हुए प्रो० हिरियन्ना कहते हैं कि प्राचीनतम भारतीय काव्य, जो हमे उपलब्ध है, ऋग्वेद मे संगृहीत है। यह प्रसिद्ध है कि इस कृति मे धार्मिक गीतों का संकलन हुआ है तथा आधुनिक अध्येता की रुचि के अनुसार इसका महत्त्व ऐतिहासिक है काव्यात्मक नहीं, किन्तु साथ ही साथ यह सोचना ठीक नहीं कि इसमें काव्यात्मक तत्त्वो का सर्वथा अभाव है। धार्मिक उत्साह सर्वत्र ही वास्तविक कविता का उद्गम रहा है और भारतवर्ष भी इस नियम का अपवाद नहीं है। ऋग्वेद का काव्यात्मक पक्ष भी है तथा कुछ सूक्तो मे वस्तुतः उत्कृष्ट कोटि के काव्य-गुणो का समावेश हुआ है।[2] ऋग्वेद के इन काव्य गुणों का उद्घाटन कर उनमे गीति-तत्त्वों के अन्वेषण का प्रयास यहां किया जायेगा।

ऋग्वेद का काव्य प्रकृति का काव्य है। वैदिक ऋषियों के जीवन ने प्रकृति की ही मोददायिनी गोद मे आंखे खोली थी, उसी मे वह विकसित, पल्लवित और पुष्पित हुआ और अन्त में संसार मे युग-युगान्त तक प्रसृत रहने वाले अपने सौरभ को छोड़ कर वह प्रकृति की गोद मे ही विलीन भी हो गया। प्रकृति के तनुजन्माओं का धर्म भी प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। वही उनकी उपास्य थी, उसी के विविध तत्त्व उनके देवता थे। प्रकृति के साथ मानव का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध कदाचित् ही किसी अन्य युग मे रहा हो। ऋषियों ने संमोहनमयी प्रकृति की सुन्दरता को निहारा, निहारा ही नहीं अनुभव भी किया और अनुभव ही नहीं किया उसके अदम्य प्रभाव का मोहक वर्णन भी किया। उस समय तक नर काव्य का उदय तो अवश्य हो चुका था पर प्राधान्य प्रकृति-काव्य का ही था क्योंकि भौतिक कृत्रिमता की लौह-प्राचीर तब तक अपना सिर उठाकर खड़ी नहीं हो पायी थी।

1 हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम १।

2. The earliest Indian poetry that has come down to us is found in the Rigveda. It is well known that this work consists of sacred songs and that interest to a modern student is historical, not poetical. But at the same time, it would be incorrect to think that the work is devoid of aesthetic merit. Religious fervour everywhere gives rise to poetry and India is not an exception to the rule. The Rigveda has a poetic side also and the poetic quality exhibited in some of the hymns is indeed very high. (*Sanskrit Studies, page 1*)

अतः प्रकृति से मानव का सीधा सम्बन्ध था। उस समय प्रकृति को केवल उद्दीपन के अत्यन्त संकुचित प्रकोष्ठ में बन्दी करने की चेष्टा नहीं की गयी। यही कारण है कि कविता के उस अरुणोदय काल में प्रकृति के इतने सुन्दर चित्र उपस्थित हुए जिनके वर्णन आज भी आँखों को ही नहीं, मन को भी मुग्ध कर लेते हैं। काल की सतत अविराम गति से उठती उठती हुई धूलि, जिसके नीचे तब से अब तक न जाने कितने साम्राज्य, नगर, प्रासाद दब गये, इनका स्पर्श तक न कर सकी। इनकी सुन्दरता में सत्य निहित है और सत्य में शिव। प्रकृति में जिस देवता की प्रतिष्ठा इन मन्त्र-द्रष्टाओं ने की थी परवर्ती कवि सभ्यता-जन्य कृत्रिमता का बहुत कुछ आवरण सामने आ जाने पर भी उसका दर्शन **'वनदेवता'** के रूप मे करते रहे और उसे अपने नाटकों की नायिका की प्रिय सहचरी बनाते रहे। निःसन्देह यह उसी कोटि की कविता है जिसकी प्रकृति के अव्यवहित सम्पर्क में स्थित समाज में उद्भूत होने और पनपने की आशा की जा सकती है।[1] मन्त्रद्रष्टाओं की भावुकता स्थान स्थान पर फूटी पड़ती है जिसके कारण कमनीय काव्य-कला के स्वत. निदर्शन के रूप मे एक नही सैकड़ों मन्त्र उपस्थित किये जा सकते हैं। भाव-प्रकाशन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियों के आर्ष चक्षुओं द्वारा अनुभूत तत्त्वों के नितान्त सरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक है। वैदिक ऋषि मनोऽभिलषित भावो को थोडे से चुने हुए सुबोध शब्दो मे सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय-समय पर वह अपने भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति के हेतु अलङ्कारों का विधान करने से भी पराङ्मुख नही होता।[2] वेद के सूक्तो में नाना देवताओं से यज्ञ मे पधारने के लिए, भौतिक सुख-सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दो मे स्तुति की गयी है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विकास और उनकी प्रार्थनाओं मे कोमल भावो तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओ की रुचिर अभिव्यञ्जना है।[3]

प्राकृतिक वर्णनों मे सबसे अधिक मनोज्ञ एवं सुकुमार कल्पनाएँ उषा के प्रसङ्ग में प्राप्त होती हैं जिनमे शृङ्गार भावना का सूक्ष्म किन्तु मृदुल एव मधुर स्वरूप भी अनेकत्र द्रष्टव्य है। साथ ही कोमल कान्त पदावली का स्वाभाविक प्रभाव भी लक्षित करने योग्य है—

**जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः।**[4]

इन शब्दों में कवि ने उषा की उपमा शोभनवस्त्रावृत युवती से दी है तथा नारी के कोमल हृदय का स्पर्श कर एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की अभिव्ञ्जना की है।

---

1. This poetry is such as may be expected to arise in a society which was in intimate communion with nature.
(*Prof. Hiriyanna, Sanskrit Studies, page 2*)

2. बलदेव उपाध्याय, आलोचना, अङ्क ११, पृष्ठ ५८।

3. वही, पृष्ठ ५६।

4. ऋग्वेद, १।१२४।७।

कौन सुन्दरी अपने प्रियतम के समक्ष हृदय नहीं खोल देती ? सुन्दरतम सज्जा-सम्पन्न रूप से रिझाकर कौन उसे अपना वंशवद नहीं बना लेना चाहती ? यह आभा अपनी मसृणता के कारण ऋग्वेद के ऋषियों को बड़ी पसन्द प्रतीत होती है। दशम मण्डल में एक दूसरा ऋषि व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ कहता है—

> उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं,
> उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
> उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे,
> जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ १०।७१।४

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार इसका अर्थ है—व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति एक ऐसा जीव है जो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता, किन्तु व्याकरण के ज्ञाता के लिये वाणी अपना स्वरूप उसी प्रकार खोल देती है जिस प्रकार शोभन वस्त्रों में सुसज्जित कामिनी अपने पति के समक्ष अपने आपको समर्पित कर देती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपमा की मार्मिकता के साथ विरोधाभास का चमत्कार और लक्षणा की स्वाभाविक शक्ति वर्ण्यविषय की शुष्कता को सरसता मे परिणत कर काव्य का सुन्दर रूप उपस्थित करती है। अस्तु, उषा की सुकुमारता की व्यञ्जना का उत्कर्ष इन आशङ्कापूर्ण शब्दों से स्पष्ट लक्षित होता है कि कहीं सूर्य की तीव्र किरणें उसे संतप्त न कर दें जिस प्रकार राजा चोर अथवा शत्रु को संतप्त करता है—

**नेत् त्वां स्तेनं न यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिसा सुजाते अश्वसूनृते ।**[1]

रङ्गमञ्च पर थिरकने वाली नर्तकी की तनुयष्टि, जिसका उन्मुक्त सौन्दर्य दर्शकों को मोहित कर लेता है, उपमान रूप में प्रयुक्त होकर उषा की विशद रमणीयता को अपने ही समान साकार बनाती हुई इस पंक्ति में दृग्गोचर होती है—

**अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ।**[2]

अपना वक्ष खोलकर दर्शकों को मोह लेने वाली नर्तकी, ऋषियों को आकृष्ट कर लेने वाली वैसी ही उषा और सहृदयों को लुभाने वाली इस ऋचा में कौन अधिक सुन्दर है यह कहना कठिन है। उषा को विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया है। वह चमचमाते वेश में बड़े गर्व के साथ आती है जैसे उसके कमनीय कलेवर को उसकी माता ने अलंकृत कर दिया हो जिसे अपनी पुत्री के सौन्दर्य पर गर्व है। प्रकाश का आवरण धारण किये हुए वह तरुणी पूर्व की ओर दिखायी देती है और अपने सौन्दर्य-सम्मोहन से दर्शकों को मोह लेती है। प्राची के पट को खोलकर वह लजीले

---

1. ऋ० वे० ५।७९।९ ।
2. ऋ० वे० १।९२।४ ।

चरणों से चलती है। गौर वर्ण वाली, सुसज्जित, अपने सौन्दर्य से अभिज्ञ, स्नान करके ऊपर को उठी हुई रमणी की भाँति आकाश-पुत्री उषा अन्धकार को विलीन करती हुई संचार करती हमारे सामने खड़ी हो जाती है। यह आकाश की रमणीय पुत्री मङ्गलमय वेष धारण कर पतिव्रता स्त्री के समान सामने आने पर लज्जा से मस्तक झुका लेती है। अपने पूजक को कृतार्थ करती हुई यह नित्य यौवना पूर्ववत् इस समय भी प्रकाश को लाई है।[1] वह जलतरङ्गों के समान जाती हुई दीख पड़ती है।[2] जिस प्रकार एक रूपवती रमणी सभी के आनन्दमय कौतूहल का कारण बनती है उसी प्रकार उषा भी सभी को आनन्द देती हुई आती है।[3] यह उषा सम्यक् संचरणशील सूर्य की पत्नी है और अन्धकार को उसी प्रकार समेट लेती है जिस प्रकार कोई तरुणी अपने वस्त्र को लपेट कर रखती है।[4] देखिए यह किस प्रकार शृङ्गार करके मुस्काती हुई कुमारी के समान सूर्य के पास जा रही है—

**कन्येव तन्वा शाश्दानां एषि देवि देवमियक्षमाणम्।**
**संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥**[5]

वह कमनीय कन्या के समान अत्यन्त सज्जित आकर्षक वेष मे अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती है और यह मुस्काती हुई तरुणी उसके समक्ष अपने वक्ष को अनावृत कर देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उषा की सौम्य सुषमा का प्रभाव कवि के हृदय पर अमिट रूप से अङ्कित ही नही हुआ अपितु उसकी सरसता से व्यापक होकर छलक भी उठा है और **'पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया'** के अनुसार कवि उसकी अभिव्यक्ति के लिये आकुल हो उठा है। अभिव्यक्ति को भावानुरूप रूप देने के लिए ही उसने मानवीकरण का आश्रय लेकर उषा को प्रसन्न-वदना सुन्दरी कुमारी युवती के रूप मे प्रणय-निवेदन के लिए सूर्य के पास जाते हुए देखा। यहा हमे जानड्रिङ्कवाटर के ये शब्द याद आ जाते हैं कि कवि की अभिव्यक्ति उसकी पूर्ण अनुभूति का चिन्ह है, जो कुछ वह यथा सम्भव श्रेष्ठ (तम) ढँग से कहता है वह उसने अतिशय उत्तम ढँग से—अर्थात् पूर्णतया—अनुभूत भी किया है।[6] इसी को वह कविता अथवा गीति का मुल तत्त्व मानता भी है यह हम पहले कह आये हैं।

उषा के इस वैदिक स्वरूप पर पाश्चात्य विद्वान् भी मुग्ध है। व्हीलर ने लिखा है कि हमे (ऋग्वेद में) प्रातःकालीन प्रकाश की प्रथम पीतवर्ण रश्मि के एक सुन्दरी कुमारी के रूप में दर्शन होते है, वह जगत को उसी प्रकार जगाती हुई प्रतीत

1. ऋग्वेद, ५।४०।५-६।
2. ,, ६।६१।१।
3. ,, १।४८।५।
4. ,, ३।६४।४।
5. ,, १।१२३।१ ।
6. The poet's exp ssion is the token of perfect experience; What he says in the best possible way, he has felt in the best possible way, that is completely. (*The Lyric, page 9*)

होती है जिस प्रकार कोई युवती अपने बच्चों को। यह कवित्वमय धारणा वैदिक गायकों पर विचित्र संमोहन डाले हुए थी नवोढ़ा से भी अधिक स्पृहणीय नारी रूप में उषा जिस उत्साह के साथ चित्रित की गई है वह कदाचित आधुनिक रुचि से मेल नहीं खा सकता।[1] मैक्डानल का कथन है कि सबसे अधिक कवित्वमय सूक्त वे हैं जो उषा की स्तुति में रचे गये है। वे काव्य सौन्दर्य में यदि किसी भी अन्य साहित्य के धार्मिक गीतिकाव्य से बढ़कर नही तो कम से कम बराबर तो हैं ही।[2] इन शब्दों में मैक्डानल ने उषस्-सूक्तों की धार्मिक गीतिविषयक सर्वोत्कृष्टता कुछ दबे से शब्दों मे स्वीकार की है किन्तु उसके विवेकी हृदय को इससे सन्तोष प्राप्त न हो सका। अतः उसने पूर्णतया विचार करने के पश्चात् जो निष्कर्ष निकाला उसके अनुसार 'उषा वैदिक कवियों की सर्वसुन्दर सृष्टि है जिसके सौन्दर्य को अन्य किसी भी साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीतिकाव्य का सौन्दर्य नहीं पहुँच सका है।[3] मैक्डानल के इन शब्दों से यह भी स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि उषा के सौन्दर्य-वर्णन से प्रभावित होकर उन्होने उसे ऋषियों द्वारा सृष्ट मानवीय-गुण-सम्पन्न पात्र मान लिया है। *She* और *creation* शब्द स्पष्ट ही इस तथ्य को द्योतित करते है। डा० कीथ ने भी उषा-वर्णन के आधार पर वैदिक कवियो की शृङ्गारिक-रचना-सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि जो वैदिक कवि उषा देवी की उपमा एक सुन्दरी नर्तकी से और अपने प्रियतम के समक्ष निज वक्ष अनावृत कर देने वाली कुमारी से े सकते थे, वे धर्मनिरपेक्ष उपयोग के हेतु शृङ्गारिक रचना करने में अक्षम नहीं थे।[1] उषा की दूसरी बहिन रात्रि को भी देखिए। वह शाश्वत देवी नीचे, ऊँचे और विस्तृत सभी स्थानो मे फैल जाती है। उसने आकर अपनी बहिन उषा को हटा दिया है। रात्रि के आगमन पर हम आ जाते है। जैसे, पक्षियों के समूह अपने वृक्ष-स्थित नीडों मे चले जाते है। लोग अपने-अपने घर चले जाते हैं, पशु-पक्षी भी घर चले जाते हैं। लालची बाज तक अपने घर चले जाते है। हे रात्रि! वृकी, वृक और चोरों

1. We have the vision of early morning; of the first pale flush of light, imaged as a pure lovely maiden awakening the sleeping world as a young wife awakens her children. This poetic conception seems to have had peculiar charms for the old vedic bards...As a mere female, Usha is likened to a young bride, with perhaps more warmth of painting than would suit modern taste.

(*Wheeler, India Vedic & Postvedic, page 29-30*)

2. The most poetical hymns are those addressed to down, equal if not superior in beauty to the religious lyrics of any other literature.

(*Macdonell, A Vedic Reader, Introduction, page 28*)

3. In any case, she (उषस्) is their most graceful creation, the charm of which is unsurpassed in the descriptive religious lyric of any other literature.

(*Macdonell, Hist. of Sans. Lit., page 81*)

4. The vedic poets, who can compare the goddess of dawn to a fair dancer, to a maiden who unveils her bosom to a lover, can not have been incapable of producing love poetry for secular use.

(*Keith, Hist. of Sans. Lit., page 42.*)

को दूर रख कर हमारे लिए सहज व्यतीत करने योग्य बनो। हे उषस् ! सघन घिरे हुए विकट अन्धकार को मुझसे दूर रखो, उसे ऋण के समान निःशेष कर दो।[1]

प्रकृति के अन्य तत्त्वों का भी भावमय रोचक वर्णन ऋग्वेद में मिलता है, "सूर्य देवताओं का देदीप्यमान वदन है, मित्र, वरुण और अग्नि की आँख है, स्थावर जङ्गम की आत्मा है, वह पृथ्वी एवं आकाश तथा उनके मध्यवर्ती स्थान में व्याप्त हो जाता है। रोचमाना उषा के पीछे-पीछे सूर्य इसी प्रकार जाता है जिस प्रकार शोभन अवयवों वाली युवती का पीछा करने वाला कोई पुरुष। सूर्य की रसहरणशील रश्मियाँ आकाश में फैल जाती हैं। वे तत्काल ही पृथ्वी और गगन को व्याप्त कर लेती है। यह सूर्य का महत्त्व और देवत्व हैं कि संसार का फैला हुआ कर्म-जाल मध्य में ही समेट लेता है ज्यों ही वह अपनी व्यापनशील किरणों को संहृत करता है रात्रि चतुर्दिक् अपना आवरण डाल देती है।[2] चमकता हुआ सूर्य उषा की गोद से उठता है, गायक उसका उसका स्वागत करते है। आकाश का यह स्वर्णमय रत्न दूर से ही चमकता हुआ उदित होकर अपने सुदूर लक्ष्य की ओर चलता है। वह अपने पथ पर श्येन की भाँति तीव्र गति से बढ़ता है।[3]

पर्जन्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—"चाबुक से अपने घोड़ों को प्रेरित करता हुआ पर्जन्य स्त्री के समान अपने दृष्टि-दूतों को प्रकट करता है। जब वह आकाश को वर्षा से व्याप्त करता है तो दूरस्थ सिंह के समान गर्जन करता हुआ प्रतीत होता है। जब वह पृथ्वी पर रेतस् (बीज उत्पन्न करने वाला जल) बरसाता है तो वायु चलती है, बिजली कड़कती है, वनस्पतियाँ विकसित होती है और समस्त संसार मे प्रकृति जीवित हो उठती है। जिसके इंगित से पृथ्वी झुक जाती है, पशु उछल-कूद मचाते है, वनस्पतियाँ विविध रूप में प्रकट होती है, वह पर्जन्य हमारे महान् कल्याण का अधायक बने।[4] वायु का वर्णन करता हुआ एक ऋषि कहता है कि जब वायु का रथ चलता है तो उसका घोष गर्जन करता हुआ तथा (वातावरण को) चीरता हुआ चलता है आकाश को छूकर वह कुछ अरुण बनाता हुआ और पृथ्वी पर सर्वत्र धूलि उड़ाता हुआ चलता है। पडी हुई अनेक वस्तुएँ उसके पीछे उसी प्रकार चल देती है जैसे स्त्रियाँ किसी मेले मे जाती हैं और इस विश्व का राजा वायु उन सबके साथ अपने रथ में बैठा हुआ चला जाता है। अन्तरिक्ष में अपने मार्ग पर सतत चलता हुआ वायु किसी भी दिन विश्राम नही करता। यह जल का सखा सबसे पहले उत्पन्न हुआ किन्तु न जाने कहाँ उत्पन्न हुआ ? कहाँ से आया ?[5]

इस प्रकार के शुद्ध प्रकृति-वर्णन के उत्तमोत्तम चित्रों से ऋग्वेद भरा पड़ा

1. ऋ० वे० १०।१२७।१।५।
2. ऋ० वे० मण्डल, १।११५।१।४।
3. वही, ७।६३।१।४।
4. वही, ५।८३।१।५।
5. वही, १०।१६८।१।३।

है जिनमें कवि का प्रकृति-विषयक राग दूर से ही स्पष्ट दिखाई देता हुआ नयनाभिराम झाँकी प्रस्तुत करता है। इन कतिपय उदाहरणों से प्रो० हिरियन्ना के उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है और इस कथन मे सन्देह करने की गुञ्जाइश नहीं रह जाती कि प्रकृति विषयक रति के ऐसे उदाहरण विश्व-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। प्रकृति जैसे कवि की कल्पना के प्रकाश मे शाश्वत रूप से प्रतिष्ठा पाकर व्यापकता के साथ चमक उठी है। कवि की कल्पना शक्ति का प्रस्फुटन प्राकृतिक तत्त्वों के मानवीकरण में ही नहीं हुआ अपितु उषा के व्यापक सौन्दर्य के चित्रों में भी उसका उद्रेक द्रष्टव्य है जो अन्तःकरण को आनन्दमग्न कर देते हैं। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण से वही अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है जिसकी प्राप्ति के लिए हम कला-कृतियो की शरण लिया करते है।[1]

किन्तु ऋग्वेद मे कोरा प्रकृति-वर्णन और स्तुतियाँ ही नहीं हैं। मानव मनोविकारों की स्पष्ट व्यञ्जना करने वाली कविता भी इसमे मौजूद है। प्रकृति-विषयक रति के अतिरिक्त दाम्पत्य-रति और यौन-भावना की अदम्यता के सूचक सूक्त भी सगृहीत है। पुरुरवा और उर्वशी का सवाद-सूक्त तथा यम के प्रति यमी का प्रणय-निवेदन-संवाद उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किये जा सकते है।

यम और यमी भाई बहिन थे। यमी ने समुद्र के मध्यवर्ती एक द्वीप में निर्जन प्रदेश मे यम से गर्भाधान की प्रार्थना की। यम ने प्रस्तावित यौन-सम्बन्ध-विषयक मैत्री का प्रत्याख्यान करते हुए कहा कि भाई बहिन मे यह सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। यमी ने प्रजापति का उदाहरण दिया, एक ही माता के उदर में रहने के रूप मे प्रजापति द्वारा प्रथमतः एव दोनों के दाम्पत्य भाव को विहित मान लेने की युक्ति दी। निर्जनता के कारण किसी के द्वारा देखे जाने की आशका भी नहीं है, यह भी कहा और पुत्र-प्राप्ति का प्रलोभन भी दिखाया किन्तु यम अपनी शान्त मुद्रा से गम्भीरतापूर्वक इस धर्म-व्यतिक्रम के प्रस्ताव को ठुकराते ही रहे। उन्हें भाई बहिन में दाम्पत्य सम्बन्ध अनुचित ही प्रतीत हुआ। उन्होंने कहा कि शायद आगे किसी युग मे भाई बहिन मे यह सम्बन्ध हो सके। एकान्त स्थान वाले तर्क को उन्होंने यह कहकर टाल दिया कि प्रजापति के दूत सदा सर्वत्र-विचरण करते रहते है। अन्त में यमी कुछ खीझकर कहती है—

**किं भ्राता सदनाथं भवति, किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।**
**काममूता बह्वेतद्रपामि, तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि ॥[2]**

1. Nature is here presented to us suffused in a continual light of the poet's fancy, whose power we feel not only in the bold personifications but also in the refreshing pictures of the physical aspects of the dawn. Such imaginative rendering of nature can not fail to give us a peculiar joy for which we almost instinctively go to works of art.

(*Prof. Hiriyanna, Sans. Poetry. A Historical Review, page 3*)

2. ऋ० वे० १०-१०-११ । तुलना कीजिए—स किं सखा साधु न शास्ति यो नृपं हितान्यः संशृणुते स किं प्रभुः ।

वह कैसा भाई जिसके होते हुए बहिन अनाथ रहे और वह क्या बहिन जिसके होते हुए भाई दुःखी रहे ? मैं काम-संतप्त होकर बार-बार तुम से कह रही हूँ, अपने शरीर से मेरे शरीर का आश्लेष करो।

किन्तु यम का संयम अडिग ही रहा। इस पर यमी कातर वाणी मे कहती है—

**बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।**
**अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षं ॥[1]**

ओह यम ! तुम कितने दुर्बल और दयनीय हो ! तुम्हारे मन और विवेक को मै समझ नही पायी। दूसरी स्त्री तुम्हे कक्ष्या (कमर की पेटी) के समान आलिङ्गित किये रहती है, उसी प्रकार जिस प्रकार लता वृक्ष से लिपटी रहती है (और मेरे प्रणय को तुम ठुकराते हो।) यम उसके वचनों से द्रवित न होते हुए उसे अन्य पुरुष के वरण का उपदेश देते है—

**अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षं।**
**तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्रां ॥[2]**

यमी ! तुम किसी अन्य पुरुष का और वह तुम्हारा लता वृक्ष की भांति आलिङ्गन करे। तुम उसकी वशवर्तिनी और वह तुम्हारा वशवर्ती होकर मङ्गलमय पथ पर अग्रसर हो।

इस सूक्त मे काम के उद्दाम वेग मे बहती हुई नारी का प्रणय-निवेदन है। शास्त्रीय दृष्टि से इसे रस न कह कर रसाभास कहेंगे क्योंकि बहिन के हृदय में भाई के प्रति दाम्पत्य रति का अनौचित्य रस के मार्ग मे बाधक है। अनौचित्य-प्रवृत्त ही सही, किन्तु रति के अस्तित्व से इनकार नही किया जा सकता। साथ ही अनुभूति की स्वाभाविकता और भाषा की सरलता तथा सरसता भी ध्यान देने योग्य है।

इसी प्रकार सूर्या सूक्त[3] में दाम्पत्य रति का सभोग पक्ष चित्रित किया गया है। इसमे सूर्या और सोम के विवाह-प्रसङ्ग का कुछ विस्तार के साथ वर्णन है। एक ऋचा मे सुरत का नग्न उल्लेख भी मिलता है जिसे हम सायण-भाष्य सहित यहाँ उद्धृत करते है—

**तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपंति।**
**या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशंतः प्रहराम शेपं ॥[4]**

**हे पूषन् पोषकर्तन्नामक देव ! शिवतमामत्यन्तमङ्गलभूतां तामेरयस्व। आ ईरय, सर्वतः प्रेरय। यस्यामूरौ बीजं रेतोलक्षणं मनुष्या वपन्ति आदधते। या नो**

1. ऋग्वेद, १०।१०।३।
2. " " १०।१०।१४।
3. " " १०।८५।
4. " " १०।८५।३७।

अस्माकमूरू उशती कामयमाना विश्रयाते। यस्यामूरावुशन्तः कामयमाना वयं क्षेपं स्पर्शनयोग्यं पुंस्प्रजननं प्रहरामः ऊरौ व्यञ्जनसम्बन्धं करवाम इत्यर्थः (सायण)।

पुरुरवा और उर्वशी के संवाद-सूक्त मे विप्रलम्भ शृङ्गार का मार्मिक चित्रण हुआ है। ऋग्वेद में संवाद-मात्र दिया हुआ है। कथा का उन्नयन शतपथ ब्राह्मण से करना पड़ता है।[1] बृहद्देवता में भी यह कथा किञ्चित् परिवर्तित रूप मे मिलती है।[2] पुरुरवा मानव था और उर्वशी अप्सरा। उर्वशी ने उससे इस शर्त पर विवाह किया था कि पुरुरवा उसे शय्या के अतिरिक्त अन्यत्र नग्न न दिखायी दे अन्यथा वह तत्काल उसके पास से चली जायेगी। चार वर्ष तक दोनो विलास-सुख भोगते रहे किन्तु इधर देवताओं की सभा उर्वशी के बिना फीकी पड़ गई। वे उसे लौटाना चाहते थे। एक बार जब वे एक शय्या पर रति-केलि-सलग्न थे तो उर्वशी के एक पुत्र को किसी ने हर लिया। वह चिल्लायी कि मेरे पुत्र को अनाथ की भाँति हरा जा रहा है। पुरुरवा नग्न था उसने अपहर्त्ता का पीछा नही किया। इस पर दूसरा पुत्र भी पहले के समान अपहृत कर लिया गया, वह फिर चीख उठी। पुरुरवा से न रहा गया। उसने उठकर पीछा किया और लडको को छुडा लाया। जल्दी मे वह वस्त्र धारण करना भूल ही गया था। देवताओं ने विद्युत् चमका कर उर्वशी को वह नग्न दिखा दिया और वह उसे छोड कर चली गयी। पुरुरवा उसके वियोग मे तड़पता फिरता था। एक बार वह मानसरोवर पर उसे स्नान करती हुई मिल गयी। उसने अपनी वियोग व्यथा उसे कह सुनायी। इसके आगे का संवाद ऋग्वेद मे है। पुरुरवा उर्वशी को लौटा ले जाना चाहता है पर उर्वशी निरन्तर मना करती चली जाती है। उर्वशी मे उसके प्रति कोई ईर्ष्या अथवा औदासीन्य का भाव नहीं है। केवल एक-आध ऋचा मे उसने 'मूर' (मूढ) कहकर पुरुरवा की भर्त्सना की है पर अधिकांश कथनो मे वह उसके प्रति सहानुभूतिमयी रही है। जब वियोग की मर्मान्तिक पीडा से संतप्त पुरुरवा उर्वशी के प्रत्याख्यान से निराश होकर कह उठता है—

> सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्परावतं परमां गंतवा।
> अधा शयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः ॥[3]

'तुम्हारा यह पति जिसने तुम्हारे साथ विलासकेलियाँ की थीं, आज यहीं गिर पड़े, वह दूर से दूर-इतना दूर-महाप्रस्थान कर जाये कि फिर लौटकर ही न आ सके, पृथ्वी की गोद में सो जाये, या उसे भेड़िये बलात् खा ले, तो उर्वशी का नारी-हृदय एकदम कराह उठता है वह कहती है—

> पुरुरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
> न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येताः ॥[4]

1. देखिये सायण भाष्य, १०-९५।
2. " आक्सफोर्ड से प्रकाशित, ऋक्संहिता १०म मण्डल की भूमिका।
3. ऋग्वेद, १०।९५।१४।
4. वही, १०।९५।१५।

पुरुरवा तुम न मरो, न गिरो और न ही अशुभ वृक तुम्हारा भक्षण करें। ये स्त्रियाँ ही वृक जैसे हृदय वाली होती हैं।

यहाँ पर भी **'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पश्चात् पुंसस्तदिङ्गितैः'** के विपरीत पुरुष-प्रवृत्त रति का वर्णन है। अतएव अनौचित्य प्रवर्तित होने के कारण रसाभास की आशङ्का उठती है। किन्तु यह बात ध्यान रखने की है कि उर्वशी और पुरुरवा में दाम्पत्य सम्बन्ध है। अतः इसे रसाभास नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार शृङ्गार रस से सम्बद्ध कोमलतम भावनाएँ, जिनके ऊपर संस्कत का अधिकाश गीतिकाव्य निर्भर रहा है, ऋग्वेद मे सहज सरल रूप में अभिव्यक्त हुई है—कही तो उपमानों के स्वरूप एवं व्यापारों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में और कही प्रत्यक्ष रस अथवा भाव की अभिव्यक्ति के रूप में। डा० शम्भूनाथ सिह ने इनमे कामशास्त्रीय समस्याओं का दर्शन किया है।[1]

उषा की रंगीनी पर मुग्ध वैदिक कवियों ने प्रकृति के मनोरम सौदर्य देवताओं के महान् महत्त्व और शृङ्गार की कोमल भावना के क्षेत्र मे भी अपनी दृष्टि को अवरुद्ध नही रखा। उषा के प्रत्येक नव आगमन के साथ-साथ जीवन के एक-एक दिन को खिसकते और परिणामतः जिन्दगी के अन्तिम छोर को उत्तरोत्तर निकट से निकटतर आते हुए भी देखा था। इस दर्शन-दृष्टि के साथ उन्होंने उषा का जो वर्णन किया है वह करुणा का सस्पर्श पाकर बडा ही मार्मिक हो उठा है। कवि की अन्तर्दृष्टि ने देखा कि यह **'पुराणी'** तथा दिव्य उषा प्रतिदिन एकसी ही साज-सज्जा और रंग में रगी आती है और मनुष्यो के जीवन को क्षीण करती चली जाती है।[2]

मानव हृदय की मार्मिक कथा का करुण चित्रण अक्षसूक्त में हुआ है जिसमे एक द्यूतकार की हृदयस्पर्शी अनुभूति की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। कान्ता के मृदु उपदेश की अवहेलना कर अपना सर्वस्व अक्षों की भेंट चढ़ाकर पश्चात्ताप के विषम अनल मे जलने वाले द्यूतकार की उक्तियों मे रमा हुआ पाठक यह सर्वथा भूल जाता है कि वह एक धार्मिक ग्रन्थ का अध्ययन कर रहा है, लगता है जैसे कोई भवभूति अपनी करुणा विपञ्ची के तारों से खेल रहा हो। सब कुछ गँवाकर द्यूतकार को पत्नी की बात याद आती है, वह सोचता है कि उसने मुझे कभी बुरा भला नहीं कहा, कभी अप्रसन्न नही हुई, मेरे तथा मेरे मित्रों के प्रति वह सदा कल्याणी रहती थी किन्तु इन अक्षों (द्यूत कीड़ा) के कारण मैने अपनी पति-परायणता पत्नी को निकाल दिया—

**न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।**
**अक्षस्याहमेकपरस्यहेतोरनुव्रतामपजायामरोधम्।।**[3]

1. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृष्ठ २८-२६।

2. There are other passage which add a poetic note to what is otherwise purely naturalistic poetry. For example, one poet states that the divine and ancient usas, born again and again and bright with unchanging hues, wastes away the life of mortals.

(*Prof. Hiriyanna, Sansk. Poetry, A Historical Retrospect, page 2*)

3. ऋग्वेद, १०-३४-२।

सात्त्विक क्षणों में विशदीभूत हृदय की यह आत्म-भर्त्सना कितनी मनोवैज्ञानिक है ! काव्यशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर इसमें स्मृति ग्लानि और विषाद का त्रिवेणी-सङ्गम हिलोरें ले रहा है । अन्य उदाहरण लीजिये—

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम् ।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ॥[1]

सास द्वेष करती है । पत्नी मुझे पास भी नहीं आने देती । आपत्ति में कोई सहायक नहीं मिल रहा । मेरी दशा एक बूढ़े घोड़े जैसी है जिसका मूल्य केवल एक वस्त्र लगाया जाता है ।[2] विवशता का कितना मर्मस्पर्शी चित्रण है । ज्ञात होता है कि द्यूत-व्यन्तर-समाविष्ट पति द्वारा अपमानित होकर पत्नी अपने नैहर चली गयी । द्यूतशाला में अपना सब कुछ गँवा कर जब उसकी आँखें खुली तो चेतना आयी, ससुराल पहुँचा, किन्तु अब अवसर निकल चुका था । सास ने अपमान किया, पत्नी ने रास्ता बता दिया, अब वह बूढ़े घोड़े के समान है, उसका कोई मूल्य नहीं, कोई उपयोग नहीं, कोई पूछता नही । उपमा की स्वाभाविकता अनुभूति को हृदयङ्गम बनाने मे सहायक है और "न नाथितो विन्दते मर्डितारम्" में लिपटा हुआ सत्य कानों में गूँजता हुआ ही नही रह जाता सूक्ति बनकर ओठों पर भी चढ़ जाता है । वस्तु-वर्णन की अपेक्षा अनुभूति प्रधान हो गयी है । यहाँ वस्तु-वर्णन का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है । वह तो मानसिक अभिव्यक्ति का आधार मात्र है । गीति के लिए और चाहिये ही क्या ? मैक्डानल ने इस सूक्त को करुण-भाव-पूर्ण-कविता का उत्कृष्ट उदाहरण बताया है ।[3]

युद्ध-उत्साह की अभिव्यंजना इन्द्र की स्तुतियों मे बड़े ही सुन्दर रूप में हुई है । आलम्बन के रूप में वृत्र, शम्बर, पणि आदि का वर्णन किया गया है । इन्द्र के युद्ध व्यापारों के विशद वर्णन में कवि की कल्पना नवीन-नवीन उद्भावनाओं द्वारा प्रभाव की सृष्टि करने में उत्कर्ष पर पहुँची हुई परिलक्षित होती है । यद्यपि आश्रय की वीरता में अधिकाधिक उत्कृष्टता लाने के लिए आलम्बन की वीरता का वर्णन नहीं किया गया है तथापि आलम्बन द्वारा किये कार्यों से ही उसका अनुमान लगाया जा सकता है, जैसे 'अहि' के वध का वर्णन करने मे कवि ने उसके द्वारा रोक लिये गये जल का उल्लेख किया है—

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥[4]

अर्थात् त्वष्टा द्वारा निर्मित स्वरयुक्त गर्जन करने वाले वज्र से इन्द्र ने वृत्र का

1. ऋग्वेद, १०।३४।३ ।
2. जो बिकने के लिए है (मैक्डानल) ।
3. The gambler's lament is a fine Specimen of pathetic poetry.
(*Vedic Reader, Int., page XXXIX*)
4. ऋग्वेद, १।३२।२ ॥

वध किया हो उसके द्वारा अवरुद्ध जल रम्भाती हुई धेनुओं के समान तेजी से बहता हुआ समुद्र की ओर चल निकला। बहुत दिनों तक रहने के कारण एकत्रभूत, और छोड़े जाने पर घोर शब्द के साथ तेजी से बहने वाले जल के लिये सायंकाल में चरागाहों से लौटती हुई अपने बछड़ों के लिए जोर से रम्भाती हुई उत्सुक धेनुओं की उपमा कितनी उपयुक्त है। जिस व्यक्ति ने इस विशाल जल राशि को रोका होगा वह कुछ विशेष ही शक्ति रखता होगा। अतः उसका वध करने वाला इन्द्र स्वतः ही वीर सिद्ध होता है। प्रो० बलदेव उपाध्याय का यह कथन उचित ही है कि उषा विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य भावना का आधिक्य है तो इन्द्र विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप-वर्णन में यदि स्वभावोक्ति का आश्रय है तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का विशद परिचायक चिन्ह है भावों की सहज अभिव्यक्ति; नि.सन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।[1] इन्द्र की वीरता को व्यञ्जित करने वाला एक अन्य उदाहरण लीजिये—

भीमो विवेषायुधेभिरेषामपांसि विश्वा नर्याणि विद्वान्।
इन्द्रः पुरो जर्हृषाणो वि दूधोत् वि वज्रहस्तो महिना जघान ॥[2]

अर्थात् मनुष्यों के हितकारक कर्म को जानता हुआ आयुधों से भयंकर इन्द्र असुरों के समूह मे प्रविष्ट हो गया, वे काँप उठे और इन्द्र ने वज्र लेकर उत्साह सहित उनका वध कर डाला। इसी प्रकार अन्य रसों के उदाहरण भी ऋग्वेद म खोजे जा सकते हैं। दानस्तुति में दानवीर का चित्रण हुआ है। इन्द्र सम्बन्धी सूक्तो में ही वीर के साथ रौद्र, भयानक आदि रस भी देखे जा सकते हैं। हास्य रस के उदाहरण के रूप मे मण्डूक सूक्त और शिशु आंगिरस का नाम लिया जा सकता है।

किन्तु ऋग्वेद का सबसे अधिक महत्त्व इस लिए है कि वह धर्म, दर्शन, भक्ति और पौराणिक आख्यानों का मूल उद्गम है। धार्मिक काव्य की दृष्टि से यास्क ने मन्त्रों के वर्ण्य विषय के तीन विभाग किये हैं—प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक कृत। प्रत्यक्षकृत उन मन्त्रों को कहा गया है जिनमे देवता को प्रत्यक्षवत् सम्बोधित करके स्तुति की गयी हो। परोक्षकृत मन्त्रों में ऋषियों ने ऐतिहासिक अथवा वर्णनात्मक शैली में देवताओं के महत्त्व का वर्णन किया है। इसमें स्तुत्य देवता को अन्य पुरुष सर्वनाम के रूप में व्यवहृत किया जाता है और आध्यात्मिक कृत मन्त्रो में आत्मानुभूति का स्पर्श रहता है।

प्रत्यक्षकृत मन्त्रों मे देवताओं से सीधी प्रार्थना की गयी है जैसे "हे अग्ने ! हम आपकी स्तुति करते हैं, यहाँ आइये, यह कुशा आपका आसन है, समिधा आपका इन्धन है।" इस प्रकार की स्तुतियों में प्रायः ऐहिक पदार्थों और सुखों की प्राप्ति के

1. आलोचना, अङ्क ११, पृष्ठ १६।
2. ऋग्वेद, ७।२१।८।

लिए ही प्रार्थना की गयी है और गौ, अन्न, वीर पुत्र, ब्रह्म-तेज आदि की माँग प्रस्तुत की गयी है। किन्तु उदात्त भावनाओं का भी यत्र-तत्र उदय देखा जा सकता है जिनमें विश्व-मंगल की कामना, राष्ट्रोन्नति का उत्साह और लोक-मर्यादा को बनाये रखने की रुचि का प्रतिफलन हुआ है। ऋत की प्रशंसा और अनृत की निन्दा के साथ-साथ ऋतमार्ग का अनुसरण करने वाले के अभ्युदय और उल्लंघन करने वाले के विनाश की भी भावना अभिव्यक्त हुई है।

परोक्षकृत मन्त्रों में तथ्य-कथन की अपेक्षा अतिरञ्जन का अधिक पुट देखा जाता है और कल्पना की जागरूकता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है किन्तु उससे स्वाभाविकता मे कोई बाधा नही आती अपितु रोचकता ही बढ़ती है। जैसे, बलवान् इन्द्र संग्रामों में तरणि है, घोड़े के समान है, आकाश और पृथ्वी में व्याप्त हो जाने वाले मेघों के समान है और स्तोताओं के लिये पिता के समान है।

आध्यामिक मन्त्रों के विषय में यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यहाँ इस शब्द का प्रयोग आधुनिक प्रचलित अर्थ मे नहीं हुआ है। इसके अन्तर्गत यास्क ने शपथ, अभिशाप अथवा किसी सत्यविशेष का प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों को माना है। निन्दा, प्रशसा और परिदेवना को भी इसी श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार के मन्त्रों का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इस श्रेणी में वैयक्तिक छाप से युक्त मन्त्रों को रखा गया है। वशिष्ठ का सुदास की विजय होने पर इन्द्र के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन, विश्वामित्र का नदी विषयक सूक्त, वशिष्ठ का रोगमुक्ति के लिए प्रार्थना वाला सूक्त, सब इसी प्रकार के हैं। ऐसे मन्त्रों में कहीं-कहीं आत्मसमर्पण की भावना का सुन्दर अभिव्यञ्जन हुआ है। यद्यपि वैदिक ऋषि की भक्ति सख्य भक्ति ही कही जा सकती है। उसमे आत्मसमर्पण का प्रकटीकरण अधिक नहीं हुआ है, पूजा, उपासना, यज्ञ आदि के बदले में वे अपने उपास्य देवता से साथ के साथ अभीष्ट वस्तुएँ माँगते रहे और असफल होने पर यह भी कह देते थे कि 'हे देव ! यदि मैं आपकी तरह सर्वसम्पत्तिशाली होता तो मेरा स्तोता सदा गायों का स्वामी रहता' तथापि दैन्यपूर्ण विनय की भी उत्कृष्ट उक्तियाँ यत्र-तत्र मिल ही जाती हैं जिनसे भक्त के हृदय की व्यथा फूटी पडती है। सान्द्र अनुभूति के साथ वैयक्तिकता के तत्त्व का भी प्रचुर समावेश ऐसे स्थलों पर हो गया है। इस प्रकार गीतिकाव्य की आधुनिक कसौटी पर कसने में भी ये उक्तियाँ पूर्णरूपेण सुवर्णमयी उतरती हैं। उदाहरण के रूप में वशिष्ठ द्वारा वरुण की स्तुति विषयक सूक्त उपस्थित किया जा सकता है। ज्ञात होता है कि महर्षि वशिष्ठ ऋषि ही नही भक्त भी थे और भक्त ही नहीं कवि भी थे। अपने आराध्य देव वरुण के दर्शनों की अभिलाषा में तड़पते हुए इस साधक की दशा देखिए—

उत स्वया तन्वा संवदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ॥[1]

---

[1] ऋग्वेद, ७।८६।२ ।

वे आप ही आप अपने मन से प्रश्न कर रहे हैं कि वह कौन सा समय होगा जब मैं वरुण देव में तल्लीन (अन्तर्भूत) हो जाऊंगा ? क्या वह क्रोध रहित होकर प्रसन्नचित्त मेरी हवि को ग्रहण करेंगे ? कब मैं उनके दर्शन मुक्त हृदय से कर सकूंगा।

भावविस्मृत होकर वे वरुण से मानसिक साक्षात्कार करते हुए पूछते हैं—

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छं।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥[1]

हे वरुण ! मुझे आपके दर्शनों की कामना है, मैं आपसे उस पाप को पूछता हूँ जिसके कारण मैं आपके पाशों मे बद्ध हूँ। सभी विद्वान् एक ही बात मुझसे कहते हैं कि तुमसे वरुण देव अप्रसन्न है।

मन्त्र का उत्तरार्ध स्तोता की मानसिक व्यग्रता का द्योतक है। सभी विद्वान् वरुण को अप्रसन्न बताते हैं। वे अनृत नही कह सकते, वरुण अप्रसन्न ही होगे। यह सोचकर उसका चित्त उद्विग्न हो उठता है और वह मनःप्रत्यक्ष वरुण से अपना अपराध पूछना चाहता है, अपना पुराना सम्बन्ध याद दिला कर उसके हृदय में सहानुभूति और दया का सञ्चार करना चाहता है—

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतार जिघांससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूलभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ॥[2]

हे वरुण ! कौन सा अपराध है जिसके कारण आप अपने ज्येष्ठ स्तोता को भी नष्ट करना चाहते हैं। तनिक बताइये तो मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

और अन्त मे वशिष्ठ कातर होकर क्षमा की प्रार्थना करते हैं—

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः।
अव राजन् पशुतृप न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ॥[3]

हे वरुण ! मेरे पूर्वजों के द्वारा किये हुए तथा मेरे स्वय इस शरीर द्वारा किये हुए अपराधो को क्षमा कर दीजिये। हे राजन् जिस प्रकार स्तैन्य-प्रायश्चित करने पर चोर को छोड़ दिया जाता है, जिस प्रकार बछड़े को रस्सी से खोल दिया जाता है उसी प्रकार मुझे भी अपने पाशों से मुक्त कर दीजिये।

कहने की आवश्यकता नही कि इन पंक्तियों में ज्ञान का तीव्र प्रकाश नहीं भावना की विशद सरसता है; दर्शन की काट-छाँट नही अनुभूति की अखण्ड एकता है; कर्मकाण्ड का जटिल विधान नहीं भक्ति-भाव जन्य विह्वलता का प्रतान है और कोरी उपासना नही, आत्मसमर्पण भी है। इसीलिए यह मन्त्र नहीं गीति है। सचमुच नम्रता तथा दीनता, अपराध-स्वीकृति तथा आत्मसमर्पण की भव्य भावनाओं से

1. ऋग्वेद, ७।८६।३।
2. वही, ७।८६।४।
3. वही, ७।८६।५।

अण्डित यह सूक्त वैष्णव भक्तो की सुध दिलाता है जिसमे उन्होंने अपने को हजारों अपराधों का भाजन बताकर भगवान् से आत्मसात् करने की याचना की है।[1] उपनिषदो के दर्शन-प्रवाह मे प्रतिबिंबित होने वाली तथा शकराचार्य के अहं ब्रह्मास्मि वाक्य मे समाहित अध्यान्तरिकता काव्यात्मक गुणो के साथ आम्भृणी की देवी सूक्त के नाम से प्रसिद्ध उक्तियो मे प्रस्फुटित हुई है। एक उदाहरण लीजिये—

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि
ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ॥
अहं जनाय समदं कृणोमि
अहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ १० १२५-६

अर्थात् ब्रह्मद्वेषी हिंसको के विनाश के लिए मैं ही रुद्र के धनुष को तानती हूं। मैं ही मनुष्यो मे युद्ध कराती हूँ और द्युलोक तथा पृथ्वीलोक मे सर्वत्र मैं ही व्याप्त हूँ। ऐसी रचनाओ को देखकर मैक्डानल को कहना पडा कि यूनान के प्राचीन युग के विपरीत वैदिक युग ने, जिसमे केवल धार्मिक कृतियो की ही सर्जना हुई है, गीति-गुणो की दृष्टि से एक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था।[2]

रसात्मक तथा धार्मिक काव्य के अतिरिक्त उदात्त भावनाओ के आधान एव ऐहिक जीवन की सफलता के उद्देश्य से लिखी हुई भी अनेक रचनाएँ इस विशाल कोष में सगृहीत हैं। यथा पीछे जिस अक्षसूक्त का उल्लेख किया गया है उसमे द्यूतकार की शोचनीय परिस्थिति का चित्रण कर उसे सत्पथ पर प्रवृत्त होने की सलाह दी गयी है—"हे द्यूतकार! तुम अब जुआ मत खेलना, अब तो तुम खेत ही जोतो और अपने धन को बहुत समझकर उसी से प्रेम रखो, मुझसे सबके प्रेरक सूर्यदेव ने कहा है कि खेती से ही गायें मिलती हैं, उसीसे स्त्री मिलती है।[3]

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ॥
तत्र गावः कितव तत्र जाया।
तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥

यह तो हुई भावात्मकता एव वर्ण्य विषय की बात। अब अभिव्यक्ति की शैली पर भी कुछ विचार कर लिया जाय। पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि अपनी सान्द्र अनुभूति, मसृणता एव सीमित स्थान के अनुरूप गीति काव्य की शैली काव्य की साधारण शैली से भिन्न हो जाती है। अभिधा के अर्थ-प्रपञ्च के लिए उसमें उपयुक्त स्थान नही मिलता इसीलिए गीतिकार को व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेना पडता है। उसका काव्य ध्वन्यात्मक होता है इसलिए भी उसे उच्चकोटि का कहा

1. बलदेव उपाध्याय, आलोचना, अङ्क ११, पृष्ठ ६।

2. The Vedic, which unlike the earlier epoch of Greek, produced only religious work reached a high standard of merit in lyric poetry
(*Macdonell, History of Sansk Lit, page 9*)

3 ऋग्वेद, १०।३४।१३।

जा सकता है। परवर्ती साहित्यिक कृतियो की कलात्मकता और ध्वन्यात्मकता की आशा ऋग्वेद से नही की जा सकती और न ही इस मापदण्ड के आधार पर उसका मूल्याङ्कन करना समीचीन है, फिर भी ध्वनि काव्य के अत्यन्त सुन्दर उदाहरणों का भी उसमें अभाव नही है—

**एवा च त्वं सरम आजग पन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन ।**
**स्वसार त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥**[1]

पणियो द्वारा इन्द्र की गाये हर लेने पर इन्द्र सरमा को दूती रूप में उसके पास भेजता है। वाद-विवाद होता है, पणि धमकियाँ देते है पर सरमा अपनी माँग पर अटल रहती है, तब वे कहते हैं कि—"सरमे ! तुम दैवी बल से प्रबाधित होकर (बलात् भेजी गयी) आयी हो तो हम तुम्हे अपनी बहिन बना लेंगे और तुम्हारे साथ गायें बाँट लेंगे इससे प्रतीत होता है कि पणि सरमा को अपने वश मे करना चाहते हैं। इसलिए यहाँ पर स्वत सभवी वस्तु से वस्तु ध्वनि है। हिरण्यगर्भ सूक्त की प्रसिद्ध पंक्ति कस्मै देवाय मनसा विधेम मे कस्मै शब्द हिरण्यगर्भ की अनिर्वचनीयता का द्योतक है और देव शब्द का विशेषण होने के कारण उसके अलौकिक देवत्व का बोधक है जिससे अन्य देवताओ की तुलना मे उसका उत्कर्ष अधिक व्यञ्जित होता है। इस प्रकार यहाँ वस्तु ध्वनि से अलङ्कार ध्वनि हो जाती है।

**परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्य इष्टये । वयो न वसतीरुप ।**[2] वशिष्ठ की मति धन प्राप्ति के लिए वरुण पर ही पहुँचती है। जैसे, पक्षी (विश्राम की आवश्यकता होने पर) अपने नीड पर पहुँचता है। इस उपमा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैसे पक्षी के लिए अपने घोसले से अधिक शान्तिप्रद और कोई स्थान नही होता उसी प्रकार वरुण के अतिरिक्त वशिष्ठ की गति अन्यत्र नही। इस प्रकार यहाँ उपमा अलङ्कार से वस्तु ध्वनि हुई।

ऋग्वेद मे अलङ्कारों का भी ऐसा समीचीन और स्वाभाविक उपयोग हुआ है जो परवर्ती साहित्य म नितान्त दुर्लभ है। वे भावना के उत्कर्षाधायक बन कर ही आये है, अपना सिर उठाते नही। कुछ उदाहरण लीजिए

**अनुप्रास :—**

**पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषाः । १-६२-११,**

**उपमा :—**

**मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । १०-१८०-२**

**मालोपमा :—**

**सूर्यस्येव वक्षथो ज्योतिरेषां समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।**
**वातस्येव प्रजवो नान्येन स्तोमो वसिष्ठा अन्वेतवे वः ॥ ७।३३।८**

---

1. ऋग्वेद, १०।१०८।८ ।
2. ऋग्वेद, १।२५।४ ।

गम्योत्प्रेक्षा :—

अस्येदु भिया गिरयश्च दृढा, द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते ।

मानो इन्द्र के भय से ही पर्वतों में दृढता आती जा रही है और आकाश तथा पृथ्वी काँप रहे हैं । भय द्वारा दृढता और काँपने की सम्भावना की गई है । इव आदि शब्द व्यञ्जक भी नहीं है, अत गम्योत्प्रेक्षा ही कही जायेगी ।

रूपक :—

"ता भूरिपाशावनृतस्य सेतू" ७-६५-३ तथा
"दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः" १०-३४-६

प्रथम उदाहरण में मित्रावरुण पर सेतुत्व का आरोप और दूसरे में अक्षो पर अङ्गारों का आरोप करना स्पष्ट ही रूपक है ।

श्लेष :—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ।। शौ० १-१-१

यहाँ पर वाचस्पति के अतिरिक्त वैयाकरण अर्थ भी वाच्य है वह भी स्वौजसादि विभक्तियों के २१ रूपों को धारण करता है ।

व्याजस्तुति :—

एतद् घेदुत वीर्यमिन्द्र चकर्थ पौंस्यं
स्त्रियं यद् दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ।। ४-३०-८

हे इन्द्र यह तुम्हारा पौरुष-पूर्ण पराक्रम है कि तुमने बेचारी एक स्त्री आकाश-पुत्री को मार डाला । स्पष्ट ही निन्दा प्रतीत होती है, किन्तु वस्तु स्थिति यह है कि द्युपुत्री रात्रि का विनाश उदित होता हुआ इन्द्र (आदित्य) करता ही है।

काव्यलिंग :—

अयं पिबा मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु । त्वं हि पूर्वपा असि । ४-४६-१

वायु से सर्वप्रथम सोम पीने की प्रार्थना की गयी है और पहले पीने का हेतु भी दे दिया है "त्वं हि पूर्वपा असि' अत काव्यलिङ्ग का सुन्दर उदाहरण है ।

परिकर :—

इन्द्रं प्रपृच्छा विपश्चितम् । १-४-४

यहाँ विपश्चित् विशेषण सभिप्राय है। सदेहात्मक समस्याएँ विपश्चित् ही सुलझा सकते हैं ।

समाधि :—

सन्ति कामासो हरिवो ददिष्ट्वं स्मो वयं सन्ति नो धियः । ८-२१-६

सोभरि ऋषि कहते हैं कि हे इन्द्र ! हमारी कामनाएँ हैं, आप कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं ही, फिर हमारे (धिय) कर्म भी हैं, कर्म का फल आपको देना ही

चाहिये । यहाँ फल प्रदान कार्य के सौकर्य की सामग्री एकत्र होने के कारण समाधि अलङ्कार है ।

**अर्थान्तरन्यास —**

मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा ।
भूर्णि मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत ।। ८ १२०

यहाँ 'क ईशानं न याचिषत' इस सामान्य कथन द्वारा मेधातिथि द्वारा इन्द्र से की गयी याचना का समर्थन किया गया है । अत सामान्य द्वारा विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है ।

**विरोधाभास —**

नीचा वतन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते ।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ता शीता सन्तो हृदय निर्दहन्ति ।।

विरोधाभास का यह उत्कृष्ट उदाहरण है । १—ये अक्ष नीचे चलते हैं और ऊपर स्फरित होते है यह विरोध हुआ । अक्षो के नीचे गिरते ही उत्कण्ठा हो जाती है उन्हें फिर उठा लिया जाता है और वे फिर नीचे डाले जाने के लिए द्यूत क्रीडक के हाथ मे पहुँच कर स्फुरित होने लगते है यह विरोध का परिहार हुआ । २—स्वय हाथ न होने पर भी ये हाथ वालो को जीत लेते है यह विरोध है इनके ठीक दाँव न लाने के कारण द्यूतकार हार जाता है यह विरोध का परिहार हुआ । ३—स्वय शीतल होते हुए भी ये हृदय को जलाते हैं यह विराध है । हृदय को दु खी करते हैं । यह उसका परिहार हो गया । अक्षो को अङ्गार बताया गया है और अङ्गारो का कार्य (जलाना) भी वे करते हैं । अत यहाँ पर रूपकातिशयोक्ति अलकार है जो विरोधाभास का अङ्ग हो गया है इस प्रकार यहाँ इनका अङ्गाङ्गिभाव सकर है ।

कल्पना तत्त्व तो ऋग्वेद की रचनाओं मे आमूलचूड इस स्वाभाविकता के साथ समाविष्ट हुआ है कि आश्चर्य होता है । इन कवियो ने पिछले खेवे के कवियो की भाँति चमत्कार ही उत्पन्न करना कल्पना का लक्ष्य नही बनाया अपितु वर्ण्य-वस्तु अथवा भाव को मूर्त रूप देकर अधिकाधिक आस्वाद्य बनाना ही इनका उद्देश्य रहा । ऋग्वेद को आँख मूँद कर कही स भी खोल लीजिये वहीं आपको कल्पना का विशद एव अनुल्वण रूप दिखाई देगा । उदाहरण के लिए उषा वर्णन को ही ले लीजिये कही उस नर्तकी का रूप दिया गया है तो कही वस्त्र आभूषण से सज्जित प्रेयसी का रूप । प्रतीत होता है जैसे उसकी माँ ने उसे वात्सल्यपूर्वक प्रसाधित किया हो, वह अपने प्रियतम सूर्य के पास जाती है और अपना वक्ष खोल देती है । वायु की गति को लक्ष्य कर उसके रथ की कल्पना करके सुन्दर वर्णन किया है जो बिम्बग्रहण कराने मे भी सहायक होता है । सूर्य का वर्णन भी ऐसा ही है इन्द्र की वीरता के वर्णन के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है, इनके विषय मे भी पीछे जिन ऋचाओं को प्रसङ्गवश उद्धृत किया गया है उन्हें ही यहाँ भी उदाहृत

किया जा सकता है :—मैक्डानल का कथन है कि ऋग्वेद में वास्तविक कविता अधिक है क्योंकि अधिकतर देवता प्राकृतिक दृश्यों से सम्बद्ध हैं। अतः उनकी प्रशंसा में जो स्तुतियाँ कही गयी हैं उनसे कल्पना का सुन्दर और उच्च रूप फूट पड़ा है। (The Rigved contains much genuine poetry. As the gods are mostly connected with natural phenomena, the praises addressed to them give rise to much beautiful and even noble imagery. *(A Vedic Reader for students Intro., p. 39)*

स्पष्ट है कि ऋग्वेद प्रारम्भिक लोककाव्य का संग्रह नहीं है, जैसा कि इस युग के पाश्चात्य अध्येताओं ने प्रारम्भ में सोचा था, यह आर्यों के उत्तम मस्तिष्क द्वारा रचित कौशलपूर्ण स्तुतियों का संग्रह है जो यज्ञों के अवसर पर गायी जाती थीं। इसलिए इसमें स्थान-स्थान पर विविध देवताओं तथा कर्मकाण्ड विषयक संकेत मिलते है जिनके कारण काव्यात्मक समरसता मे बहुत से स्थानों में व्याघात भी पड़ता है, अग्नि और सोम की स्तुति में यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है, फिर भी जिस वातावरण में इसका जन्म हुआ उसे दृष्टिकोण मे रखते हुए रचयिताओं की सफलता आशातीत एवं स्तुत्य है। यजनीय देवताओं की प्रशंसा में कुछ रचनाएँ अवश्य ही रहस्यमय हो गयी हैं जिनमे एक विशेष प्रकार की गूढ कल्पना के साथ-साथ शब्दो का कलात्मक प्रयोग मिलता है। यह कदाचित् इसलिए कि कथनीय वस्तु का सूत्र प्रायः सर्वत्र एकसा ही होने के कारण यत्र तत्र वैविध्य का समावेश करने के प्रयास इस रूप मे प्रतिफलित हुए। किन्तु विदग्धतापूर्ण विलष्ट शैली के प्रारम्भ का सूचक होने पर भी ऋग्वेद की प्रायः सभी रचनाएँ सरल एवं सरस भाषा शैली में रची गयी है, समासों का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है और वह भी प्राय. दो शब्दों के ही समासीकरण तक सीमित है। भाव भी प्रायः स्वाभाविक एवं अन्तःप्रेरित हैं।[1] अभिव्यक्ति की विविधता की चर्चा करते हुए मैक्डानल ने कहा है कि, "यह कहा जाता है कि ऋग्वेद के सूक्तों मे सर्वत्र एकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है। इस धारणा में सत्य अवश्य है किन्तु इसका एक सबल कारण यह भी है कि एक ही देवता की स्तुति के अनेक सूक्त प्रत्येक मण्डल में एक साथ ही रख दिये हैं। यदि आधुनिकतम कविता के किसी संग्रह में से वसन्त ऋतु के वर्णन के २०-३० गीत उठाकर पढ़े जायें तो भी यही धारणा उत्पन्न हो सकती है और जब हम यह विचार करते हैं कि केवल दो देवताओं की ही स्तुति में लगभग पाँच सौ सूक्तों की रचना की गयी है तो आश्चर्य होता है कि एक ही थीम के इतने विविध रूप सभव हो सकते हैं।[2]

भाषा की सहज सरलता और कल्पना की स्वाभाविकता के अतिरिक्त छन्द की मधुर लय की विशेषता भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। आदि से लेकर अन्त तक सभी

1. देखिए, मैक्डानल का संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६५-६६।

2. When we consider that merely five hundred hymns of the Rigved are addressed to two deities alone, it is surprising that so many variations of the same theme should be possible. *(History of Sans. Lit., page 47)*

ऋचाएँ गेय हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के विधान द्वारा उच्चारण को निश्चित रूप में बाँधने का जो प्रयास किया गया था वह भाषा-विज्ञान की ही दृष्टि से नहीं गेयता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। आज भी परम्परागत प्रणाली से शिक्षित वेदपाठी इन ऋचाओं का सस्वर गान करते हैं तो एक आर्द्र विह्वलता के प्रसार से वातावरण को रसमय बनाती हुई लय हृदय को स्पर्श करती हुई गूँज उठती है। सम्भव है उस समय भी ये ऋचाएँ सामूहिक रूप से गायी जाती हों। दुन्दुभि, अदम्बर आदि अनेक वाद्यों का भी उल्लेख वेदों में मिलता ही है। वैदिक उच्चारण की इस संगीतात्मकता को पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। मैक्डानल के अनुसार, वैदिक उच्चारण प्राचीन ग्रीक उच्चारण के ही समान संगीतमय है, यह स्वरों के नाम तथा छन्द की लय में उनके बाधक न होने से ही प्रकट है।[3]

ऋग्वेद के इस विवेचन और विश्लेषण के आधार पर हम सुगमता के साथ निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंच जाते हैं—

१—इस युग का अधिकांश काव्य प्रकृतिपरक है जिसका मूल प्रवृत्तिनिमित्त धार्मिक है। इन रचनाओं में आरम्भ से अन्त तक प्रकृति-प्रेम लबालब भरा है जिसके आधार पर इसे प्रकृति-काव्य कहा जा सकता है।

२—किन्तु नरकाव्य का भी सर्वथा अभाव इस युग में नहीं रहा। गाथा-नाराशंसी-विभाग इसका स्पष्ट प्रमाण है। इस ढंग की रचनाएँ लोककाव्य के रूप में अवश्य प्रचलित रही होंगी और पर्याप्त मात्रा में सृष्ट हुई होंगी। कदाचित् ऋग्वेद के अन्तर्गत ये स्थल उन्हीं में से परिष्कृत अथवा उनको आधार मान कर रचित रचनाएँ ही हैं जो प्रसङ्गवश संगृहीत कर ली गयी थीं। लेखन-कला के अभाव में सब साहित्य कण्ठाग्र रखकर ही जीवित रखा जाता था। अतः धार्मिक साहित्य को प्रमुख मानकर उसकी रक्षा के लिये विशेष सतर्कता बरती गयी और अन्य प्रकार की रचनाएँ काल के प्रवाह में विलुप्त हो गयीं।

३—धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष दोनों ही प्रकार की रचनाओं मे भाव-प्रवणता पायी जाती है। कतिपय सूत्रों में भक्ति-भावना का उत्कृष्ट रूप मिलता है जिसमे दैन्य और विनयपरक उक्तियों का भी समावेश हो गया है। भावुकता के साथ-साथ इनमें वैयक्तिक अनुभूति का भी संयोग है। अतः ये उक्तियाँ वैष्णव कवियों की गीतियों से टक्कर ले सकती हैं। वशिष्ठ द्वारा वरुण की स्तुति इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

४—धर्मनिरपेक्ष रचनाओं में शृङ्गार-विषयक रचनाएँ भी हैं। शृङ्गार के संयोग और विप्रलम्भ भेदों के साथ-साथ रसाभास के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार शिष्ट काव्य में भी दाम्पत्य रति को मूल आधार मानकर काव्य-रचना-

3. The Vedic, like ancient Greek, accent was a musical one depending mainly on pitch, as is indicated both by its not affecting the rythm of metre and by the name of chief tone. (*Vedic Grammer, page 448*)

प्रवृत्ति का संकेत मिलता है जिसका विकास संस्कृत साहित्य में शृङ्गार-रस के प्राधान्य के रूप में पर्यवसित हुआ जो संस्कृत के गीतिकाव्य की आत्मा है। शृङ्गारिक उक्तियों में रूपवर्णन प्रायः नहीं है केवल मनोभावों की अभिव्यक्ति ही है जिसमें वस्तुवर्णन का आधार पर्याप्त मात्रा में है। शृङ्गार रस के क्षेत्र में मानवीय भावनाओं का आरोप प्राकृतिक दृश्यों पर कर लिया गया है, विशेष रूप से उषा के प्रसंग में। आलम्बन का महत्त्व परवर्ती साहित्य जितना नहीं दीख पड़ता। नख-शिख अथवा अंग-प्रत्यङ्ग-वर्णन नहीं है। सौन्दर्य का व्यापक रूप अवश्य चित्रित किया गया है। कोमलता, सुकुमारता आदि की व्यञ्जना के साथ-साथ उत्कण्ठा आदि भावों की भी अभिव्यक्ति मिलती है। अभिसार के दोनो रूप—स्त्री-प्रवृत्त और पुरुष-प्रवृत्त—इसमें मिलते हैं। उषा का सूर्य के पास सजकर जाना और सूर्य का उषा के पीछे स्त्री के पीछे पुरुष सदृश जाना इसके उदाहरण हैं। लज्जा, अवहित्था, उत्कण्ठा आदि कतिपय ही सचारियो की अभिव्यक्ति मिलती है। स्त्री-पुरुष दोनों का ही प्रणय-निवेदन और प्रत्याख्यान प्रदर्शित किया गया है जिसमें संताप और अनुभूति की तीव्रता प्रशमनीय है।

५—इन रचनाओ का कलापक्ष भी काफी आकर्षक है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार ध्वनि के विविध रूपों से लेकर चित्र काव्य जैसे ढंग की उक्तियाँ भी परिलक्षित होती हैं। अधिकतर भाषा सरल और अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। अलंकारों का मनोहर योग तथा कल्पना का भाव के साथ उचित सामञ्जस्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। छन्दों की योजना आकर्षक और गेयता अनिवार्य रूप से पायी जाती है।

इस प्रकार गीति काव्य की अनेक विशेषताएँ तथा मूल तत्त्व अपने प्रारम्भिक किन्तु विकासोन्मुख रूप मे हमे ऋग्वेद में मिलते हैं। किसी-किसी उक्ति मे तो गीति-काव्य के सभी तत्त्व पर्याप्त विकसित रूप में दीख पड़ते है जो अपवाद स्वरूप ही हैं, सामान्य प्रवृत्ति-जन्य नहीं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि ऋग्वेद का इस दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है। ऋग्वेद जहाँ अन्य अनेक प्रकार के ज्ञान का मूलस्रोत है वहाँ गीति काव्य का भी। क्या यह कम गौरव और विस्मय की बात है कि "अब से तीन सहस्र वर्ष से भी अधिक पहले भारतीय इतिहास के मुख-द्वार पर ही हमें कुछ ऐसे गीत्यात्मक काव्य के दर्शन होते हैं जो आरोपीय परिवार के साहित्यों मे सर्वाधिक प्राचीन होते हुए भी भाव-सौन्दर्य, परिष्कार, तथा भाषा एवं छन्द विषयक कौशलपूर्ण योजना की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है।"[1] "यद्यपि काव्य गुणों के

1. On the very threshold of Indian literature more than three thousand years ago, we are confronted with a body of lyrical poetry which although far older than the literary monument of any other branch of Indo-European family, is already distinguished by refinement and beauty of thought, as well as by skill in the handling of language and metre.

(*Macdonell, History of Sans. Lit., page 29*)

स्तर की दृष्टि से विविध सूक्तों में पारस्परिक अन्तर है तथापि समग्र रूप से देखने पर औसत पर्याप्त ऊँचा बैठता है ।[1]

यजुर्वेद काल में संगीत-तत्त्व की विशिष्ट उन्नति हुई। यजुःसंहिता में वेद-गायकों का भी उल्लेख पाया जाता है ।[2] इन गायकों के प्रति स्त्रियों के आकर्षण की भी बात कही गयी है—

**अगायन् देवाः सा देवानगायत उपावर्तत तस्माद् गायन्तम् स्त्रियः कामयन्ते कामुका एनग्गूं स्त्रियो भवन्ति । (यजु० ६-१)** । काठक-संहिता में एक कथा आयी है कि श्येन का रूप धारण कर गायत्री ने जब सोम का अपहरण किया तब गन्धर्वों ने उसे बीच में ही छीन लिया, देवताओं ने याचना की किन्तु गन्धर्वों ने कोई ध्यान नहीं दिया। इस पर देवताओं ने सोचा कि गन्धर्व स्त्री-कामुक होते हैं । अतः उन्होंने वाणी को स्त्री रूप में परिवर्तित कर एक चाल चली और गन्धर्वों से समझौता किया कि वह सोम सहित जिस पक्ष में चली जाय वही सोम का अधिकारी हो । गन्धर्व मान गये । देवताओं ने उसे आकृष्ट करने के लिए गाथाओं का गान किया और गन्धर्वों ने वेद का । यह देवताओं के पास ही आयी । इसलिये स्पष्ट है कि स्त्री गायक को ही चाहती है वेदपाठी को नहीं ।[3] यही बात मैत्रायणी संहिता में भी प्रकारान्तर से कही गयी है। उसमें लिखा है कि देवताओं ने गाथाएँ गायी थी और गन्धर्वों ने वेद । वह देवताओं के पास ही आयी । इसलिए विवाह में गाथाएँ ही गायी जाती हैं और गाने वाला स्त्रियों का प्रिय होता है—**गाथां देवा अगायन् ब्रह्म गन्धर्वा अवदन्त्सा देवानुपावर्तत, तस्माद् विवाहे गाथा गीयते, तस्माद् गायन्स्त्रियाः प्रियः ।**[4] वाजसनेयी संहिता में गीत और शैलूष शब्दों का सम्बन्ध जोड़ा गया है ।[5] शतपथ ब्राह्मण मे भी आया है कि स्त्रियाँ आज तक भी निरर्थक बातों की ओर जाती है । अतः जो नाचता है, जो गाता है उसी को वे तत्काल चाहने लगती है— **"तस्मादप्येतर्हि मोघसंहिता एव योषा । तस्माद्य एवं नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लतम इव ।**[6] इम्पीरियल गजटियर के अनुसार यजुर्वेद के समय तक कई प्रकार के पेशेवर गायक अस्तित्व में आ चुके थे और मौखिक संगीत प्रारम्भिक दशा से

---

1. The degree of literary merit in different hymns naturally varies a good deal, but the average is remarkably high.

(*Macdonell, Vedic Reader for Students, Int., page 38*)

The litrary as well as the metrical skill with which the hymns of the Rigveda are composed, is considerable. (*Imperial Gazetteer of India, page 211* Edn. 1909.)

2. उदकुम्भानधिनिधाय दास्या मार्जालीयं परिनृत्यन्ति पथो निघ्नतीरिदं मधु गायन्त्यो मधु वै देवानां परममन्नाद्यं परमेवान्नाद्यमवरुन्धे पथो निघ्नन्ति मही यामेवैषु दधति । (यजुः संहिता ७-५)
3. काठक संहिता, २४।१ ।
4. मैत्रायणी संहिता, ३।७।३ ।
5. वाजसनेयी संहिता, ३०।६ ।
6. शतपथ ब्राह्मण, ३।२।४।६ ।

ऊपर उठ चुका था। सामगान की जटिल प्रणाली से यही प्रकट होता है।[1]

सामवेद तो गाये जाने के लिए प्रसिद्ध ही है। बाण भट्ट ने ऋचाओं के उच्चरित होने, यजुर्मन्त्रों के पढ़े जाने और साम के गाये जाने का स्पष्ट उल्लेख किया है—केचिद् ऋचः समुच्चारयन् केचि यजूंष्यपठन् ...... ... साम गायन् विस्वरमकरोत्।[2] महाभारत के वनपर्व में भी यज्ञावसरों पर साम के गाये जाने का उल्लेख है—

महदोक्थ्यं गीयते साम चाग्र्यं सम्यक् सोमः पीयते चात्र सत्रे।
शुचीन् भगान् संजगृहुश्च हृष्टाः साक्षाद्देवा जनकायोत राज्ञः॥

सामवेद के १५४९ मन्त्रों में से केवल ७५ ही नये हैं। अवशिष्ट मंत्र ऋग्वेद से संगृहीत हैं जिनमें कुछ संगीत विषयक परिवर्तन कर लिये गये है—

(The Samaveda is, therefore, only the book of words employed by the special class of **Udgatri**-preists at the Soma sacrifice. Its stanzas assume their popular character of musical saman or chants only in the various song-books called ganas, which indicate the prolongation, the repetition, and the interpolation of syllables necessary in singing, just as is done in European Publications when the words are given bellow the musical notation. *(Macdonell, History of Sansk. Literature. page. 171.)*

स्वयं ऋग्वेद मे पक्षियों का गायन साम के समान मधुर बताते हुए कहा गया है—

उद्‌गातेव शकुने साम गायसि।
ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि॥ ऋ० वे० २।४३।२

छन्दोग्य उपनिषद् मे स्वर को ही साम की गति बताया है—

का साम्नो गतिः। स्वर इति हो वाच। छा० उ० १।८।४

जैमिनीय सूत्र में गीतिषु सामाख्या सूत्र से स्पष्ट है कि गीति ही साम है। बृहदारण्यक उपनिषद् में साम शब्द की बड़ी ही सुन्दर व्युत्पत्ति दी गयी है—

सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्। (बृ० उ० १।३।२२)

अर्थात् सा शब्द का अर्थ है ऋक् और अम का अर्थ है गान्धार आदि स्वर। अतः साम शब्द का व्युत्पत्ति-सूचित अर्थ हुआ ऋक् के साथ सम्बद्ध स्वर-प्रधान गायन—तया सह संबद्धो अमो नाम स्वरो यत्र वर्तते तत्साम। जिन ऋचाओं के ऊपर

1. By the time of Yajurveda several kinds of professional musicians existed: and that vocal music had already advanced beyond the most primitive stages appears from the some what compl cated method in which the Samaveda was chanted (*Imperial Gazetteer, page 127*)

2. हर्ष चरित, प्रथमोच्छ्‌वास।

ये साम गाये जाते हैं वे सामयोनि के नाम से विख्यात हैं और सामसंहिता इन्हीं ऋचाओं का संग्रहमात्र है। अर्थात् सामवेद में सामोपयोगी ऋचाओ का ही संकलन है उन गायनों का नहीं जो साम के मुख्य वाच्य है। उनका संकलन तो 'गान-संहिता' मे किया गया है।

नारदीय शिक्षा मे सामगान के सात स्वरो का भी उल्लेख है—

य: सामगानां प्रथमः स वर्णो मध्यमः स्मृतः ।
योऽसौ द्वितीयो गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः ।।
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पञ्चमो धैवतो भवेत् ।
षष्ठो निषादो विज्ञेयस्सप्तमः पञ्चमः स्मृतः ।।

इसके अनुसार सामवेद का प्रथम मन्त्र निम्न निर्दिष्ट स्वरों में गाया जा सकता है—

ओ ग्न इ । आ या हि इ वो इ तो या आ यि । तो या आ इ ।
सा मा स । गा गा ग रि मा म मा मा गा ग । मा मा गा ग ।

प्रो० लेवी का मत है कि सामवेद से प्रकट है कि वैदिक युग तक संगीत कला की पूर्ण उन्नति हो चुकी थी।[1]

शतपथ ब्राह्मण मे एक ऐसा भाव-सूत्र अधिगत होता है जो काव्य-जगत् मे नख-शिख-वर्णन के रूप मे प्रतिष्ठित होकर संस्कृत के ही नही इधर हिन्दी के भी कवियों के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु बना। नारी-सौन्दर्य के आदर्शों की प्रतिष्ठापना सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण मे ही हुई। अग-प्रत्यङ्गों के गठन और आकार-प्रकार के सुरुचिपूर्ण मापदण्डों की व्यवस्था हमें इसमें मिलती है। ऋग्वेद में नारी के सामूहिक शरीर-सौन्दर्य और समग्र आकर्षण की ओर ही सकेत किये गये है किन्तु यहाँ उसका विश्लेषण किया गया है—

**एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्या।[2] पश्चाद्वरीयसी पृथुश्रोणिरिति वं योषां प्रशंसन्ति।[3] एतद्वु वै योषायै समृद्धं रूपं यत् सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।[4] तस्माद् कपिणि युवतिः प्रिया भावुका।[5]**

अर्थात् इस प्रकार की स्त्री की प्रशसा करते हैं जो पुष्ट जघनों वाली हो जिसका (छाती से ऊपर का) स्कन्धों के बीच का भाग कुछ तंग हो और जिसका मध्य भाग (उदर) संग्राह्य (हाथ में पकड़ा जा सकने वाला) हो। जिसका श्रोणी भाग पीछे से विशाल हो उस स्त्री की प्रशंसा करते हैं। स्त्री का समृद्ध रूप यही है

1, *Le Theatre Indian. page 350, Paris 1890,* तथा कीथ *Sansk. Drama, page 15.*

2. शतपथ० १।२।५।१६ ।
3. वही, ३।५।१।११ ।
4. वही, ६।५।१।१० ।
5. वही, १३।१।६।६ ।

कि वह लम्बे केशपाश वाली, सुन्दर मस्तक वाली तथा सुजघना हो। इसलिये रूपवती स्त्री ही पुरुषो को प्यारी होती है।

इस प्रकार अनुसन्धान करने पर वैदिक साहित्य में यत्र तत्र अनेक काव्यमय एवं काव्योपयोगी स्थल मिल जाते हैं। प्रकृति-सुन्दरी का आलम्बन रूप में मनोहर चित्रण ऋग्वेद में हुआ है जो निःसन्देह उसी कोटि का आनन्द प्रदान करने में समर्थ है जिस कोटि का आनन्द हमें काव्य-कला के निदर्शन ग्रन्थो का अध्ययन करने से प्राप्त होता है। उसमें भावुकता है, अलङ्कार है और भाषा की सरसता है जो किसी भी काव्य को ग्राह्य बनाने की क्षमता रखती है, फिर भी वह प्रकृति का काव्य है— उस प्रकृति का जो विभिन्न देवताओं के रूप में मानव-हृदय में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अतः उसमे उपासना और स्तुति है। वह धार्मिक है। सेक्यूलर अथवा धर्म-निरपेक्ष स्थल अपवाद स्वरूप ही हैं और समूचे साहित्य के कलेवर मे आकार की दृष्टि से नगण्य से हैं। मानवीय भावनाओं को उद्बुद्ध करने वाले अनेक स्थलों के होते हुए भी, जिनमें कहीं-कहीं गीतिकाव्य की भाव-सान्द्रता परिलक्षित होती है, सामान्य रूप से यह नही कहा जा सकता कि वैदिक साहित्य का उद्देश्य भावोद्‌बोध ही है अथवा वह रसात्मक काव्य है।[1]

साहित्य की सुरक्षा के साधनों के अभाव में—मुद्रण और लेखन-कला का प्रचार न होने के कारण—यह धार्मिक साहित्य मौखिक परम्परा की सजीवनी पाकर ही जीवित रह सका। सहिता-पाठ, पद-पाठ, जटा-पाठ आदि का विधान कर इसको अविकृत रखने के अमोघ प्रयत्न किये गये क्योंकि अपौरुषेय समझी जाने वाली वेद-वाणी में मानव द्वारा विहित प्रक्षेप अथवा स्खलन अमृत रस मे विष-मिश्रण का ही कार्य करते। धार्मिक दृष्टिकोण से उसका बड़ा महत्त्व है। वैदिक साहित्य के आधुनिक अध्येता के हृदय में इस प्रश्न का उठना नितान्त स्वाभाविक है कि क्या उस युग मे धर्म निरपेक्ष कविता की रचना अपवाद स्वरूप ही थोडी बहुत होती थी अथवा उसका अनुपात कुछ अधिक था। समाज में धार्मिक अथवा दार्शनिक विचारधारा का प्राधान्य होते हुए भी तदतिरिक्त मनोवृत्तियों की आत्यन्तिक कुण्ठा किसी भी युग मे सभव नहीं है। ऋग्वेद के जिन भावमय स्थलों की ओर पिछले पृष्ठों में संकेत किया गया है वे इस बात के प्रमाण हैं कि इस प्रकार की रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में हुई होंगी। कोई पारलौकिक महत्त्व न होने के कारण उनके रक्षण की आवश्यकता नहीं समझी गयी और वे सामयिक साहित्य की स्वाभाविक मौत मर गयीं। ऋग्वेद में धर्म-निरपेक्ष विषयों पर आधृत कई सूक्त मिलते हैं।[2] इन्द्र के

1. This poetry has for its theme the beauty of nature and although its appeal to emotion is undoubted, it does not make emotion its subject matter.
*(Prof. Hiriyanna, Sanskrit Studies, page 3)*

2. विवाह १०।८५, अन्त्येष्टि १०।१४।१८, पौराणिक संवाद ४।६२, १०।५१, ५२।८६। १०८, १०।६५, १०।११, उपदेशात्मक ९।६२, १०।७१, १०।११७, पहेलियाँ १।१६४, १०।१२१, अर्धैतिहासिक १।१२६।

साहसपूर्ण कृत्यों को देव-स्तुति ही मानकर इस कोटि में न भी रखा जाय तो भी सुदास आदि राजाओं की वीरता का वर्णन तो इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता ही है कि वीर-गीतों की भी एक अपनी परम्परा उस युग में रही होगी।[1] वीर गीतों की ही क्यों ? उर्वशी पुरुरवा, यम-यमी, आदि के उपाख्यानों तथा अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत आहित अनेक उपमानों से शृङ्गारिक तथा अन्य भावनाओं से सम्बद्ध वर्णनाओं का भी सहज अनुमान लगाया जा सकता है। ऋग्वेद के विविध आख्यानों और नाराशंसियों मे पौराणिक आख्यानों का पूर्व रूप सुरक्षित है। इन सभी प्रकार की रचनाओं मे बाह्य मानवीय व्यापारों का ही वर्णन अधिक है। वही कवि का विवक्षित भी है। आन्तरिक भावों का चित्रण तो आनुषङ्गिक ही है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस युग के कवि का उद्देश्य या तो प्रकृति वर्णन था या मानवीय व्यापारों का वर्णन। अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति का विकास अभी नही हो पाया था। ऋग्वेद में गीतिकाव्य की श्रेणी में रखे जाने योग्य जिन कतिपय ऋचाओं का उल्लेख अथवा उद्धरण पीछे किया गया है उन्हें केवल अपवाद स्वरूप ही समझना चाहिये। अन्तर्दर्शन या भाव-अभिव्यञ्जन का आग्रह अपेक्षाकृत बाद की प्रवृत्ति है। वैदिक साहित्य के अध्येता को यद्यपि समस्त उत्तरवर्ती दर्शनों के मूलबीज ऋग्वेद मे पा सकते हैं, इस दृष्टि से वेदों का दार्शनिक महत्त्व भी है किन्तु परिनिष्ठित दर्शन परम्परा में उनका स्थान उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। विद्वानो ने भाषावैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से ऋग्वेद को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। अन्दर्शन की प्रवृत्ति का उदय और विकास समय के साथ-साथ हुआ। भारतीय दर्शन और धर्म के विकास का इतिहास इस कथन की पुष्टि करता है। भारतीय दर्शन का मूल तत्त्व ब्रह्म है जिसका सम्बन्ध प्रारम्भ में बाह्य जगत् से ही रहा। उसका प्रसार सारे संसार में बताया गया और उसे अधिक बुद्धिग्राह्य बनाने के लिए जो उपमाएँ दी है वे भी उसके स्थूल जगत् से ही सबद्ध होने की पुष्टि करती हैं[2], परन्तु विचारो के विकास के साथ यह धारणा भी परिवर्तित हुई और ब्रह्म का सम्बन्ध आत्मा से—जिसे साधारण भाषा में अन्तरात्मा कहा जाता है—जोड़ा गया। सम्बन्ध ही नहीं उसके साथ उसकी एकता प्रमाणित कर अभेद भी सिद्ध किया गया। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी मनुष्य बाहर से भीतर की ओर उन्मुख हुआ। प्रारम्भ मे उपास्य शक्ति अथवा तत्त्व को देव कहा जाता है जो दिव् धातु से बना है। सायण आदि आचार्यों ने अपने भाष्यों मे देव के पर्याय शोभमान द्योतमान आदि दिये हैं। यह

1. By the side of these sacred hymns there must very early have sprung up secular poetry in the shape of epic tales and battle songs. There is allusion in ancient Sanskrit literature to the practice of professional ministreles entertaining ever-ready listners in courts and hermitages by reciting such poetry to the accompaniment of music. It is poetry of this kind that should have furnished the chief material of the latter epic writers and the Mahabharat in particular should have been built up largely out of such songs.

*(Prof. Hiriyanna, Sanskrit Studies, page 3)*

2. देखिये, ऋग्वेद का पुरुष सूक्त।

संज्ञा इस बात की सूचक है कि प्रारम्भ मे अतिमानवीय (divine) शक्ति का विचार प्रकृति के बाह्य रूपों से गृहीत हुआ। ऋग्वेद मे इन्ही प्राकृतिक तत्त्वो की देवरूप में उपासना की गयी है। बाद में देव-शब्द-वाच्य शक्ति के लिए ईश, ईश्वर और अन्तर्यामी शब्दो का प्रयोग किया जाने लगा और विश्वास किया गया कि वह मानव के हृदय मे स्थित रह कर उसे प्रेरित करता है।[1] बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर क्रमशः उन्मुख होने की इस प्रवृत्ति की पुष्टि उपनिषद् में आई हुई बालाकि और अजातशत्रु की कथा से भी होती है। बालाकि एक अत्यन्त विद्वान् किन्तु अभिमानी व्यक्ति था। एक बार वह वाराणसी के राजा अजातशत्रु के पास पहुँचा और उसे ब्रह्मविषयक शिक्षा देना उसने स्वीकार किया। अजातशत्रु ने प्रसन्न होकर उसका स्वागत किया और उसे अपनी सभा में रखना चाहा क्योंकि उस समय सभी पण्डित मिथिला के राजा जनक के यहाँ चले जाते थे तथा उसी को अपना सरक्षक स्वीकार करते थे। अजातशत्रु ने सौ गायें देकर बालाकि का सम्मान किया और बालाकि उसे शिक्षा देने लगे। उन्होने ब्रह्म की परिभाषा कर उसे बार-बार समझाने का प्रयत्न किया। उसे कभी सूर्य का तो कभी चन्द्रमा, विद्युत्, मरुत् अग्नि आदि का सार बताया। वह बार-बार समझाने का प्रयत्न करता किन्तु राजा हर बार उसकी परिभाषा का प्रत्याख्यान यह कहकर कर देता कि "वास्तविक ब्रह्म को जानने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है। अन्ततोगत्वा बालाकि को चुप हो जाना पडा और राजा स्वयं ही ब्रह्म की व्याख्या करने लगा। वह बालाकि का हाथ पकड़ कर उठा और एक ऐसे व्यक्ति के पास ले गया जो प्रगाढ निद्रा में मग्न था। राजा ने उस प्रसुप्त व्यक्ति को नाम लेकर पुकारा किन्तु वह नहीं उठा। इस पर उसने उसे हाथ से झकझोर कर उठा दिया और कहा—**यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत एतदागात् इति।** "बालाकि कुछ उत्तर न दे सके। तब फिर अजातशत्रु ने कहा—"**यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम। तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुर्गृहीतं मनः।**[2] **क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत् कुत एतदागादिति।** अजातशत्रु के इस प्रश्न का उत्तर बालाकि न दे सके। तब अजातशत्रु ने कहा—**यत्रैष बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतभूद्यत एष आगादिति। हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तद्यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्ना तिष्ठन्ति।**[3]

इस प्रकार सूर्य, विद्युत् आदि बाह्य जगत् में दृश्यमान पदार्थों से प्रारम्भ

1. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
   भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ गीता।
2. बृहदारण्यकोपनिषद्, २।१।१७।
3. कौशीतकी ब्राह्मणोपनिषद् ४।१९।

होकर ब्रह्म की व्याख्या हृदय-जगत्परक होने लगी। यह स्पष्टतः अन्तर्दृष्टि का ही परिणाम था। उपनिषदों का गम्भीर ज्ञान जो पूर्णतया बौद्धिक-साम्राज्य के अन्तर्गत है और जिसका लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति था, इसी प्रवृत्ति का फल था। आमुष्मिकता का प्राधान्य स्वीकार कर मोक्ष-साधन पर बल देने वाले युग का विचारक-वर्ग इसका उत्कर्ष स्वीकार करता, यह स्वाभाविक ही था किन्तु मानव के अन्तर् में केवल बुद्धि ही नहीं, हृदय भी है। हृदय की शाश्वत वृत्तियों—प्रेम, द्वेष, घृणा, क्रोध आदि—का भी अपना महत्त्व है। बुद्धि एवं हृदय के द्वन्द्व में सभी अवसरों पर बुद्धि की ही विजय होती हो, यह हो ही नहीं सकता। (तथ्य यह है कि हृदय की विजय पर्याप्त मात्रा में होती है) प्रश्न यह है कि क्या उपनिषत्काल में मानव की समूची चेतना ज्ञान-क्षेत्र में ही केन्द्रित हो गई थी और अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति इसी दिशा में उन्मुख हुई अथवा भावपक्ष की ओर भी। परलोक के उच्च आदर्श को देखने वाली दृष्टि कभी-कभी तो इह लोक पर भी पड़ती ही होगी। ऋग्वेद के धर्मनिरपेक्ष काव्यस्थलों द्वारा प्रमाणित परम्परा के लुप्त हो जाने का कोई कारण नहीं। धार्मिक साहित्य-परम्परा के समानान्तर वह भी अवश्य चलती रही होगी। कम से कम तत्कालीन जनभाषा में तो अवश्य ही वीरगीत तथा अन्य प्रकार के गीतों का प्रचलन रहा होगा।[1]

ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्तों में ही इस भाषा का प्रभाव मिलना प्रारम्भ हो जाता है जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया यहाँ तक कि साहित्यिक भाषा का स्वरूप बिलकुल ही परिवर्तित हो गया। बाल्मीकि ने इसी भाषा को अपनी रचना का माध्यम बनाया और पाणिनि ने इसका परिमार्जन कर संस्कृत रूप प्रदान किया। अभिप्राय यह है कि उपनिषत्काल में भी पूर्व वैदिक युग की ही भाँति धर्म तथा दर्शन के अतिरिक्त साहित्य की सृष्टि भी किसी न किसी रूप में अवश्य होती रही होगी और युग की अन्तर्दर्शन-प्रवृत्ति का प्रभाव इस पर भी पड़ा होगा। कौन जानता है कि ज्ञानवार्त्ताओं के दौर-दौरे के कारण तद्विषयक कृतियों की ही सुरक्षा-व्यवस्था की जा सकी हो और तदतिरिक्त साहित्य का लोप हो गया हो। काव्य शैली का स्वरूप उपनिषदों में अनेकत्र दृग्गोचर होता है। उदाहरणार्थ कठोपनिषद् को ही ले लीजिए जिसमें वेदान्त के उच्च सिद्धान्तों का काव्यात्मक सरस शैली में प्रतिपादन किया गया है। मैक्समूलर के अनुसार इंगलिश, फ्रेञ्च तथा जर्मन लेखकों की दृष्टि में यह प्राचीन हिन्दू-दर्शन तथा काव्य के नितान्त पूर्ण उदाहरणों में से है।[2] मैक्डानल ने

1. Songs and ballads must indeed have been produced in the popular dialect of the day. (Prof. Hiriyanna, Sanskrit Studies *p. 5*)

The tradition of a non-religious literature was already there from remote antiquity surviving through long centuries as a strong under-current and occasionally coming to the surface in the more conventional literature—S. K. De &. S. N. Das Gupta. (*A Hist. of Sansk. Lit*, *p.* 3)

2. It has been frequently quoted by the English, French and German writers as one of the most perfect specimens of the mystic philosophy and poetry of the ancient Hindus.

भी इसमें आत्मा के कवित्वपूर्ण वर्णन का उल्लेख किया है और कुछ पद्यों का अंग्रेजी अनुवाद भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[1] अस्तु कहने का तात्पर्य यह है कि कालान्तर मे काव्य जगत् मे भी बाह्य जगत् के साथ-साथ अन्तर्जगत् के चित्रण को भी स्थान मिला और धीरे-धीरे वही उसका उद्देश्य बन गया।[2]

## वाल्मीकि-रामायण

वाल्मीकि-रामायण के प्रारम्भ मे आयी हुई कथा में, जो उसके जन्म की परिस्थितियों पर प्रकाश डालती है, उक्त परिवर्तन का अत्यन्त स्पष्ट संकेत मिलता है। वाल्मीकि दिव्य नायक राम के चरित को तदुचित ढग से वर्णित करना चाहते थे। यह विचार बराबर उनके मस्तिष्क मे घूम रहा था कि एक दिन वे प्रतिदिन की भाति मध्याह्न संध्योपासन के लिए तमसा के तट पर गए जहाँ उन्होंने अपने समीप ही केलि-रत क्रौञ्चदम्पती मे से क्रौञ्च का वध एक व्याध के हाथों देखा। क्रौञ्ची व्यथा-विह्वल होकर विलाप करने लगी। वाल्मीकि के हृदय मे इस दृश्य ने करुणा का प्रबल प्रवाह प्रवाहित कर दिया जो सहसा ही निष्ठुर व्याध के प्रति अभिशाप बनकर इन शब्दो मे व्यक्त हुआ :—

**मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।**
**यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥**

इस कथा के रोमाण्टिक तत्त्वो की उपेक्षा करते हुए हम केवल इस का सार ग्रहण करके भी इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि रामायण के साथ सस्कृत में एक नये युग का प्रारम्भ होता है जिसमें काव्य का मूल आधार मानवीय मनोभावों को स्वीकृत कर लिया गया और कालान्तर मे उन्ही के अभिव्यञ्जन के आधार पर कवि की सफलता असफलता कूती जाने लगी। इस युग के प्रवर्त्तक होने के कारण ही वाल्मीकि आदि कवि की पदवी से विभूषित हुए और यह कहना असंगत न होगा कि आगे चलकर जो तत्त्व भारतीय काव्य-शास्त्र मे रस' के नाम से प्रतिष्ठित हुआ उसकी ओर सर्वप्रथम वाल्मीकि ने ही सकेत किया। निःसन्देह वे ही क्लासिकल संस्कृत साहित्य के भोर-नक्षत्र थे। रामायण के प्रारम्भ में ही उक्त कथा का समावेश कर उन्होने स्पष्ट रूप से पहले ही उस तत्त्व को सामने रख दिया जो उनके विचार से काव्य का सेन्ट्रल थीम कहा जा सकता था।[3] उत्तरवर्ती कवियों ने उन्हीं को आदर्श मानकर अपनी कलाकृतियो की सृष्टि की और, जैसा कि अनेक पाश्चात्य

---

1. (Macdonell, *Hist. of Sans. Litert, p 220*)

2. But in course of time a far-reaching change was introduced which gradually altered the very complexion of Indian poetry.
(*Prof Hiriyanna, Sanskrit Studies, p.* 3)

3. For the first time, so far as our knowledge goes, emotion was deliberately adopted as the subject-matter of poetry.
(*Prof. Hiriyanna, Sanskrit Studies p.* 5)

विद्वान् भी मानते हैं, (जान ड्रिङ्क वाटर का मत पिछले अध्याय में दिया जा चुका है) इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि काव्य के वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से ही किये गए हैं, यह कहना अनुचित न होगा कि वाल्मीकि की रचना के पश्चात् संस्कृत की कविता में उत्तरोत्तर वर्णनात्मकता का ह्रास तथा गीति-तत्त्व का समावेश होता गया जिसका चरम विकास कालिदास-सदृश रस-सिद्ध कवियों की रचनाओं में मिलता है। कालिदास का कुमारसभव प्रबन्ध काव्य होता हुआ भी गीति-काव्य के अधिक निकट है। उसमें इतिवृत्त की गौणता से प्रतीत होता है कि जैसे कवि का उद्देश्य वस्तु-वर्णन है ही नहीं अपितु वह अन्त.प्रेरित, स्वतः प्रस्फुटित भाव धारा को सामने लाने के लिये विवश हो उठा है, भवभूति के नाटकों का तो गद्य भी गीतिसदृश भाव-प्रवण है और उन्ही की अनुभूति की विभूति है।

नये युग के प्रवर्त्तक होते हुए भी वाल्मीकि पुराने युग की परम्पराओं से अपने आपको एक दम विच्छिन्न नही रख सकते थे। अत. बाह्य दृश्यों का विशद वर्णन भी उनके काव्य में मिलता है। उनमें न तो ऋग्वेद के समान बाह्य जगत् का ही वर्णन है और न ही कालिदास की कृतियों के सदृश गीतितत्त्वप्रधान भाव-सान्द्रता। उनकी रचना में सधियुग की विशेषताओं का प्रतिफलन स्वाभाविक ही है। स्थूल रूप से वाल्मीकि से लेकर कालिदास तक का समय सक्रमण काल कहा जा सकता है। नई कविता के गुण, जिनकी स्थापना वाल्मीकि ने की थी, कालिदास की रचना मे पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हुए है।

इस पुरानी और नई कविता के चरम लक्ष्य मे विभिन्नता नही है। दोनो का ही उद्देश्य काव्यानन्द की प्राप्ति कराना है, केवल ढग अपने अपने है। एक बाह्य वर्णन द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँचती है और दूसरी मनोदशाओं के चित्रण द्वारा। इस परिवर्तन का अर्थ यह नही है कि नये कवि का ध्यान प्रकृति से उठकर मानव पर ही केन्द्रित हो गया था अपितु यह कि उसने मनुष्य के बाह्य स्वरूप एव प्रकृति चित्रण को साध्य न मानकर मानव के अन्तस् की अभिव्यक्ति को मूर्त रूप देने का साधन स्वीकार किया। सामग्री दोनों की बहुत-कुछ एक ही थी, केवल उपयोग-पद्धति में अन्तर आया। आज के आलोचक को इस नवीन कवि से यह शिकायत है कि उसने वैदिक ऋषियों के समान प्रकृति का स्वतन्त्र रूप मे चित्रण नही किया। कारण यह है कि क्योंकि नया कवि मनोभावों को ही कविता का थीम मानकर चला था अतः प्रकृति को उसने पृष्ठ भूमि के रूप मे ही ग्रहण किया। यह कहना उचित न होगा कि नये कवि ने प्रकृति की उपेक्षा की अथवा प्रकृति के प्रति उसका राग कुण्ठित हो गया था; क्योकि प्रकृति का चित्रण उसने किया है और उत्साह के साथ किया है। पर वह केवल प्रकृति चित्रण के लिये ही नही है अपितु वातावरण की सृष्टि के लिये है जो प्रमाता के हृदय को व्यञ्जनीय मनोभाव के ग्रहण करने के लिये तैयार ही नहीं उत्सुक भी कर देता है। कालिदास के मेघदूत में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त व्यापक तथा मोहक है परन्तु ऋग्वेद के उषश्चित्रण के समान वह

केवल अपने आप मे ही नियमित नहीं है बल्कि यक्ष की वियोग-व्यथा पर गम्भीरता का सघन आवरण डालता हुआ पाठक की तादात्म्य अनुभूति में सहायक होता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में कण्व के आश्रम का चित्रण किसी भी प्रकृति चित्रण के समकक्ष रखा जा सकता है परन्तु यह प्रकृति के बाह्य रूप की ही झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं है। इस का मुख्य उद्देश्य है उस सहज सौम्य वातावरण की सृष्टि जो एक ओर तो नागर दुष्यन्त को शकुन्तला की वन्य सुकुमारता का अनन्यपरायण बना देता है और दूसरी ओर कण्व एव उनके तपोधन शिष्यों के हृदय की पवित्रता, सौम्यता, शमप्रधानता तथा तेजस्विता का परिचय देता है। प्रकृति यदि आश्रमवासियों के हृदय पर छायी हुई है तो उनकी पावन मनोवृत्तियाँ प्रकृति पर छायी हुई हैं जिससे उसके जगली रूप का तिरोधान हो गया है और वह सधी हुई सी आश्रमवासियो के साथ कदम मिला कर चलती हुई ज्ञात होती है। मानव-भावो से अलग रखकर जब प्रकृति का वर्णन किया जाता है तब वह नये दृष्टिकोण के अनुसार मनोभावों को तीव्र नही कर पाती, हाँ हृदय मे प्रसुप्त उल्लास को एक हल्की सी थपकी अवश्य दे देती हैं। इसलिये उस स्थिति में उसे स्वभावोक्ति अलकार ही माना जायेगा। प्रकृति विषयक दृष्टिकोण के सदृश ही मानवीय विचारों और व्यापारो मे भी परिवर्तन हुआ। अर्थात् प्रकृति के समान काव्य के बाह्य ढाँचे से ही इनका भी सम्बन्ध रहा, काव्य की आत्मा मनोभाव या रस को स्वीकार किया गया और ये उसकी प्रतीति कराने वाले साधन ही बने। इस सिद्धान्त के अनुसार भाव-व्यतिरिक्त सामग्री का विभाव एव अनुभाव के रूप में वर्गीकरण किया गया। प्रकृति पहले वर्ग मे तथा मानव व्यापार आलम्बनगत होने पर तो प्रथम वर्ग मे और आश्रयगत होने पर द्वितीय वर्ग में रखे गए। इस प्रकार काव्य की महत्ता का ऋग्वेदकालीन प्रमुख मापदण्ड क्लासिकल युग में गौण हो गया। मनोभावों को प्रधानता मिली और इसका विवेकपूर्ण सकेत सर्वप्रथम वाल्मीकि ने किया।[1] डा० एस० एन० दास गुप्त के अनुसार वाल्मीकि ने प्रकृति को प्राय: उसके वास्तविक स्वरूप मे देखा है। मानव के प्रति प्रकृति की उपयोगिता का आभास उनके काव्य मे कम मिलता है।[2] प्रश्न यह है कि कम ही सही, प्रकृति की उपयोगिता का

1. The poet has also utilised some moods of nature to depict the psychological states of the characters. In Kalidas. this aspect of the art has reached its culmination; but, as for as I know, Valmiki appears to be its progenitor.........He laid the foundation of the great art of depicting nature in her various moods and drawing from echoes of all human emotions from the simplest to the most complex. On reading the Ramayan, one feels that Valmiki is among those pioneers who have civilized nature and made her the perennial source of aesthetic delight.

(*P. T. Narsinhachar, Siddha Bharati VI. 1, pp. 249*).

2. But when Valmiki looks at nature, his general emphasis is on the realistic aspect of nature. The aspect of its utility to man is thin and shadowy. *Dr. S. N. Dasgupta, Introduction to the History of Sanskrit Literature 137.*

आभास मिलता तो है ? और यही आभास आगे के कवियों में खुल कर प्रकट हुआ है जिसे डा० दास गुप्त ने भी स्वीकार किया है ।[1] साहित्य के क्षेत्र में इस अन्त-र्मुखता का, जो संस्कृत साहित्य में सामान्य रूप से कविता-मात्र तथा पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार विशेष रूप से गीति काव्य का प्रमुख तत्त्व है, सूत्रपात करने के कारण वाल्मीकि का गीतिकाव्य के विकास में अप्रत्यक्ष योगदान स्पष्टतया भासित होता है । निषाद के प्रति उनकी शाप-वाणी स्वयं गीति काव्य का अच्छा उदाहरण है जिसमे उनके अगाध मानस का विक्षोभ व्यक्त हुआ है ।

वाल्मीकि द्वारा सकेतित इस प्रवृत्ति का विकास धीरे-धीरे हुआ । भाव और रस का शास्त्रीय विवेचन तो बाद की वस्तु है किन्तु व्यावहारिक रूप मे कालिदास के समय तक यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो गया प्रतीत होता है क्योंकि कालिदास की कृतियों में मनोवृत्तियों का प्रभविष्णु चित्रण ही नही हुआ अपितु उन्हे पूर्णतया आधार बनाया गया है । उनसे पहले कवियों की कृतियां, जो संक्रमण काल की उपज थीं, कालिदास की सर्वप्रिय रचनाओं से जीवन-सघर्ष के क्षेत्र मे समग्रतया अभिभूत हो गयी । इन्हे प्रतिलिपि करके जीवित रखने के लिये उपयुक्त आकर्षण इनमे नही दीख पड़ा जिससे उनका लोप हो गया किन्तु इन रचनाओं के जो सूत्र कालिदास-पूर्व साहित्य में उपलब्ध होते है वे उक्त सिद्धान्त के समर्थन के लिये पर्याप्त सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करते है । इस विषय पर अगले अध्याय मे विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा ।

इस प्रकार व्यावहारिक रूप में सत्कवियों द्वारा काव्य मे रस अथवा भाव के आधारशिला रूप में प्रतिष्ठित हो जाने तथा उसके निर्वाह की अक्षुण्ण परम्परा को लक्ष्यकर **लक्ष्यग्रन्थैरेव लक्षणव्यवस्था** के अनुसार उसे काव्यशास्त्र मे स्थान मिला । भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रस को नाटक का तत्त्व मानकर रस-निष्पत्ति का उल्लेख किया[2] तथा आठ रसों को मान्यता दी :—

**शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।**
**बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।**

भरत की इस कारिका मे आया हुआ **स्मृताः** शब्द इस बात का संकेत करता है कि रस-सिद्धान्त उनसे भी पुराना है और उनके पूर्व इसके आचार्य हो चुके होंगे

1. In the Ramayan, for example, Valmiki in describing the situation of Rama in his separation from Sita and in contrasting it with the state of Sugriva describes sorrow of Rama.........but as we proceed onwards we find that gradually nature begins to rise to the human level and after its practical utility to man is emphasised ..that is in the Ritusamhar of Kalidas.

2. मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं, जनपद-सुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं, स भवति शुभकाव्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।।
नाट्यशास्त्र (१६-११८)

जिनके मत का भरत ने अनुवाद मात्र किया है।[1] परन्तु बहुत दिनों तक रस का सम्बन्ध नाटक से ही माना जाता रहा और व्यवस्थित रूप में काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ध्वन्यालोक के समय तक वह सामान्य रूप से काव्य का विषय नहीं बन सका।[2] अग्निपुराणगत काव्य-लक्षण मे रस की पूर्णतया उपेक्षा की गयी है।[3] उसमें अलङ्कार और गुण के समावेश तथा दोष राहित्य पर ही बल दिया गया है। भामह ने रस को काव्य में स्थान तो दिया परन्तु बहुत ही गौण। उन्होने अलङ्कार को काव्य की आत्मा मानकर रस को रसवत्, प्रेयम् तथा ऊर्जस्वित् अलकारों में अन्तर्भूत कर दिया। दण्डी ने कुछ अधिक महत्त्व अवश्य दिया और अलङ्कार शब्द के अन्तर्गत गुण तथा रीति के साथ-साथ रस को भी स्थान दिया। वामन कुछ और आगे बढे। उन्होने **दीप्तरसत्वं कान्तिः** कहकर उसे कान्ति गुण का मूल तत्त्व स्वीकार किया। रुद्रट ने इस को रूपक (नाटक) तक ही सीमित न मान कर काव्य मात्र के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतिपादित किया और उसे अलङ्कारों मे न रख कर काव्य के लिये आवश्यक बताया।[4] अन्त में आनन्दवर्धन ने **काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति कथितः** मानते हुए भी काव्य का प्रेरक रस अथवा भाव (Emotion) को ही स्वीकार किया :—

**काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।**
**क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥**[5]

इस प्रकार आदि कवि द्वारा सकेतित तत्त्व क्रमशः अपना पथ प्रशस्त करता हुआ स्पष्ट रूप से काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। वाल्मीकि के रस भाव तत्त्व की ओर सकेत करते हुए महाकवि कालिदास ने भी उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट की है।[6]

यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि स्वय वाल्मीकि के काव्य में इसका कहाँ तक समावेश हुआ है? वाल्मीकि का काव्य महाकाव्य माना जाता है। वह सस्कृत साहित्य मे सर्वप्रथम प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध काव्य मे इतिवृत्त अथवा घटनाओं का पर्याप्त महत्त्व स्वीकार किया गया है। कथा-वस्तु का निर्वाह ठीक न होने पर उसका महत्त्व निश्चय ही कम हो जाता है, फिर भी भावात्मकता उसका

1. देखिये, सर आशुतोष मुखर्जी सिलवर जुबली वाल्यूम ३ में सर्कलित The theory of Rusa in Sansk. Poetics.
2. History of Sanskrit Poetics, (*P. V. Kane*) pp.341.
3. संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थ, व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषविवर्जितम्॥ (अग्नि पुराण ३३६,७)
4. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। (काव्यालकार)
5. ध्वन्यालोक, १।५।
6. तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी, कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः, श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः। रघुवंश १४।७०।

भी अपरिहार्य गुण है। वाल्मीकि ने अनेकत्र बाह्य प्रकृति एवं मानव व्यापारों को मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया है। राम को अयोध्या लौटा लाने के अपने सदुद्योग में असफल होकर भरत अयोध्या लौटते है। उनके हृदय में निराशा भरी है, सूनेपन का अनुभव उनके हृदय को कचोटता है। उनके मन की यह दशा अयोध्या के ऊपर वातावरण बन कर छा जाती है, और इधर अयोध्या भी दशरथ की सम्राज्ञी की ही भांति उनके शोक और राम के वियोग में गहरी व्यथा से विधुर होती हुई निश्रीक बन गई है। वाल्मीकि के ही शब्दों में:—

अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः।
बिडालोलूकचरितामालीननरवारणाम्॥
तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव।
राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम्॥
ग्रहेणाभ्युदितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम्।
अल्पोष्णक्षुब्धसलिलां घर्मतप्तविहङ्गमाम्॥
लीनमीनझषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव।
विधूमामिव हेमाभां शिखामग्नेः समुत्थिताम्॥
हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां विप्रलयं गताम्।
प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम्॥
सहसा चरितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयोद्गताम्।
संहृतद्युतिविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम्॥
पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरशालिनीम्।
द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव॥
अयोध्या संप्रविश्यैव निवेश वसति पितुः।
तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव॥[1]

शीघ्र ही महायशस्वी भरत ने अयोध्या में प्रवेश किया जिसमें बिलाव और उल्लू सक्रिय थे, मनुष्य और हाथी दृष्टि नही पड़ते थे। वह अन्धकार से आहत उस प्रकाशहीन निशा सी प्रतीत होती थी जिसमें किसी अकस्मात् उदित ग्रह ने चन्द्रमा की श्रीसम्पन्न देदीप्यमान प्रिया रोहिणी को ग्रस लिया हो, उस कृश पर्वतीय नदी के समान थी जिसमे स्वल्प सा उष्ण जल रह गया हो और मत्स्य तथा ग्राह विलीन हो गये हो एवं विहग-गण धूप से तपकर कष्ट पा रहे हों; उस धूम-विहीन स्वर्णाभ अग्नि की शिखा के समान प्रतीत होती थी जो बाद मे हवन सामग्री से दबकर विलीन हो गयी हो। वह शान्त वायु द्वारा उठाई हुई जल-लहरी के समान मौन थी। पुण्य-क्षय होने पर अपने स्थान से भ्रष्ट पृथ्वी और आकाश से गिरी हुई प्रभा-विहीन तारा जैसी प्रतीत होती थी। उसकी दशा वसन्त ऋतु के अन्तिम चरण में फूलो से लदी और मदमाते भौरों से सुशोभित उस वन लता के समान थी जो सहसा दावाग्नि से

1. वाल्मीकि रामायण, द्वि० काण्ड, सर्ग ११४।

झुलसकर मलीन हो गई हो। राजा दशरथ से हीन अयोध्या सिंह-रहित गुहा के सदृश लग रही थी।

भरत के हृदय का शोक और निराशा अयोध्या के चित्रण में साकार हो उठे हैं। अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत विशिष्ट स्वरूप वाले उपमानो द्वारा कवि ने विषादमय वातावरण की सृष्टि की है जिसमे प्रकृति मानवीय मनोभावो की पृष्ठ-भूमि का कार्य करती हुई दिखाई पड़ती है। वह एक अनिर्वचनीय गहन संवेदना से ओत-प्रोत है। अयोध्या की यह दशा भरत के धैर्यविरुद्ध बाष्प को प्रवाहित करने के लिए काफी है :—

**तदा तदन्तःप्रभमुज्झितप्रभं सुरैरिवोत्सृष्टमभास्वरं दिनम्।**
**निरीक्ष्य सर्वत्र विभक्तमात्मवान् मुमोच बाष्पं भरतः सुदुःखितः[1] ॥**

मानव के बाह्य स्वरूप मात्र का चित्रण कर उसके हृदयस्थ भावों की ओर संकेत करने वाला उदाहरण कैकेयी के इस वर्णन में लीजिये —

**उदीर्णसरम्भतमोवृताननना तदावमुक्तोत्तममाल्यभूषणा।**
**नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका[2] ॥**

राजमहिषी कैकेयी के मुख की छाया कोप के कारण तमोमय हो उठी थी और उत्तम मालाएँ तथा अलङ्कार उतार फेंकने से वह कोपना अन्धकार से आच्छादित उस काल के आकाश के सदृश लगती थी जब तारे गहन तमिस्रा मे डूब गये हो।

यहाँ कैकेयी का तमोवृत आनन उसके मन की कालिमा (कपट) क्रोध, दुःख ईर्ष्या आदि का प्रतीक है और तम के आवरण से व्याप्त आकाश अयोध्या पर आने वाले शोक की तूफानी घटाओं का सकेतक है।

एक अन्य उदाहरण लीजिये :—

**सा रामसंकीर्तनवीतशोका रामस्य शोकेन समानशोका।**
**शरन्मुखे साम्बुदशेषचन्द्रा निशेव वैदेहसुता बभूव[3] ॥**

रावण द्वारा अशोक वाटिका में वन्दीकृता विरहिणी सीता हनुमान् के मुख से राम का नाम सुनकर अपना तो सब दुःख भूल गई किन्तु राम के दुःख का ध्यान आने से राम के समान ही दुःखी हुईं। वे प्रसन्न थी क्योंकि राम नाम की पीयूषवर्षी ध्वनि उनके कानों में पड़ी, वे दुःखी थीं क्योंकि राम उनके वियोग में अत्यन्त संतप्त थे। दुःख-सुख के मिश्रित भाव से युक्त सीता का हृदय 'शरन्मुखे साम्बुदशेषचन्द्रा निशा' के (उपमान) द्वारा, जिसमें ज्योत्स्ना के साथ मेघखण्ड भी छाया हुआ है, अधिक स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है। स्वतन्त्र रूप से भी प्रकृति का

---

3. वही २।११४।३१।
1. ,, २।१०।६६।
2. ,, ५।३६।३६।

वर्णन वाल्मीकि ने किया है किन्तु मानवीय भाव को प्रधान रखने की उनकी चेष्टा भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। कहीं-कहीं तो प्रकृति का विशुद्ध संश्लिष्ट वर्णन करके भी वे उसकी पृष्ठ-भूमि में मानव-हृदय को देखने के लिये स्पष्ट संकेत कर जाते हैं। उदाहरण के लिये अरण्य काण्ड के सोलहवें सर्ग मे लक्ष्मण के मुख से किये गए हेमन्त वर्णन को ही ले लीजिए। हेमन्त का पूर्णतया चित्रण कर देने के पश्चात् ही वे कहते हैं :—

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र ! काले दुःखसमन्वितः।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे॥
त्यक्त्वा राज्यं च मानं च भोगांश्च विविधान् बहून्।
तपस्वी नियताहारः शेते शीते महीतले[1]॥

यह कहने की आवश्यकता नही कि इस संकेतमात्र से समूचा हेमन्त वर्णन भरत के त्याग का उद्दीपन बन जाता है। शरद् ऋतु के वर्णन के अन्तर्गत एक श्लोक लीजिए :—

चञ्चच्चन्द्र-कर-स्पर्श-हर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती संध्या जहातु स्वयमम्बरम्[2]॥

चन्द्रमा के चञ्चल करों (किरणों तथा हाथो) के स्पर्श से जनित हर्ष के कारण ताराओं (नक्षत्रों और पुतलियों) का उन्मीलन करती हुई रागवती (लालिमा से युक्त तथा प्रेम-भाव से भरी हुई) संध्या ने स्वयं अम्बर (आकाश और वस्त्र) का परित्याग कर दिया।

शरद्-वर्णन के बहाने मानवीय रति-व्यापार का यह स्वाभाविक और कवित्व-पूर्ण चित्रण है। रस, अलङ्कार, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति किसी भी सप्रदाय की दृष्टि से यह श्लोक उत्तम काव्य का उदाहरण कहा जा सकता है। अलङ्कार की दृष्टि से इसमे उच्च कोटि का समासोक्ति अलङ्कार है, किन्तु कवि का तात्पर्य समासोक्ति मे ही निहित नही है। समासोक्ति के बल से आक्षिप्त नायक और नायिका यहाँ आश्रय आलम्बन हैं, नायक द्वारा कर-स्पर्श उद्दीपन है, नायिका द्वारा हर्ष से नयन कनीनिकाओ का उन्मीलन अनुभाव है तथा 'जहातु स्वयमम्बरम्' द्वारा व्यञ्जित उत्कट अभिलाष सञ्चारीभाव है। इस प्रकार संयोग शृंङ्गार की पूर्ण सामग्री इसमे मौजूद है। 'रागवती' शब्द के कारण स्वशब्दवाच्यत्व दोष की आशंका हो सकती है, किन्तु यह शब्द रसास्वादन में बाधक नही है। कारण यह है कि रति भाव की प्रतीति केवल इसके द्वारा ही नहीं करायी गयी है। वह तो इससे पृथक् तत्त्वों द्वारा स्वतन्त्र रूप से व्यञ्जित है। उक्त शब्द द्वारा अभिहित है ही नहीं। अतः रस की दृष्टि से भी यह उच्च कोटि का काव्य है।

'हर्षवश तारिकाओं का उन्मीलन' चेतन व्यापार हैं जिस का अचेतन सध्या पर आरोप किया गया है। अतः अत्यन्त तिरस्कृत होने के कारण हर्ष चरम विकास

1. वही, अरण्य० १६।२७।२८।
2. ,, किष्किन्धा० ३०।४५।

तथा तारकोन्मीलन नक्षत्रों की जगमगाहट में परिणत होता हुआ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इन उदाहरणों से वाल्मीकि के बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर उन्मुख हो जाने का अन्तःसाक्ष्य पूर्णतया प्राप्त हो जाता है। इनमें प्रकृति को गौण मानकर भाव-पोषण का साधन बनाया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे भावमय स्थल भी अनेक हैं जिनमे प्रकृति का रञ्चमात्र भी उपयोग नही किया गया है, फिर भी उनकी अनवद्य हृदयता अक्षुण्ण है जिसका मूल कारण भावना की गम्भीर अनुभूति के अतिरिक्त कुछ नही है। परिनिष्ठित व्यञ्जना-प्रधान शैली का आद्योपान्त विलास रामायण में खोजना अनुपयुक्त ही होगा किन्तु वर्णनात्मक होते हुए भी बहुत से स्थल अनुभूति की सान्द्रता और गेयता के कारण गीतिकाव्य के निकट पहुँच जाते है। उदाहरण के लिये बालिवध के पश्चात् तारा के विलाप का चित्रण करने वाली इन पंक्तियों को ही ले लीजिए :—

रणे दारुणविक्रान्त ! प्रवीर ! प्लवतां वर !
किमिदानीं पुरोभागामद्य त्वं नाभिभाषसे ।।
अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप !
गतासुरपि तां गात्रैर्मां विहाय निषेवसे ।।
यान्यस्माभिस्त्वया सार्धं वनेषु मधुगन्धिषु ।
विहृतानि त्वया काले तेषामुपरमः कृतः ।।
हृदय सुस्थितं मे त्वां दृष्ट्वा निपतितं भुवि ।।
यन्न शोकाभिसंतप्तं स्फुटतेऽद्य सहस्रधा ।।
किमङ्गद सांगद वीरबाहो ! विहाय यातोऽसि चिरं प्रवासम् ।
न युक्तमेवं गुणसंनिकृष्टं विहाय पुत्रं प्रियचारुवेषम् ।।
येनैव बाणेन हतः प्रियो मे तेनैव बाणेन हि मां जहीहि ।
हता गमिष्यामि समीपमस्य न मां बिना वीर ! रमेत बाली ।।[1]

दारुण ! पराक्रमी ! वानरश्रेष्ठ ! मुझसे बोलते क्यों नहीं ? तुम्हारे साथ मैंने मकरन्द से सुगन्धित वनो मे जो विचरण किये थे, आज उनका अन्त हो गया। मेरा हृदय बड़ा पक्का है जो तुम्हें पृथ्वी पर पड़ा देखकर शोकाभिभूत हो सहस्रधा विदीर्ण नहीं हो जाता। ओह वीर ! तुम अंगद को छोड़कर चिरप्रवास के लिये क्यों चल दिये ? ऐसे गुणी पुत्र को छोड़ कर तुम्हारा इस प्रकार जाना उचित नही। हे राम ! जिस बाण से तुमने मेरे प्रिय का वध किया है उसी से मुझे भी मार डालो। मैं उससे पास चली जाऊँगी। मेरे बिना वह सुखी नहीं रह सकेगा।'

रस की पूरी सामग्री इन पंक्तियों में उपस्थित है। बाली का निष्प्राण शरीर आलम्बन है और तारा आश्रय। बालक अङ्गद की निरीहता, और शत्रु पक्ष की प्रबलता उद्दीपन है। उरस्ताडन, अश्रुविमोचन आदि अनुभाव हैं और स्मृति, दैन्य,

1. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग २०।

आवेग, उन्माद आदि सञ्चारी भाव हैं जिनसे पुष्ट बाली-निधन-जन्य शोक करुण रस में पर्यवसित होता है। कवि की मनोवृत्तियों का तन्निबद्ध पात्र की भावनाओं के साथ तादात्म्य—अथवा यूं कहिये कि मनोविकारों का साधारणीकरण—हो जाने से स्वानुभूति-प्रायः वर्णन है। ये श्लोक कथा-प्रवाह को गति देने में असमर्थ है। भावना की सघनता के कारण यहां कथा प्रवाह में उल्टा अवरोध ही उत्पन्न होता होता है। जिन चेष्टाओं और व्यापारों का वर्णन इन में किया गया है वे साधन मात्र हैं अथवा साध्यभूत भाव के अस्तित्व के द्योतक चिन्ह विशेष। इस प्रकार वस्तु-वर्णन नितान्त गौण रह गया है।

सीता-हरण के पश्चात् वियोगी राम का विलाप और भी अधिक करुणा-पूर्ण है :—

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि।
तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि॥
सा नूनमार्या मम राक्षसेन ह्यभ्याहृता खं समुपेत्य भीरुः।
अप्यस्वरं सुस्वर-विप्रलापा भयेन विक्रंदितवत्यभीक्ष्णम्।
मया विहीना विजने वने सा रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा॥
नूनं विनादं कुररीव दीना सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा॥
अस्मिन् मया सार्धमुदारशीला शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा।
कान्तस्मिता लक्ष्मण! जातहासा त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम्॥
गोदावरीय सरितां वरिष्ठा प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम्।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि नैकाकिनी याति हि सा कदाचित्॥
कामं त्विदं पुष्पितवृक्षषण्डं नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम्।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्तमेकाकिनी सातिबिभेति भीरुः।
आदित्य! भो लोककृताकृतज्ञ! लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन्!
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा शंसस्व मे शोकहृतस्य सर्वम्।
लोकेषु सर्वेषु च नास्ति किञ्चिद् यत्ते न नित्यं विदितं भवेद् वै।
शंसस्व वायो! कुलपालिनीं तां मृता हृता वा पथि वर्तते वा॥[2]

'अवश्य ही मैंने पूर्व जन्मों में अनेक बार पापकर्मों में रुचि रखी है। यह उसी का परिणाम है कि मैं दुःख से दुःख में डूबता जा रहा हूं। करुण क्रन्दन करती हुई मेरी प्रियतमा को राक्षस आकाश-मार्ग से हर कर ले गया। मुझ से वियुक्त एकान्त वन में राक्षसों द्वारा हर कर घसीटे जाते हुए उस आयताक्षी ने कुररी के समान विलाप किया होगा।'

'लक्ष्मण! मेरे साथ इस शिलातल पर बैठकर उस सुन्दर मुस्कान और उदारशील वाली सीता ने अनेक बार हँसते हुए तुम से (विनोद की) बातें कही थीं। यह गोदावरी उसे सदा ही बड़ी प्रिय थी। कहीं वहीं तो न चली गयी है? किन्तु

2. वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, सर्ग ६२।

नहीं, वह अकेली कभी नहीं जाती। तो कहीं पुष्पों से लदे वृक्षों के झुरमुटों वाले इस वन में ही न चली गई हो। परन्तु वह तो भीरु है। अकेली वहाँ भी नही जा सकती।

'संसार के कृत अकृत और सत्य-अनृत कर्म के साक्षी आदित्य ! मेरी प्रिया कहाँ गयी ? क्या मार डाली गयी ? मुझसे बताओ, मैं अत्यन्त शोक-सतप्त हूँ। हे पवन ! ससार मे ऐसा कुछ नही है जो तुम नही जानते। बताओ मेरी गृहिणी मर गयी है ? या हरी गयी है ? या कही मार्ग में है ?'

'करुणा के आँचल को छूता हुआ विप्रलम्भ शृङ्गार का यह वर्णन भाव भाषा और छन्द की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। रागात्मक वृत्तियों का उद्बोधन कर तथा हृदय को उन्मुक्त दशा मे पहुँचा कर यह अनिर्वचनीय काव्यानन्द की अनुभूति कराता है, 'सरसता' एव सरलता के सहज स्वरूप द्वारा प्रसाद की मनोरम सृष्टि करता है और छन्द के एकतान मसृण प्रवाह द्वारा आस्वादन-व्यापार में व्यवच्छिन्नता नही आने देता। विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत स्मरण, गुण-कथन, आवेग, प्रलाप, उन्माद आदि अनेक मनोदशाओं की स्वाभाविक सन्निहिति का सामूहिक प्रभाव भी लक्षितव्य है। इस प्रकार के वर्णन रामायण में पर्याप्त मात्रा मे अधिगत होते है। राम-वन-गमन के अवसर पर कौशल्या द्वारा अपनी मनोदशा की अभिव्यक्ति, युद्ध काण्ड मे राम लक्ष्मण के कृत्रिम सिरों को देखकर सीता का विलाप, लक्ष्मण-मूर्छा के समय राम का करुण परिदेवन, रावण-वध के अनन्तर उस की रानियो के रुदन का मार्मिक चित्रण तथा उत्तर काण्ड मे लक्ष्मण द्वारा सीता के त्यागे जाने का हृदयद्रावक दृश्य उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते है। संयोग-शृंगार की दृष्टि से तारा-विलास का वर्णन तथा हनुमान् के लंका-दर्शन के अवसर पर रावण के अन्त पुर का चित्रण अत्यन्त रमणीय बन पड़े है।[1] सीता की खोज के लिए कृतविलम्ब विलास-रत सुग्रीव पर कुपित हुए लक्ष्मण को शान्त करने के हेतु जाती हुई तारा का एक चित्र लीजिए —

**सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी प्रलम्बकाञ्चीगुणहेमसूत्रा।**
**सलक्षणा लक्ष्मणसन्निधानं जगाम तारा नमिताङ्गयष्टिः।**[2]

'मद के प्रभाव से विह्वल नयनो वाली सुन्दरी तारा, जिसकी स्वर्ण-निर्मित किंकिणी की लड़ियाँ नीचे लटक आयी थीं, लडखडाते पगों से लक्ष्मण के पास आयी।'

इस पद्य मे कवि का लक्ष्य किसी घटना की सूचनामात्र देना अथवा कथानक की कड़ी को जोड़े रहना ही नहीं है अन्यथा सौमित्रिपार्श्वं हि जगाम तारा कहना ही पर्याप्त होता किन्तु इतना कह देने से कथानक का सूत्र तो जुड़ जाता पर तारा की मनःस्थिति का परिचय कैसे मिलता ? स्पष्ट है कि कवि ने तीन चौथाई पद्य

1. Such passages as the description of the vision by Hanumant of the sleeping wives of Ravana mark the beginning of a tradition which Ashvaghosh handed on to successors. *Keith, Hist. of Sans. Lit. pp. 45.*

2. किष्किन्धा काण्ड, ३४-३८।

इस मन:स्थिति को ही व्यक्त करने के उद्देश्य से खर्च कया है।

यों तो साहित्यशास्त्र में परिगणित सभी भावों से सम्बद्ध उक्तियाँ वाल्मीकि रामायण में मिल जाती हैं। सभी रसों के उदाहरण उसमें मिल सकते है किन्तु, जैसा कि उल्लिखित उदाहरणों से भी स्पष्ट है, करुण भाव विषयक स्थल ही अधिक हैं। यह कोई अस्वाभाविक बात नही। यही भाव तो प्रारम्भ में वाल्मीकि के हृदय से श्लोक बन कर फूट निकला था। असत्य होता हुआ भी पन्त जी का यह कथन कितना सत्य है — **वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान**। वाल्मीकि वियोगी नहीं थे पर उनका गान वियोगी की आह से ही उपजा था।

जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया है, अनुभूति की गहनता के साथ गेयता गीति काव्य का एक विशिष्ट गुण है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा तो उन्हीं रचनाओं को **गीति** संज्ञा देना चाहते हैं जो असंदिग्ध काव्य रस एव काव्य प्रतिबिम्बना मे युक्त होने के साथ साथ सर्वसाधारण मे गेयरूप से प्रचलित भी हों। तुलसीदास जी की चौपाइयों को वे इसी कोटि में मानते है।[1] इस दृष्टि से वाल्मीकि रामायण भी कम महत्त्वपूर्ण नही है जिसकी गेयता का उल्लेख उसके प्रारम्भ मे ही हुआ है। लव और कुश ने उसे सस्वर गाया था—

**पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।**
**जातिभि: सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम्॥**
**रसैः श्रृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।**
**वीरादिभी रसैर्युक्त काव्यमेतदगायताम्॥[2]**
**तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ स्थानमूर्छनकोविदौ।**
**ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे**
**यथोपदेशतत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ।**

मुनियों ने उनके गाने की बार बार प्रशसा की। उनके मुख से अनायास ही निकल पड़ा कि—

**अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः॥ १-४-१७॥**

रामायण को गीत और लवकुश को **सर्वगीतिकोविद** का विशेषण भी उन्होंने दिया[3] इसके पश्चात् लवकुश ने वीणा पर लय सहित इसका गान किया।[4]

रामायण प्राय· श्लोक छन्द मे लिखी हुई है जो सामान्यतः गेय प्रतीत नही होता। बात यह है कि मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, द्रुतविलम्बित आदि छन्दों के समान वह सहज गेय नहीं है। ये छन्द तो ऐसे हैं कि अपनी नैसर्गिक गेयता तथा मधुर लय के कारण सरलता से ही जुबान पर चढ़ जाते हैं। उनकी लय सहज ही पकड़

---

1. देखिए, हिन्दी गीतगोविन्द (विनय मोहन शर्मा) की भूमिका।
2. वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड सर्ग ४।८।९)।
3. आभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतिषु कोविदौ (वही १।४।५७) हे सर्वगीत्तिषु कोविदौ कुशीलवौ! इदं गीतं गायनयोग्यं वस्तु अभिगीतं सुष्ठु गीतम् इति टीकाकारः)।
4. तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम् (वही, १।४।३४)।

में आ जाती है, किन्तु अनुष्टुप् का गाना सहज नहीं है। पक्के गाने अर्थात् शास्त्रीय संगीत के समान उसकी लय में दुरूहता अवश्य है किन्तु वह भी गेय है। इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं इसे विविध लयों में गाये जाते हुए सुना है। कुश और लव ने भी शास्त्रीय संगीत के नियमों के अनुसार इसका राम की सभा में गान किया था—

**ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदितावगायतां मार्गविधानसंपदा।**
**स चापि रामः परिषद्गतः शनैर्बुभूषयासक्तमना बभूव॥**[1]

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए रामायण की **तिलक** टीका के लेखक ने लिखा है—

**गानं द्विविधं मार्गो देशी चेति। तत्र प्राकृतावलम्बि गानं देशी संस्कृतावलम्बि तु गानं मार्गः। तयोर्मध्ये मार्गाख्यगानमार्गावलम्बनसामग्र्या अगायताम्।"**

अर्थात् गान दो प्रकार का होता है—मार्ग और देशी। प्राकृतावलम्बी गान देशी और संस्कृतावलम्बी गान मार्ग कहलाता है। लव-कुश ने मार्गगान का अवलम्बन लेकर गान किया।

यहाँ प्राकृत शब्द से टीकाकार का अभिप्राय जनसाधारण से है और संस्कृत शब्द से शिष्टजन अर्थ ग्राह्य है तभी संगति ठीक बैठती है। अन्यथा प्राकृत भाषावलम्बी गान कैसा ? संगीत रत्नाकर में द्विविध गान का भेद इस प्रकार स्पष्ट किया है—

**मार्गो देशीति तद्द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते।**
**यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः।**
**देवस्य पुरतः शम्भोर्नियताभ्युदयप्रदः॥**
**देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरञ्जनम्।**
**गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते॥**[2]

'ब्रह्मा आदि ने जिसे व्यवस्थित किया और भरत आदि ने जिस को शंभु के समक्ष प्रयुक्त किया वह **मार्ग** कहलाता है। विभिन्न स्थानों पर जनता की रुचि के अनुसार मनोरंजन करने वाला संगीत देशी कहा गया है।

इससे स्पष्ट है कि मार्ग गान अथवा शास्त्रीय संगीत का प्रयोजन आमुष्मिक था तथा देशी का ऐहिक। एक का लक्ष्य मोक्ष अथवा स्वर्ग की प्राप्ति था और दूसरे का मनोरंजन। इस प्रकार रामायण के उक्त श्लोक में **मार्गविधानसम्पदा** से स्पष्ट है कि लवकुश ने शास्त्रीय गान का आश्रय लेकर इसका गान किया था।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि—

१. वाल्मीकि ने काव्य में भावना तत्त्व को प्रमुखता देने की ओर संकेत किया जो उत्तरोत्तर काव्य साहित्य में समाहित एवं विकसित होता हुआ रस सिद्धान्त

1. वही, १।४।३६
2. संगीत रत्नाकर, पृष्ठ ६।

के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इसीलिये उन्हें **मधुमयभणतीनां मार्गदर्शी महर्षि** (मधुर उक्तियों का मार्ग दिखाने वाला महर्षि) कहा गया है।

२. प्रकृति-वर्णन को काव्य का साध्य न मानकर साधन के रूप में भी अपनाया और उसका उपयोग मानवीय भावों की अभिव्यक्ति मे अधिक तीव्रता, रमणीयता एव प्रत्यक्षीकरण के लिए किया। अर्थात् उन्होंने परवर्ती कवियों को अन्तर्दर्शन का सदेश दिया।

३ इस युग तक सगीतशास्त्र की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उसके दो स्वरूप थे शास्त्रीय सगीत और देशी अथवा लोक सगीत। संगीत की ही भाँति काव्य भी सामाजिक मनोरंजन का एक साधन था और कविता के साथ सगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका था।

४. वाल्मीकि की रचना मे अनेकत्र गीति के पूरे तत्त्व व्याप्त है। स्वय उनका शाप-श्लोक गीतिकाव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। उत्तरवर्ती गीतिकारो के लिये उन्होंने भाव-सामग्री ही नही वस्तु-सामग्री भी दी है। सस्कृत का सर्वश्रेष्ठ गीति काव्य मेघदूत तथा वेदान्तदेशिक का हस-सन्देश अपने थीम के लिये रामायण के ऋणी हैं।

## महाभारत

महाभारत के विषय में **यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्** का दावा किया गया है। नि सन्देह वह अपने समय का अद्वितीय विश्वकोष है। यद्यपि समयानुक्रम से अपने वर्तमान रूप मे वह रामायण से पीछे अस्तित्व मे आया किन्तु काव्य कला की दृष्टि से उसमे कोई महत्त्वपूर्ण विकास-बिन्दु लक्षित नही होते। यही कारण है कि उसे रामायण के समान 'काव्य' सज्ञा प्राप्त न हो सकी। रामायण का कथा-वस्तु-सगुम्फन प्रौढ एव एकनिष्ठ है किन्तु महाभारत में वस्तु-निर्वाह ठीक नही हो सका। विभिन्न आख्यानको की अवतारणा मूलकथा के अनुसन्धान को तो दुरूह बना ही देती है भावात्मक स्थलों पर भी दृष्टि नही जमने देती, फिर भी महाभारत में कतिपय स्थल ऐसे देखे जा सकते हैं जो काव्य कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। स्वयंवर के समय अर्जुन का वरण करती हुई कृष्णा का चित्र लीजिये—

**स्वभ्यस्तरूपापि नवेव नित्यं विनापि हासं हसतीव कन्या।**
**मदादृतेऽपि स्खलतीव भावैर्वाचा बिना व्याहरतीव दृष्ट्या॥**[1]

नित्य देखते रहने पर भी जो नवीन दिखाई पडती थी। सस्मित न होती हुई भी मुस्काती सी लगती थी। नशा न होने पर भी भाववश लड़खड़ाती सी और कुछ न बोल कर भी बोलती हुई सी प्रतीत होती थी।

विरोधाभासजन्य वैचित्र्य को तो जाने दीजिये नायिका-भेद की दृष्टि से विलास और भाव तथा रस की दृष्टि से संभोग शृङ्गार के पोषक हर्ष, अभिलाष आदि सञ्चारियों का भी यह अच्छा उदाहरण कहा जायेगा। यहाँ द्रुपदसुता और

1. महाभारत-आदि पर्व, १८७-२८।

अर्जुन परस्पर आश्रय आलम्बन हैं। 'हँसना' एवं 'स्खलितगति होना' द्रौपदी पक्ष में अनुभाव हैं किन्तु नायक अर्जुन के प्रति उद्दीपन है। **स्वभ्यस्तरूपापि नवेव नित्यम्** नायिका के प्रतिक्षण यौवन विकास की ओर सकेत करता हुआ सौन्दर्य की **क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः** परिभाषा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। **विनापि हासं हसतीव** मे हर्ष के अतिरेक की प्रतीति होती है, **मदादृतेऽपि स्खलतीव भावैः** के मूल मे सौन्दर्य-गर्व-जनित अथवा सौभाग्य-प्राप्ति-प्रवृत्त मद निहित है और **वाचा विनापि व्याहरतीव** से अभिलाष की मौन किन्तु मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इस प्रकार सभोग शृङ्गार के प्राय. सभी तत्त्व इस में प्रस्तुत है।

विप्रलम्भ शृङ्गार का हृदयस्पर्शी स्वरूप नलोपाख्यान के अन्तर्गत दमयन्ती-विलाप मे मिलता है जब नल उसे वन में एकाकिनी छोड़ कर चले जाते हैं :—

पर्याप्तः परिहासोऽयमेतावान् पुरुषर्षभ !
भीताहमतिदुर्धर्ष ! दर्शयात्मानमीश्वर !
दृश्यसे दृश्यसे राजन्नेष दृष्टोऽसि नैषध !
आवार्य गुल्मैरात्मानं कि मां न प्रतिभाषसे।
नृशंस बत राजेन्द्र ! यन्मामेवं गतामिह।
विलपन्तीं समागम्य नाश्वासयसि पार्थिव !
न शोचाम्यहमात्मानं न चान्यदपि किंचन।
कथं नु भवितास्येक इति त्वां नृप ! शोचिमि ॥
कथं नु राजंस्तृषितः क्षुधितः श्रमकर्षितः।
सायाह्ने वृक्षमूलेषु मामपश्यन् भविष्यसि।
ततः सा तीव्रशोकार्ता प्रदीप्तेव च मन्युना।
इतश्चेतश्च रुदती पर्यधावत दुःखिता ॥[1]

'हे पुरुषश्रेष्ठ ! पर्याप्त परिहास हो चुका। मुझे डर लग रहा है, स्वामिन ! दर्शन दो। तुम्हें मैं देख पा रही हूँ। मैंने तुम्हे देख लिया है। झुरमुटों में छिपे बैठे हो। मुझ से बोलते क्यों नही ? तुम बडे निष्ठुर हो। ऐसी दशा मे भी मुझे आकर सान्त्वना नहीं देते। मुझे अपनी या किसी और की कोई चिन्ता नहीं, बस यही सोचती हूँ कि तुम अकेले कैसे करोगे ? सायंकाल में भूखे प्यासे और थके हुए तुम वृक्षों के नीचे (बसेरा करने के लिये) रुकोगे तो मुझे न देखकर तुम्हारी क्या दशा होगी ?'

विरह की आवेग, चिन्ता, वितर्क, उन्माद आदि दशाओं की व्यञ्जना इन श्लोकों में हुई है। मैक्डानल ने इस स्थल की अत्यन्त प्रशंसा की है और इसे

1. वनपर्व, अ० ६३ श्लो० ८।१३।

नितान्त करुणा बताया है।[1] अज्ञातवेष अर्जुन द्वारा परिणीता द्रौपदी के सौभाग्य की चिन्ता मे मग्न द्रुपद की मनोदशा का चित्रण भाव-विह्वलता का उत्कृष्ट उदाहरण है। अपने पुत्र धृष्टद्युम्न से वे पूछते हैं :—

**कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन वैश्येन वा करदेनोपपन्ना।**
**कच्चित्पदं मूर्ध्नि न पङ्कदिग्धं कच्चिन्न माला पतिता श्मशाने॥**
**कच्चित्सवर्णप्रवरो मनुष्य उद्रिक्तवर्णोऽप्युत एव कच्चित्।**
**कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः कृष्णाभिमर्शेन कृतोऽद्य पुत्र॥**
**कच्चिन्न तप्स्ये परम प्रतीतः संयुज्य पार्थेन नरर्षभेण।**
**वदस्व तत्त्वेन महानुभाव! कोऽसौ विजेता दुहितुर्ममाद्य॥**
**विचित्रवीर्यस्य सुतस्य कच्चित् कुरुप्रवीरस्य ध्रियन्ति पुत्राः।**
**कच्चित्तु पार्थेन यवीयसाद्य धनुर्गृहीतं भिन्नं च लक्ष्यम्॥**[2]

वह कही किसी शूद्र अथवा हीनजाति वैश्य को तो प्राप्त नही हो गयी? कही कीचड से लथपथ पैर तो (हमारे) सिर पर नही रखा गया? कही माला श्मशान भूमि मे तो नही जा पडी? बेटा! बताओ तो, क्या वह किसी श्रेष्ठ सवर्ण पुरुष को प्राप्त हुई है? कही कृष्णा के तिरस्कार मे किसी ने मेरे सिर पर बाया पैर तो नही रख दिया? क्या अर्जुन से सम्बन्ध हुआ है और मेरे लिए परिताप का कोई कारण नही है? बेटा! बताओ तो जिसने द्रौपदी का स्वयवर जीता है, वह वास्तव मे कौन है? क्या कुरुवीर विचित्रवीर्य के पौत्र जीवित है? क्या कुन्ती के सबसे छोटे पुत्र ने ही धनुष उठाकर लक्ष्य-वेध किया है?

इन पक्तियों मे व्यक्त मनोदशा द्रुपद के हृदय से सम्बद्ध रही हो अथवा न रही हो किन्तु इनके कवयिता के हृदय मे उसका अनुभव अवश्य हुआ था। रस-सामग्री के अन्यान्य उपकरणो के अतिरिक्त लेखक का तन्निबद्ध पात्र की भावनाओ के साथ भी तादात्म्य होता ही है। वस्तुत ये पक्तियाँ कवि के हृदयजगत् मे अनुभूत स्व-भावनाओं को ही अभिव्यक्त करती है। अत विषय प्रधान होते हुए भी महाभारत मे गीति तत्त्वों का सर्वथा अभाव नही है। पाण्डवो के वनगमन के समय प्रजाजन का क्रन्दन भी भाव प्रवणता की दृष्टि से द्रष्टव्य है—

**वरः कुरूणामधिपः प्रजानां पितेव पुत्रानपहाय चास्मान्।**
**पौरानिमाञ्जानपदांश्च सर्वान् हित्वा प्रयातः क्व नु राजपुत्रः॥**

---

1. Very pathetic is the scene describing how he repeatedly returns to the spot where his wife lies asleep on the ground before he finally deserts her Equally touching are the accounts of the terror on awaking to find herself alone in the forest and of her lamentation as she roams in search of her husband and calls out to him . . . Many and striking are the similies with which the poet dwells on the grief and wasted form of the princess in her separation from her husband. *Hist. of Sans. Lit*, *p. 297*.

2. आदिपर्व, अध्याय १९४-१९५।१८।

धिग् धार्तराष्ट्रं सुनृशंसबुद्धिं धिक् सौबलं पापमतिं च कर्णम् ।
अनर्थमिच्छन्ति नरेन्द्र ! पापा ये धर्म नित्यस्य सतस्तवैवम् ॥
स्वयं निवेश्याप्रतिमं महात्मा पुरं महादेवपुरप्रकाशम् ।[1]
शतक्रतुप्रस्थममेयकर्मा हित्वा प्रयातः क्व नु धर्मराजः ॥

प्रजा के स्वामी कुरुश्रेष्ठ ! हम पुर तथा ग्राम निवासियों को त्याग कर कहाँ चले गये ? क्रूरमति दुर्योधन, पापमति कर्ण तथा शकुनि को धिक्कार है जो नित्य धर्म का आचरण करने वाले युधिष्ठिर का अनर्थ चाहते हैं। महादेव की कैलाशपुरी के सदृश इस अप्रतिम इन्द्रप्रस्थ नगर को स्वयं बसाकर और फिर त्याग कर धर्मराज कहाँ चले गये ?

शतपथ ब्राह्मण में नारी-सौन्दर्य के प्रतिमानों की ओर संकेत किये जाने का उल्लेख हम पीछे कर आये है। महाभारत में नायिका के विलास भाव के साथ साथ नख-शिख-वर्णन की ओर भी प्रवृत्ति पायी जाती है जिसका मध्ययुगीन संस्कृत साहित्य पर सामान्य रूप से और गीति काव्य पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, नायिका-भेद के विकास में महाभारत का योग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राजा लोमपाद द्वारा ऋष्यशृङ्ग को लुभानेके लिये प्रेषित रूपाजीवा के विलास भाव एक चित्र लीजिए—

सा कन्दुकेनारमतास्य मूले विभज्यमाना फलिता लतेव ।
गात्रैश्च गात्राणि निषेवमाणा समाश्लिषच्चासकृदृष्यशृङ्गम् ॥
सर्जानशोकांस्तिलकांश्च वृक्षान् सुपुष्पितानवनाम्यावभज्य ।
विलज्जमानेव मदाभिभूता प्रलोभयामास सुतं महर्षेः ॥[2]

उसने फलों के भार से टूटती-सी लता के समान अपने अंगों से ऋष्यशृङ्ग का अनेक बार आलिङ्गन किया और उसके पास गेंद से खेलती रही। फूलों से लदे अशोक, तिलक तथा सर्ज वृक्षों को झुकाती और नोचती, वह मदमत्त नारी लजाती हुई सी उस ऋषिकुमार को लुभाने लगी।

कवि ने ऋष्यशृङ्ग के मुख से इस अद्भुत ब्रह्मचारी का जो वर्णन कराया है वह नख-शिख-वर्णन के साथ साथ नारी-सौन्दर्य द्वारा स्पृष्ट हृदय की सात्त्विक दशा में सञ्चरित मनोविकार का भी सुस्पष्ट चित्र उपस्थित करता है —

इहागतो जटिलो ब्रह्मचारी न वै ह्रस्वो नातिदीर्घो मनस्वी ।
सुवर्ण-वर्णः कमलायताक्षः स्वतः सुराणामिव शोभमानः ॥
समृद्धरूपः सवितेव दीप्तः सुशुक्लकृष्णाक्षिरतीव गौरः ।
नीलाः प्रसन्नाश्च जटाः सुगन्धा हिरण्यरज्जुग्रथिताः सुदीर्घाः ॥
आश्चर्यरूपा पुनरस्य कण्ठे विभ्राजते विद्युदिवान्तरिक्षे ।
द्वौ चास्य पिण्डावधरेण कण्ठादजातरोमौ सुमनोहरौ च ॥

1. सभापर्व, अध्याय २३ श्लोक ८।११।
2. वनपर्वअध्याय १११, श्लोक १६।१७।

विलग्नमध्यश्च स नाभिदेशे कटिश्च तस्यातिकृशप्रमाणा ।
तथास्य चीरान्तरतः प्रभाति हिरण्मयी मेखला मे यथेयम् ।
अन्यच्च तस्याद्भुतदर्शनीयं विकूजितं पादयोः सम्प्रभाति ।
पाण्योश्च तद्वत् स्वनवन्निबद्धौ कलापकावक्षमाला यथेयम् ॥
विचेष्टमानस्य च तस्य तानि कूजन्ति हंसा सरसीव मत्ताः ।
चीराणि तस्याद्भुतदर्शनानि नेमानि तद्वन्मम रूपवन्ति ॥
वक्त्रं च तस्याद्भुतदर्शनीयं प्रव्याहृतं ह्लादयतीव चेतः ।
पुंस्कोकिलस्येव च तस्य वाणीमभृण्वतो मे व्यथितोऽन्तरात्मा ॥
यथावनं माधवमासि मध्ये समीरितं श्वसनेनेव भाति ॥
तथा स भात्युत्तमपुण्यगन्धी निषेव्यमाणः पवनेन तात ! ॥
सुसंयताश्चापि जटा विषक्ता द्वैधीकृता नातिसमा ललाटे ।
कर्णौ च चित्रैरिव चक्रवाकैः समावृतौ तस्य सुरूपवद्भिः ।
तं प्रेक्षतः पुत्रमिवामराणां प्रीतिः परा तात रतिश्च जाता ॥
स मे समाश्लिष्य पुनः शरीरं जटासु गृह्याभ्यवनाम्य वक्त्रम् ।
वक्त्रेण वक्त्रं प्रणिधाय शब्दं चकार तन्मेऽजनयत् प्रहर्षम ॥
गतेन तेनास्मि कृतो विचेता गात्र च मे सम्प्रति दह्यतीव ।
इच्छामि तस्यान्तिकमाशु गन्तुं न चेह नित्यं परिवर्तमानम् ॥
इच्छाम्यहं चरितुं तेन सार्धं यथा तपः स चरत्यार्यधर्मा ।
चर्तुं तथेच्छा हृदये ममास्ति दुनोति चित्तं यदि तं न पश्ये ॥[1]

एक जटाधारी मनस्वी ब्रह्मचारी, जो कद में न अधिक छोटा था न लम्बा, यहाँ आया था। उसका वर्ण सोने जैसा था और आँखें कमल जैसी आयताकार। अपनी रूपराशि से सूर्य के समान दीप्त, कजरारी आँखो और गौर वर्ण वाले उस ऋषिकुमार की काली जटाएँ लम्बी, सुन्दर, सुगन्धित और स्वर्ण-सूत्रो से ग्रथित थीं। एक विस्मयजनक वस्तु उसके कण्ठ में आकाश मे विद्युत् के समान, जगमगा रही थी। गले मे नीचे दो रोम-रहित सुन्दर पिण्ड थे। उसकी नाभि गहरी और कटि अत्यन्त कृश थी। उसके वस्त्र मे से मेरी जैसी मेखला, जो सोने की बनी थी, झलक रही थी। उसके पैरों की अजीब-सी रुनझुन सुन्दर प्रतीत होती थी। बजने वाले दो कंगन मेरी इस अक्षमाला के समान, उसके हाथो में बँधे थे जो उसके चलने फिरने मे मत्त हसों के समान कूजते थे। उसके चीर अद्भुत रूप से दर्शनीय थे। मेरे वस्त्र वैसे नहीं हैं। उसका मुख भी अद्भुत रूप से दर्शनीय था और आलाप चित को मोह लेता था। उसकी नर कोयल जैसी वाणी नही सुनता हूँ तो मेरी अन्तरात्मा व्यथित होती है। पिता जी ! उसके उत्तम सौरभ और शरीर से लगकर आती हुई वायु ऐसी मनोरम प्रतीत होती थी जैसे वसन्त का समीर। उसकी जटाएँ सुन्दर ढंग से दो भागों में बँधीं थीं। उसे देखते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हुआ।

---

1. वनपर्व, अध्याय ११२।

मेरे शरीर का आलिङ्गन करते हुए उसने मेरी जटाओं को पकड़ कर मेरा मुख झुकाया और अपने मुख मे उसे दबाकर जो शब्द किया उससे मुझे अत्यन्त आनन्द मिला। उसके जाने से मैं सुध-बुध भूल गया हूँ। मेरा शरीर जला जा रहा है। मैं शीघ्र उसके पास जाना चाहता हूँ। मेरे मन में आता है कि उसके साथ उसी के जैसा तप करूँ। उसे नही देखता हूँ तो मेरा मन दुखी होता है।

नायिका की शरीर-कान्ति, सामूहिक सौन्दर्य तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गों के सौन्दर्य का चित्रण तो, जो काव्यशास्त्रीय दृष्टि से नायिका-भेद में नखशिख वर्णन के अन्तर्गत आता है, इन पंक्तियो में है ही, पिछले दो श्लोकों में सौन्दर्य-दर्शन के प्रथम प्रभाव से जनित मनोदशा का चित्रण भी है जिसमें अभिलाष और विषाद सञ्चारियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

महाभारत के उपर्युक्त तथा तत्सदृश अनेकानेक उदाहरणो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि गीतिकाव्य के विकास की परम्परा मे इस विश्वकोष का भी अप्रत्यक्ष योगदान अवश्य रहा है, वाल्मीकि ने मानवीय मनोभावो को काव्य का प्रवृत्तिनिमित्त बनाने का श्रीगणेश किया था। महाभारत मे यत्र-तत्र उपयुक्त प्रसंगों में इस प्रवृत्ति का उदयाभिमुख स्वरूप दृग्गोचर होता है। इतना ही नहीं, काव्य-शास्त्रीय नायिका-भेद-गत नखशिख-वर्णन का जो प्रारम्भ अनायास ही शतपथ ब्राह्मण मे हुआ था—नारी सौन्दर्य के जो मानदण्ड स्थिर किये गए थे—उनका पूरा-पूरा प्रतिफलन ही नहीं, विकसित चित्र भी महाभारत में मिलता है जो केवल बाह्य रेखाओं की सुषमा के कारण अभिनन्द्य ही नही है अपितु हृदयनिगूढ़ अनुभूतियों के मरम उद्घाटन के कारण हृद्य भी है। यह उस विशिष्ट धारा का पूर्व रूप है जो कालिदास और अमरुक जैसे कलाकारो की प्रतिभा का योग पाकर अनवद्य हो उठी थी। कथानक निबद्ध होने पर भी इसका महत्व स्वतः स्वतन्त्र है। इनकी सरसता कथा-वस्तु-मुखापेक्ष नही है। हाँ, कथानक की रोचकता इन पर निर्भर अवश्य है।

## पुराण साहित्य

पुराण काल मे भक्ति-भावना को बल मिला। यद्यपि भक्ति का उद्गम ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं के आधार पर वैदिक युग में ही सिद्ध होता है। भक्ति के अनेक तत्त्वो एवं कतिपय स्वरूपों का अनुसन्धान भी ऋग्वेद में किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे पीछे दैन्य, आत्मसमर्पण आदि भावो की दृष्टि से वशिष्ठ-रचित वरुणसूक्त का नाम लिया जा सकता है, फिर भी वैदिक युग यज्ञों का युग था। ब्राह्मण काल मे तो कर्मकाण्ड का विधान अत्यन्त जटिल हो ही गया था। ऋग्वेद काल मे भी उपासना के लिये वेदी, हविः, दर्भ, सोम आदि की व्यवस्था भी करनी ही पड़ती थी। पुराण काण मे कर्मकाण्ड का झमेला गौण माना जाने लगा और शनैः शनैः उपेक्षित हो चला था। आराध्यदेव के चरणों मे प्रेम और श्रद्धा के मधुर मकरन्द से सम्पन्न वाणी के कुसुमों का अर्पण किया जाने लगा जिसके ध्वनि सौरभ का वैभव हृदय को उल्लास से भर देता है। पुराणों में प्रकीर्ण अनेक स्तोत्र,

जिनकी संख्या बहुत बडी है, इस बात के प्रमाण है कि उपासना पद्धति का बाह्य स्वरूप जो कभी साध्य था अब साधन के रूप में भी अनिवार्यतः ग्राह्य न रह गया था। प्रसार की अपेक्षा घनत्व को महत्त्व दिया जाने लगा था। यदि एक शब्द में ही इस परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए कहा जाये तो हम कह सकते है कि इस क्षेत्र में भी मानव 'अन्तर्मुख' हो उठा था और पूजा के लिये भावना को ही मुख्य साधन स्वीकार करने लगा था। यही कारण है कि इन पौराणिक स्तोत्रों में विभिन्न देवताओं के स्वरूप, व्यापार, गुण, महत्त्व और प्रभाव का भावुकतापूर्ण वर्णन मिलता है इसमे वस्तु-वर्णन उस कोटि का नही है जिस कोटि का कथा-प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये अपेक्षित होता है क्योंकि इनमे कथानक एक प्रकार से होना ही नही। उपास्य के गुण और व्यापारों का वर्णन देव विषयक रति के द्योतन का उपकरणमात्र होता है। भाव पक्ष की दृष्टि से इन स्तोत्रों में उस तत्त्व का समावेश हुआ है जो आगे चल कर भक्ति रस के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ और विविध प्रणालियों से विभिन्न भाषाओ के कवियो की रचनाओ मे उमडता हुआ भारतीय इतिहास मे भक्ति काल का प्रतिष्ठापन कर सका। आलवार और आडवार भक्तों के गीत, मराठी एवं हिन्दी कवियों के अनेक पद तथा कृष्ण भक्तों के सुमधुर गीत इसी परम्परा का विकसित रूप प्रस्तुत करते है। अत भक्ति रस परक गीति काव्य के विकास मे इनका बडा भारी महत्त्व है। गेयता के साथ साथ इन मे भावों की एकनिष्ठता एवं शैलीगत सहज सरसता भी द्रष्टव्य है। उदाहरण लीजिए—

मायाततं येन जगत्त्रयं कृतं यथाग्निनेंकेन ततं चराचरम्।
चराचरस्य स्वयमेव सर्वतः स मेऽस्तु विष्णुः शरणं प्रजापति.॥
भवे भवे यश्च ससर्ज कं ततो जगत्प्रसूतं सचराचरं त्विदम्।
ततश्च यत्रात्मवति प्रलीयते ततो हरिर्विष्णु हरस्तथोच्यते॥
रवीन्दुपृथ्वी पवनादिभास्करा जलं च यस्य प्रभवन्ति मूर्त्तयः।
स सर्वदा मे भगवान् सनातनो ददातु शं विष्णुरचिन्त्यरूपधृक्॥[1]

केवल स्तोत्र आदि ही नहीं, धर्मनिरपेक्ष कविता भी पुराणों में प्राप्त है। प्रकृति के सुन्दर चित्र भी यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। शारदी निशा वर्णन के दो पद्य लीजिए—

ततस्तु रात्रिः समपद्यताधुना शरच्छशाङ्कोज्ज्वललक्ष्ममण्डिता।
करोति रागं स च रोहिणीधवः सुसंगतं सौम्गुणैर्युतोऽपि च॥
भृगूद्वहः कृष्णतरांशु भानुना सहोद्यतो दैत्यगुरुः सुराधिपः।
अथान्यथापक्षगतो न राजते स्वभावयोगेन मतिस्तु देहिनाम्॥[2]

वस्तुतः स्तुत्यात्मक स्थलों के अतिरिक्त पुराण प्रायः विवरणात्मक ही है। गीतिकाव्य की दृष्टि से भागवत के विभिन्न गीतों वाले स्थल बडे महत्त्वपूर्ण हैं।

1. नारदकृत विष्णुस्तुति, वराह पुराण, अ० ८ श्लोक ४७-४९।
2. वही, ३१।४३-५४।

इन स्थलों पर प्रेम, प्रेम करने की इच्छा, विरह-सम्भावना अथवा सांसारिक कटुता की अनुभूति से हृदय के उद्गार गीत रूप मे फूट पड़े है। इनका गीत नाम युक्तियुक्त ही है। ये गीत है—वेणुगीत, गोपी गीत, युगल गीत, भ्रमर गीत, द्वारका की श्रीकृष्ण की पत्नियों का गीत, पिंगला गीत, भिक्षु-गीत, ऐल-गीत और भूमि गीत, इन गीतों के प्रसग भाषा और शैली सभी गीति काव्य के सर्वथा अनुकूल पड़ते है, वेणुगीत मे कृष्ण की वंशी-ध्वनि से उन्मत्त गोपिकाएँ भावावेश मे कृष्ण को अपनी कल्पना के समक्ष पाकर एक दम गा उठती है कि कृष्ण-बलराम का अनुराग भरे कटाक्ष करने वाला तथा बासुरी से सुशोभित मुख जिन्होंने सतृष्ण देखा है उनके नयन सफल है। इसमे बढ़कर नयनो का फल हो नही सकता—

**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः ।**
**वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥[1]**

गोपी गीत गोपियों की विरह-कातर वाणी का वह समुच्छ्वसित रूप है जो रासलीला के मध्य मे कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर अनायास ही निकल पड़ा था। सब गोपियाँ एक साथ रुदन करती हुई गा उठी थी कि तुम्हारे जन्म से ब्रज भूमि धन्य हो उठी है। लक्ष्मी सदैव यहाँ निवास करने लगी है। हे प्रिय ! दर्शन दो। तुम्हारी प्रेयसियाँ, जिनके प्राण तुम मे है, तुम्हे दिशाओ मे खोज रही है।

**जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।**
**दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥[2]**

कृष्ण के गोचारण हेतु बन चले जाने पर गोपियाँ उन्हीं का चिन्तन करती हुई कृष्ण लीला-गान मे ही जैसे तैसे दिन बिताया करती थी। इन्ही गीतो को भागवत मे युगल गीत कहा गया है।

भ्रमरगीत मे गीत का वह स्वरूप है जिसमे अन्तर्वेदना की चरमावस्था अभिव्यक्त होती है, मनुष्य चेतन-अचेतन के ज्ञान से शून्य हो जाता है और सब कुछ भूल जाता है। उद्धव से ज्ञान करते करते गोपियाँ भी सब कुछ भूल गई और रो पड़ी। अपने चरणो की ओर गिरते हुए भौरे को कृष्ण का दूत समझकर एक गोपी उसे ही उपालम्भ देने लगी—

**मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः—**
**कुचविलुलितमालाकुंकुमश्मश्रुभिर्नः ।।**
**वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं ।**
**यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥[3]**

अरे (उस) धूर्त के मित्र भौरे ! सपत्नियों के कुचो से आलोडित माला के कुंकुम से सनी हुई मूंछो से हमारे चरण का स्पर्श मत कर। अपनी मानिनियों के

1. श्रीमद्भागवत, १०।२१।७।
2. वही, १०।३१।१।
3. श्रीमद्भागवत, १०।४७।१२।

यादवों की सभा मे उपहसनीय, इस प्रसाद को मथुराधीश कृष्ण ही धारण करें जिन का दूत तुम जैसा व्यक्ति है।

द्वारिका की श्रीकृष्ण-पत्नियों का गीत-प्रेमोन्माद वियोग में ही नही संयोग मे भी दीख पड़ता है। वे सयोग सुख में भी इतनी विह्वल हो जाती हैं कि उन्हे यह ध्यान ही नहीं रहता कि वे श्रीकृष्ण के समीप ही है। प्रेमोन्माद की दशा मे वे विरह का अनुभव करने लगती है और प्रलाप करती हुई कल्पना-स्थित, कुररी, चकवी, सागर, चन्द्र, मलयानिल, मेघ, कोयल, हस और सरिताओ को सबोधित करती हुई उन्हे श्रीकृष्ण के दूत समझ कर उपालम्भ देने लगती है।[1] पिंगला गीत[2], भिक्षु गीत[3], ऐलगीत[4] और भूमिगीत[5] निर्वेदगीत है। ससार की कटुता के अनुभव से उद्भूत मानसी व्यथा की अभिव्यक्ति इन गीतों मे हुई है। पिंगला और पुरुरवा मे अतृप्त विलास की प्रतिक्रिया स्वरूप निर्वेद की उत्पत्ति हुई जो उनके गीतों मे प्रकट हुआ है। भिक्षुगीत में लोगों से अपमानित दीन ब्राह्मण आत्मोद्धार करता है। भूमिगीत मे पृथ्वी राजाओं की विजयाकाक्षा पर व्यग्य करती हुई गाती है कि राजा लोग, जो मृत्यु के खिलौने है, मुझे जीतना चाहते है। पानी के बुलबुले जैसे अपने जीवन का विश्वास करते और धोखा खाते है।

भागवत के ये गीत गीति-काव्य के सभी तत्वो मे समवेत है। इस दृष्टि से भी पुराण साहित्य मे भागवत का अधिक महत्त्व है। डा० मनमोहन गौतम का यह कथन उल्लेखनीय है कि अन्तरात्मा की दृष्टि से भागवत की उपर्युक्त पदावली का गीत नाम सर्वथा उपयुक्त है। शिल्प की दृष्टि से इनमे स्वर और लय का विधान गीतो जैसा नही है। सभी गीत सस्कृत के वर्णवृत्तों—शिखरिणी, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा आदि—मे रचे गये है।"[6]

यहां हमे केवल इतना ही कहना है कि शिल्प-विधान की दृष्टि से संस्कृत और हिन्दी के गीतो की तुलना करना ही सर्वथा असमीचीन है। सस्कृत और हिन्दी गीतो की अपनी अपनी परम्पराएँ हैं जो युग विशेष मे परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होती हुई भी अपनी स्वतन्त्र विशेषता को बनाए रही है। आधुनिक युग मे तो संस्कृत काव्य पर हिन्दी-गीतों के शिल्प-विधान का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अत. उनके शिल्प-विधान की तुलना की जा सकती है किन्तु भागवत के आविर्भाव के समय तो शायद हिन्दी का जन्म भी नही हुआ था। अतः हिन्दी गीतों की शिल्पकला को भागवत मे देखने की इच्छा करना शेखचिल्ली के मन्सूबे जैसी ही वस्तु होगी। सस्कृत के छन्दो की अपनी लय और अपने स्वर है

1. श्रीमद्भागवत, १०।८।२१।३३।
2. " २६।७।२४।
3. " ११।२३।४३-५८।
4. " ११।२६।७-२४।
5. " १२।३।२-११।
6. सूर की काव्यकला, पृष्ठ ३६६।

जिनमें संस्कृत के गीत बँध कर चले है। स्वयं डा० गौतम ने इस तथ्य को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। भागवत के गीतों के विषय में वे आगे लिखते हैं—"इतना अवश्य है कि जहाँ-जहाँ वे गीत भागवत में हैं वहाँ वे वर्णनात्मक श्लोकों से अलग ही दिखाई पडते है। शिखरिणी आदि वृत्तों में गेयत्व पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है, उनकी लय मार्मिक गीतो की भावधारा के सर्वथा अनुरूप है। साराश यह है कि यद्यपि भागवत के गीतों मे हिन्दी गीतों का शिल्प-विधान नहीं मिलता तथापि गीत के सभी तत्वो से समन्वित होने के कारण ये ही साहित्यिक गीत-परम्परा के स्रोत-स्थल है।[1]

इस प्रकार पुराण-साहित्य के अवलोकन से निम्नलिखित बाते स्पष्ट हो जाती है—

(१) पुराणों के विवरणात्मक वृहत् कलेवर मे यत्र तत्र स्तोत्रों के रूप में भावुक हृदय का स्पन्दन सुन पडता है। ये स्तोत्र वैदिक स्तुति मन्त्रों तथा उत्तरवर्ती साहित्यिक स्तोत्रो के, जिन्हे धार्मिक गीति कहा गया है, मध्य की कड़ी हैं।

(२) विशेष रूप से भागवत की लीलागान परम्परा का उत्तरवर्ती गीतिकारो पर अधिक प्रभाव पडा। अनेक वैष्णव आचार्यों और कवियों ने अपनी रचनाओं के लिये भागवत से ही थीम लिया और बाद मे यह परम्परा संस्कृत के माध्यम से हिन्दी साहित्य मे भी प्रविष्ट हुई जिसमे कृष्ण-भक्ति-साहित्य के अन्तर्गत उच्च कोटि के गीतों का प्रणयन हुआ।

## महाकाव्य

'मन मे जब एक वेगवान् अनुभव का उदय होता है तब कवि उसे गीति काव्य मे प्रकाशित किये बिना नही रह सकता।'[2] 'गीतिकाव्य मे माधुर्य मृदुता और आन्तरिक आवेग का गुण होता है, इसके विपरीत महाकाव्य मे गाम्भीर्य, प्रशस्तता और उदात्तता का गुण होता है। गीतिकाव्य की तुलना पहाड़ी झरने से नाटक की प्रवहमान मैदानी सरिता से और महाकाव्य की गुरु गम्भीर सागर से की जा सकती है।'[3] किन्तु जिस प्रकार गम्भीर सागर में भी यदा कदा उत्तुङ्ग तरङ्गों का उन्मुक्त नृत्य पहाड़ी झरने की अदम्य प्रवहणशीलता को भी मात कर दिया करता है उसी प्रकार कही-कही महाकाव्य के कलेवर मे भी ऐसे स्थल आ ही जाते है जो सशक्त अन्त. प्रेरणा के उच्चतम प्रतीक होते है और प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा गीति काव्य के अधिक निकट रहते है। आधुनिक युग मे तो मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना को महाकाव्य का भी साध्य मान लिया गया है। आज का कवि वस्तु अथवा इतिवृत्त को इतिहास की कोटि मे रखता है और महाकाव्य मे उसका आश्रय उतना ही आवश्यक समझता है जितना भावों की अभिव्यक्ति के आधार स्वरूप अपेक्षित है। कार्य व्यापारो का चित्रण भी प्रधानतया नाटक का विषय है, श्रव्यकाव्य का नहीं।

1. सूर की काव्यकला, पृष्ठ ३६७।
2. रवीन्द्रनाथ टैगोर, मेघनाथ बध का भूमिका, पृष्ठ १५३।
3. डा० शम्भूनाथ सिंह, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृष्ठ ११५।

पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है कि महाकाव्य की रोचकता उसमें निहित मनोभावों तथा आध्यात्मिकता के नियोजन पर निर्भर है, मानवीय व्यापारों का स्थान तो गौण है।[1] विश्व साहित्य की ये प्रवृत्तियाँ, जिनकी मान्यता इस युग की देन समझी जाती जाती है, संस्कृत महाकाव्यों में स्वत. ही स्थल-स्थल पर प्रतिबिम्बित हुई है। उक्त मान्यता अप्रत्यक्ष रूप से इस बात की ओर भी संकेत करती है कि आध्यान्तरिक एवं वस्तु-परक (Subjective & Objective) काव्य-भेद औपचारिक ही है, वास्तविक नहीं, क्योंकि यह गीतिकाव्य और प्रबन्ध काव्य की प्रमुख सीमाओं को अलग करने की अपेक्षा मिलाती अधिक है। वस्तु अथवा चरित्र की प्रधानता की अपेक्षा आधुनिक प्रबन्ध-काव्यों में भाव-प्राधान्य को ही अधिक प्रश्रय देने की चेष्टा की गयी है। यही कारण है कि हिन्दी का प्रसिद्ध महाकाव्य 'कामायनी' गीतिकाव्य के अत्यन्त निकट है। साकेत का नवम तथा दशम सर्ग कथानक से एक दम मुक्त है और विशुद्ध गीतिकाव्य से ओतप्रोत है। संस्कृत महाकाव्यों में भी कहीं कहीं कथा-वस्तु निर्वाह की अवहेलना करके भाव-प्रधान स्थलों की सृष्टि हुई है। उदाहरण के लिये कालिदास के कुमारसंभव का नाम सर्वप्रथम लिया जायेगा। यों तो यह सारा काव्य ही कवि की समुच्छ्वसित भावनाओं से ओत-प्रोत है किन्तु पार्वती का सौंदर्य-चित्रण तथा रति-विलाप विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नव-यौवन की प्रथम किरण का स्पर्श पाकर विकासोन्मुख पार्वती के कलेवर-कमल का दर्शन कीजिए जो नव-यौवन के अवतार से ऐसा सुडौल लगता है जैसे उसे ब्रह्मा ने तूलिका से उरेहा हो।

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरश्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥[2]

प्रथम चरण में पूरे शरीर की कान्ति, दूसरे में कोमलता और तीसरे में विविध अवयवों की सुविभक्तता की अभिव्यक्ति हुई है। सौन्दर्य-दर्शन की क्रमिक दशाओं का यह मनोवैज्ञानिक चित्रण है। सर्वप्रथम समूचा पदार्थ व्यापक रूप में चक्षुरिन्द्रिय का विषय बनता है तत्पश्चात् उसकी कोमलता या कठोरता का आभास होता है और यह सब हो चुकने पर दृष्टि प्रत्येक अंग के सौन्दर्य को विश्लिष्ट करके देखती है। इस सौन्दर्य की अनुभूति से अभिभूत-हृदय कवि संसार में उसका कोई एक उपमान ही नहीं पाता। उसके हृदय पर रूप का जो प्रभाव पड़ा वही उसे यह कल्पना करने के लिये बाध्य कर देता है कि—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकत्र सौन्दर्यदिदृक्षयेव॥[3]

1. The epic interest tends to centre less round the deeds of men and more round their inner feeling and their spritual hearing. *A. R. Entwistle. The study of Poetry.*

2. कुमार संभव, १।३२।

3. वही, १।४९।

इसी प्रकार तीसरे सर्ग में एक अत्यन्त प्रभावशाली भावात्मक वातावरण की सृष्टि की गयी है जिसमें कवि की भावना समस्त प्रकृति पर छा गयी है। प्रकृति को पृष्ठ भूमि बना कर वह तिर्यग्योनियों के ऊपर अपना सम्मोहन डालती हुई किसी महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥
ददौ रसात् पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥[1]

प्रिया का अनुवर्तन करते हुए भौंरे ने एक ही पुष्प-पात्र में मधु-पान किया। कृष्णसार हरिण अपने सींग से हरिणी को खुजलाने लगा जिसकी आँखें स्पर्शजन्य आनन्द के कारण मुकुलित हो चली थीं। हथिनी ने कमलों के पराग से सुरभित जल मुख में लेकर हाथी को प्रणय सहित समर्पित किया और चकवे ने अपना अर्धोपभुक्त मृणाल प्रिया को भेंट किया।

भावात्मकता की दृष्टि से कवि का यह प्रकृति-वर्णन अपने आप में पूर्ण है फिर भी वह साध्य नहीं साधन ही है। कवि की प्रतिभा ने साध्य के सोपान रूप वातावरण को परम उत्कर्ष तक पहुँचाने के हेतु लगभग दो तिहाई सर्ग लगा दिया है जिसमें कथानक की स्थिति सघन सुमन-माला में अदृश्य सूत्र के समान ही है। यदि कवि घटनाओं की सूचना ही देना चाहता अथवा कथानक के प्रवाह को ही प्रमुख समझता तो वह चलता वर्णन कर देता, स्वयं ही यह अवरोध उत्पन्न नहीं करता। अतः ज्ञात होता है कि उसका लक्ष्य कुछ और ही है और जब हम देखते हैं कि :—

हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥[2]

तो हमें उसके लक्ष्य और सफलता की प्रतीति एक साथ हो जाती है। समूचे सर्ग में अत्यन्त संवेदनपूर्ण वातावरण छाया हुआ है जो विश्वासपूर्वक गीत्यात्मक वातावरण कहा जा सकता है।

चतुर्थ सर्ग में रति का करुण विलाप है। रति-आलम्बन के सर्वथा लुप्त होने से उत्पन्न शोक संयोग-कालीन क्रीडाओं की स्मृति, चिन्ता, ग्लानि, आवेग आदि संचारियों से तीव्र होकर वसुधा-विसर्पण, उरस्ताडन आदि अनुभावों द्वारा अभिव्यक्त होता हुआ रस रूप में परिणत होता है। पति-वियुक्ता रति की आत्म-विरति, दैन्य, आत्म-गर्हणा आदि से पूर्ण उक्तियाँ उसकी अदम्य मनोव्यथा की सूचक है। पाठक यहाँ आकर आत्म-विस्मृत हो जाता है। उसे यह ज्ञान ही नहीं रहता कि

1. कुमार संभव, ३।३६–३७।
2. वही, ३।६७।

वह कोई प्रबन्ध काव्य पढ़ रहा है क्योंकि प्रबन्ध काव्य का मुख्य आधार—कथानक—भावनाओं से दबकर दृष्टि से ओझल हो जाता है और जब वह पढ़ता है—

विबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।
तमिमं कुरु दक्षिणेतरं चरणं निर्मितरागमेहि मे ॥[1]

तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सचमुच रति का आर्तनाद सुन रहा है। निष्ठुर देवताओं ने रति के चरणों में जावक देते हुए काम को अपने काम के लिये बुला भेजा। वह अपनी प्रेयसी के दायें पैर में ही महावर लगा पाया था कि इन्द्र का आदेश पाकर उसे शिव का ध्यान भंग करने के लिये जाना पड़ा, परन्तु शिव उसके लिए अशिव बनकर आये। वह उनकी क्रोधाग्नि मे जल गया और रति लाक्षा रक्त एवं लाक्षा-रहित चरण को देख देख कर रोती हुई कहती है—"प्रिय! इसे पूरा तो कर दो।" कितनी करुण कल्पना है? कैसा शाश्वत सत्य है? वाल्मीकि की क्रौञ्ची के समान कालिदास की रति भी भावोद्बोध की प्रेरणा बन कर आयी। वसन्त के प्रति रति की इस उक्ति में कितनी निराशा, विषाद, दीनता और विवशता है।

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम् ॥[2]

आह! तुम्हारा वह सखा वायु से आहत दीपक के समान चला ही गया। अब नही लौटेगा। और मै असह्य दुःख में पड़ी उसकी धुँआ देती हुई बत्ती के समान रह गयी हूँ।

ऐसे ही स्थल प्रबन्ध काव्य को काव्य संज्ञा प्रदान करते है। यदि इन्हे निकाल दिया जाये तो वह इतिहास अथवा कहानी से अधिक कुछ नही, और जैसा कि हम पिछले अध्याय मे कह आये है जान ड्रिंकवाटर ऐसे स्थलों को कवि की विशुद्ध कवित्वशक्ति (Poetic energy) प्रेरित रचना मानता है और उसके मत से गीति इससे भिन्न कुछ नही होती।

इसी प्रकार रघुवंश के आठवे सर्ग मे अज-विलाप भाव-सान्द्रता की दृष्टि से बेजोड़ है। संसार का बलवत्तम पुरुष भी दैवी शक्ति के समक्ष कितना तुच्छ है! इस तथ्य की करुण अनुभूति कवि के इन शब्दो मे व्यक्त हुई है—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये निहिता किं न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥
अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एव वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥[3]

प्रणय-जगत् मे आश्रय के देखते-देखते आलम्बन का करुण अवसान भाग्य का दारुण आघात है। अपने सुरभिरस से जीवन मे जीवन भर देने वाले कोमल कुसुम

1. कुमार सभव, सर्ग ३।
2. वही, ४।३०।
3. रघुवंश, ८।४६-४७।

ही जब कुलिश का कार्य करने लगें तो मनुष्य का हृदय कैसे न टूट जाये—

> धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
> गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ।[1]

शयन ही नहीं सब कुछ सूना हो गया क्योंकि प्रेयसी ही नहीं तो सब कुछ खो गया—

> गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ ।
> करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बत किं न मे हृतम् ।।[2]

यह महारानी इन्दुमती की मृत्यु पर महाराजा अज का विलाप है ? महाकवि कालिदास की उक्ति है ? या सर्वलक्षणसम्पन्ना पत्नी के चिरनिद्रामग्न हो जाने पर किसी पति की आत्मा का करुण क्रन्दन है ? सब कुछ है, सब की अनुभूति है, इसीलिये व्यापक और गम्भीर है, लय कर लेने वाली है। और क्योंकि लयात्मक तथा अतिशय कोमल है इस लिए गीति है। कालिदास की कविता इसीलिये रमणीय है कि उसमे एक अन्तःसंगीत (जो गीतिकाव्य की एक विशेषता है और जिस का उल्लेख पिछले अध्याय मे किया जा चुका है) भी बाह्य संगीत के साथ-साथ व्याप्त है।[3]

बौद्ध महाकवि अश्वघोष के काव्यो मे भी स्वतः उच्छ्वसित भावनाओं का कूलंकष प्रवाह बहता रहता है। उनकी कथानक-चारुता रुचिकर है किन्तु उनके काव्य की मर्मस्पर्शिता मनोभावों से ही है। मानवीय पदार्थों की नश्वरता के वर्णन में तो मानो वे अपनी सभी विद्वत्ता, पाण्डित्य, दर्शन, धर्म-प्रचार आदि बातों को भूल जाते है और हृदय के अन्तस्तम में निगूढ निर्वेद की धारा बहा देते हैं।[4] एक उदाहरण लीजिए—

> ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः ।
> गतं गतं नैव तु संनिवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनम् ।।[5]

ऋतु बीत जाती है तो फिर लौट आती है। क्षीण होकर लुप्त हुआ चन्द्रमा

---

1. रघुवंश, ८।६५।
2. ,, ८।६६।
3. There are occasional bursts of rare and elsewhere unheard music. (*S. K. Dey Hist. of Sans. Lit., p. 180*)
4. His skill in narration keeps us interested, but the real appeal derives from the spontaneous emotion which overflows in his poetry. Equally insistent throughout in his sense of the impermanence of all man-done phenomenan however delightful that be,....... When he comes to deal with that which lies at the core of his being, he sheds his learning and drops all play with rhetorical and padantic tricks, to speak straight from the heart. (*Dr. E. H. Johnston, Introduction to Budhacharit, pp. 46–47.*)
5. सौन्दरनन्द. ९।२८।

भी लौट आता है, किन्तु नदियो का जल और मनुष्यों का यौवन जाकर लौटता नहीं।

यह श्लोक महाकाव्य से विच्छिन्न होकर भी उतना ही आस्वाद्य है जितना प्रबन्ध काव्य के कथानक मे गुम्फित रह कर। इसी प्रकार सुन्दरी और नन्द के पारस्परिक प्रणय-बन्ध का कवि ने हृदयग्राही वर्णन किया है जिसका प्रत्येक पद्य सम्पूर्ण घटना का उपकारक है किन्तु स्वत:पूर्ण एव आस्वाद्य है।[1]

सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् जब छन्दक और कन्थक वापिस लौट आते है तो समस्त नगर पर शोक की गहरी छाया पड़ी पाते है। राजमहल की स्त्रियो की यह दशा थी कि—

**हतत्विषोऽन्या: शिथिलांसबाहव: स्त्रियो विषादेन विचेतना इव।**
**न चुक्रुशु र्नाश्रु जहुर्न शश्वसुर्न चेलुरार्मुलिखिता इव स्थिता:॥**[2]

स्त्रियों की मुख कान्ति फीकी पड गयी। दु:ख के कारण उनकी चेतना ही जाती रही थी। वे न क्रन्दन करती थी, न आँसू बहाती थी, न सास ले रही थी, और न हिलती थी। बस चित्र लिखित सी रह गई थी।

स्त्रियो की इस जडता को छोड़कर यशोधरा के इस प्रश्न को देखिए। प्रिय-विरह-जन्य आवेग के कारण स्नेहपात्र की अवधीरणा भी कितनी स्वाभाविक है :—

**निशि प्रसुप्तामवशां विहाय मां गत: क्व स च्छन्दक! मन्मनोरथ.।**
**उपागते च त्वयि कन्थके च मे समं गतेषु त्रिषु कम्पते मन:॥**[3]
**प्रियेण वश्येन हितेन साधुना त्वया सहायेन यथार्थकारिणा।**
**गतोऽर्यपुत्रो ह्यपुर्ननिवृत्तये रमस्व दृष्ट्या सफल: श्रमस्तव॥**[4]

छन्दक! मेरा वह मनोरथ रात्रि मे मुझे असहाय अवस्था मे सोती छोड कर कहाँ चला गया? तुम तीनों साथ गये थे। तुम और कन्थक तो लौट आये। अत: मेरा मन काँप रहा है। तुम जैसे प्रिय हितू और सेवक के साथ आर्य-पुत्र कभी न लौटने के लिये चले गये। तुम्हारा श्रम सफल हुआ। अब मौज करो।

सुत-वत्सला गौतमी के हृदय की झाँकी कवि के इन शब्दों मे मिलेगी—

**विमानपृष्ठे शयनासनोचितं महार्हवस्त्रागुरुचन्दनार्चितम्।**
**कथं नु शीतोष्णजलागमेषु तच्छरीरमोजस्वि वने भविष्यति॥**

---

1. Each verse presents a perfect little picture but is subordinated to its place in the whole, and the tempo is exacty right, neither too harty nor too long drawn out, (वही pp. LXXXVII), see also, सौन्दरनन्द, सर्ग ४ श्लोक ११।२३।

2. बुद्धचरित, ८।२५।

3. वही, ८।३२।

4. ,, ८।३४।

**शुचौ शायित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिःस्वनैः ।**
**कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥[1]**

सतमंजले महल पर सोने और बैठने योग्य तथा बहुमूल्य वस्त्र, अगर और चन्दन से चर्चित उसका ओजस्वी शरीर गर्मी, जाड़े और बरसात मे कैसे रहेगा ? रात मे सोने के सुन्दर पलग पर सोकर प्रातः मङ्गलवाद्यों की ध्वनि से निद्रा त्याग करने वाला वह मेरा तपस्वी एक वस्त्र मात्र से आच्छादित पृथ्वी पर कैसे सोयेगा ?

काव्य-रस की दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी अश्वघोष ने अपने काव्यों को धर्म-प्रचार का साधन कहा है । उनके अनुसार उनका काव्य शर्करावेष्टित तिक्तौषध-वटिका जैसा है और उनका उद्देश्य धर्मोपदेश है, मानवीय भावोद्बोध नहीं ।[2] बात यह है कि काव्य द्वारा मनोभावों के आस्वाद्य हो जाने से भिक्षुओं की चित्तवृत्ति पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था जिससे वे धर्म-प्रवचनों की उपेक्षा कर ललित काव्य मे लीन हो सकते थे इस लिये भगवान् बुद्ध ने भावात्मक काव्य-श्रवण का भिक्षुओं के लिए निषेध किया था ।[3] अश्वघोष बुद्ध के श्रद्धालु अनुयायी थे । अत अपने काव्य-धर्म मे प्रवृत्त होने का औचित्य उन्हे सिद्ध करना ही था ।[4] वस्तुतः उनके रस-सिद्ध कवि होने मे कोई सन्देह नहीं है । बुद्ध के चरित-चित्रण में कोई भी कवि उनसे बाजी नही ले सका ।[5] अश्वघोष की रचना मे आत्माभिव्यंजन की जो प्रवृत्ति पायी जाती है उसने काव्य मे आत्म-विषयक विचारावलि की प्रतिष्ठा की ।[6] महा-महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार अश्वघोष ने सुन्दर गीतों की भी रचना की थी ।[7] सौन्दरनन्द के विषय मे उनका कथन है कि इस काव्य में सुन्दरी और नन्द के महान् प्रेम का चित्रण है ।[8] वास्तव मे दाम्पत्य प्रेम की गहन अनुभूति, विरह की मार्मिक वेदना, और सयोग की मधुर केलियो के तीव्र भावात्मक चित्रण ने सौन्दरनन्द मे गीति-तत्त्वों को समाविष्ट कर दिया है । इसीलिए कोई-कोई विद्वान् तो इसमे अश्वघोष के जीवन वृत्त की सम्भावना भी मानते है ।[9]

---

1. बुद्धचरित, ८।५६।५८ ।
2. यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतम् ।
   पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥ (सौन्दरनन्द, १८।५६।५७)
3. देखिये अङ्गुत्तर निकाय, भाग ३, पृष्ठ १०७ ।
4. देखिये बा० सी० ला का 'अश्वघोष', पृष्ठ २५।२६ ।
5. Keith, *Hist. of Sanskrit. Lit., pp. 51.*
6. देखिये, Journal of R. A. S. of Bengal, New series, Vol. 23 (1927) *pp* 347-367.
7. " J. A. S. B. New Series. Vol. 5, 1909.
8. वही ।
9. The revery of thought may even go so far as to present that th poet has revealed his own personal history through the career of Nand which he masterefully delineated. (*B. C. Law, Ashvaghosh, p. 32*).

कालिदास और अश्वघोष के बाद के कवि भावाभिव्यञ्जन की अपेक्षा परिधान के परिष्कार की ओर अधिक आकृष्ट हुए। महाकाव्यों की सर्जना निश्चित नियमों के भीतर होने लगी और कवि का उद्देश्य शास्त्रीय ज्ञान, लौकिक सूझ एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन ही अधिक हो गया। इसीलिये इस क्षेत्र के काव्यों में भाव-प्रवणता, स्वाभाविकता और प्रासादिकता अपेक्षाकृत कम दीख पड़ती है। इस श्रम-साध्य शैली के दर्शन वत्सभट्टि की प्रशस्ति में ही हो जाते हैं किन्तु भारवि और माघ के युग तक पहुँचते-पहुँचते तो यह स्वयं प्रौढ हो चुकी थी।[1] विषय-वस्तु एवं भावों की परवाह न कर कवियों ने शैली पर ही ध्यान केन्द्रित कर लिया जिससे काव्य के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में सन्तुलन न रह सका। यही कारण है कि भारवि में कालिदास का माधुर्य और स्वाभाविकता कम ही लक्षित होती है। शब्दों की बाजीगरी ने उनकी रचना को कई स्थलों पर नीरस ही नहीं हेय भी बना दिया है। युद्ध के वर्णन में जहाँ वीर रस का समुचित परिपाक अपेक्षित था, भारवि चित्रबन्ध के विचित्र गोरख-धन्धे में फँसकर बौद्धिक कवायद की करामात ही दिखा पाये है फिर भी इन महाकाव्यों में सूर्योदय, सूर्यास्त, रात्रि, ऋतु, पर्वत, नदी आदि के वर्णन अनिवार्य होने के कारण प्राकृतिक सौन्दर्य एवं कोमल शृङ्गारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत खण्ड-चित्रों की प्रचुरता है। किरातार्जुनीय में अप्सराओं के कुसुमोच्चय-वर्णन, सुरत-वर्णन एवं अर्जुन को लुभाने की चेष्टाओं के वर्णन में इस प्रकार के पद्य देखे जा सकते है। वस्तुत. भारवि अपने अर्थ गौरव के लिये ही अधिक प्रसिद्ध है गीत्यात्मकता उनकी रचना में उतनी नहीं आ सकी।[2]

कुमारदास का जानकीहरण कोमल भावों, उदात्त कल्पनाओं, सुकुमार पद-विन्यास और प्रासादिकता से ओत-प्रोत होने के कारण कालिदास की रचनाओं की स्मृति दिलाता है।[3] इसमें गीतिमय अनेक चित्र है जिनका सौन्दर्य देखे ही बन पड़ता है। तीसरे सर्ग में दशरथ का अपनी रानियों के साथ जल-विहार वर्णित है जिसमें शृङ्गारिक भावनाओं एवं चेष्टाओं के सुन्दर चित्र मिलते है जिनकी सुकुमारता और मधुरता प्रशंसनीय है। जल-विहार-रत सुन्दरी का मत्स्य-स्पर्श-जनित संत्रास देखिये—

> मत्स्येन चीनांशुकपृष्ठलक्ष्यकाञ्चीमणिग्रासकुतूहलेन ।
> आघ्राय मुक्तोपनितम्बमेका संत्रासभुग्नभ्रु चिरं चकम्पे ॥[4]

1. The moulder of its form and spirit is not Kalidas but his stalwart successors among whom Bhatti and Magh appear to have weilded the greatest influence. *(S. K. Dey, Hist. of Sans. Lit., p. 305)*

2. Bharvi's strength, however lies more in the descriptive and the argumentative than in the lyric touch. *(S. K. Hist. of Sans. Lit., p. 181).*

3. Kumar dasa's style of writing resembles more that of Kalidas than that of Bharvi or Magh. *(S. N. Das Gupta, Hist. of Sans. Lit., p. 621).*

4. जानकीहरण, ३।४६ ।

महाकवि माघ ने भी "भ्रम्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरू वामोरू" नायिका का ऐसा ही चित्र खींचा है।

अर्ध विकसित कमल कोष पर झुके हुए हंस शावक को पकड़ने की लीला-लुब्धा ललना का यह चित्र कितना मोहक है—

> सामिप्रबुद्धस्य कुशेशयस्य कोशे मृणान्यासनिरुद्धदृष्टिम् ।
> स्प्रष्टुं श्येते कलहंसशावं निःशब्दमुत्खण्डित-वीचि काचित् ॥[1]

यह चित्र कल्पित होते हुए भी सजीव है। कृत्रिम (उपवन-दीर्घिका-सम्बद्ध हंस-विषयक) होते हुए भी स्वाभाविक है। वर्ड्स्वर्थ के (Daffodils) के चित्र से इसका प्रभाव क्या इसी लिये कम हो जायेगा कि यह अन्य पुरुष पद्धति से कहा गया है?

कल्पना की उड़ान और कलागत आडम्बर के लिये श्री हर्ष संस्कृत साहित्य मे बहुत बदनाम है किन्तु उनके नैषधीयचरित मे भी ऐसे पद्यों का अभाव नहीं है जो अपनी रसात्मकता और गयता के कारण गीतिकाव्य की कोटि में गिने जा सकते हैं। उदाहरण के लिए चतुर्थ सर्ग में चन्द्रोपालम्भ व कामोपालम्भ विषयक उक्तियों को लिया जा सकता है। इन स्थलों से प्रतीत होता है कि कवि कथानक और पात्रों को भूल कर किसी वियोगी हृदय के साथ तादात्म्य कर उसके उद्गारों को व्यक्त करने के लिये बाध्य हो गया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत महाकाव्यों मे यत्र तत्र अनेक स्थल और पद्य ऐसे हैं जो कथा वस्तु, पात्र आदि से मुक्त होकर स्वतः आस्वाद्य भी है। उनकी भाव-सान्द्रता, सुकुमारता, गेयता आदि विशेषताएँ गीति-काव्य के साथ उनकी अभिन्नता स्थापित करती हैं। यही वास्तविक कविता है। इस सम्बन्ध में डा० एस० एन० दास गुप्ता का मत भी इस कथन की पुष्टि करता है—

The slok form in which the Sanskrit Kavyas are generally written renders the whole presentation into little fragmentary pictures—which stand independent by themselves and this often presents the development of a joint effect Unitary whole The story or the plot becomes of a secondary interest and the main attention of the reader is drawn to the poetical effusion of the writer as expressed in little pictures.[2]

इसीलिये बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि महाकाव्य में नाटक और गीतिकाव्य दोनों ही की शैलियों का मिश्रण रहता है।[3]

1. जानकीहरण, ३।४१।
2. Dr. S. N. Das Gupta, *Introduction to the History of Sanskrit Lit.*, p. XXI.
3. बंकिम निबन्धावली, अनु० रूपनारायण पाण्डेय, पृष्ठ ५२।

इस विवेचन से हमारा तात्पर्य यही है कि यद्यपि संस्कृत महाकाव्य, संस्कृत गीति काव्य के क्रमिक विकास में किसी विशिष्ट अवस्था अथवा युग के प्रारम्भ की सूचना नहीं देते तथापि उनमें यत्र तत्र गीत्यात्मक तत्त्वों का स्वतः ही समावेश हो गया है जो महाकाव्य के वस्तुनिष्ठ कलेवर में प्राणों का कार्य करते है।

## नाटक साहित्य

पहले अध्याय मे यह कहा जा चुका है कि नाट्यशास्त्र मे गीति शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट प्रकार के गान के अर्थ में हुआ है। गान्धर्व के स्वरात्मक, तालात्मक और लयात्मक भेदों के अन्तर्गत तालात्मक गान्धर्व के इक्कीस भेदों मे से एक गीति भी है जो मागधी, अर्धमागधी, संभाविता और पृथुला भेद से चार प्रकार की होती है। इनके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं।

भिन्नवृत्ति प्रगीता या सा गीतिर्मागधी मता।
अर्धकालनिवृत्ता च विज्ञेया त्वर्धमागधी॥
संभाविता च विज्ञया गुर्वक्षरसमन्विता।
लघ्वक्षरकृता नित्या पृथुला सप्रकीर्तिता॥[1]

गान-योजना में इन गीतियों का आश्रय लेना आवश्यक बताया गया है।[2] इसी प्रकार पूर्व रङ्ग विधि मे गीतविधि का उल्लेख किया गया है।[3] बीसवें अध्याय मे लास्याङ्गों के अन्तर्गत गेय पद का समावेश मिलता है जिसका लक्षण है—

आसने चोपविष्टायां तन्त्री भाण्डोपबृंहितम्।
गायनैर्गीयते शुष्कं तद्गेयपदमुच्यते॥

इक्कीसवें अध्याय मे नाटक मे प्रयोक्तव्य गीतो के अगो और लक्षणो का उल्लेख है।

इन गीतियो और गीतो का सीधा सम्बन्ध सगीत योजना से है। क्योंकि संस्कृत के नाटकों में आधुनिक गीतों जैसे गीत नहीं पाये जाते। इस से स्पष्ट है कि उनमे आये हुए पद्यों का ही सगीत के अनुसार गान किया जाता था। इन्ही पद्यों मे से अनेक ऐसे हैं जो गेयता के अतिरिक्त अध्यात्मान्तरिकता तथा अनुभूति की सघनता के कारण आधुनिक गीतिकाव्य की कोटि में रखे जा सकते हैं।

संस्कृत नाटको मे कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। पाश्चात्य विद्वानों को ये विशेषताएँ विशेष रूप से अद्भुत सी प्रतीत होती है। दुःखान्त नाटकों का अभाव, कुछ पात्रों द्वारा सस्कृत में तथा कुछ का प्राकृत भाषा में संभाषण करना तथा कथोपकथन में गद्य के साथ साथ गीत्यात्मक पद्यों का प्रचुर प्रयोग, ऐसी विशेषताएँ हैं जो यूरोपीय विद्वानों को आकृष्ट किये बिना नही रहती।[4]

1. नाट्यशास्त्र, २८।९८,७९।
2. गान्धर्व एवं योज्यास्तु नित्यं गानयोक्तृभिः।
3. नाट्यशास्त्र, (चौखम्बा) पृष्ठ ५२।५३।
4. See, Macdonell, *Hist. of Sans. Lit.*, p. 348.

विश्लेषण करने पर हम सहज ही इनके मूल कारणों तक पहुँच जाते हैं। भारतीय दृष्टिकोण सर्वदा ही आदर्शवादी रहा है "मा कश्चन दुःखभाग्भवेत्' का पुनीत आदर्श रखने वाली जाति के साहित्य मे दुःखान्त नाटकों का अभाव होना स्वाभाविक ही है। विभिन्न वर्ग के पात्रों में भाषा-भेद स्वाभाविकता का आधायक होता है और गीत्यात्मक पद्यों का प्रयोग वातावरण की सृष्टि अथवा भावोत्कर्षाभिव्यक्ति के लिये आवश्यक है। एक वाक्य मे हम कह सकते है कि संस्कृत नाटक के प्रमुख तत्त्व 'रस' के आधान की चेष्टा ही इन का मूल है। रंगमंच पर युद्ध मृत्यु आदि दृश्यों का प्रदर्शन अभिनेयता की दृष्टि से कष्ट साध्य होने के साथ साथ दर्शकों के हृदय को उद्वेगभार से भी आक्रान्त कर सकता है। अतः उनका समावेश अनुचित माना गया। भाषा-भेद की पात्रानुकूल भाषा से जनित स्वाभाविकता रसास्वादन मे सहायक बनती है और गीति-पद्य तो भावसान्द्रता के अभिव्यञ्जक होते ही है। इन पद्यों मे कहीं तो मानवीय भावनाओं का अप्रतिम उच्छ्वास, कहीं सौन्दर्य का विचित्र चित्रण, कहीं प्रसङ्गानुकूल पृष्ठभूमि का विधान और कहीं विविध व्यापारों की व्यापक रमणीयता का स्फुरण हुआ है। इनमे से कितने ही कथा-सूत्र से विच्छिन्न होकर भी स्वतः आस्वाद्य हैं। वास्तव मे संस्कृत नाटकों की सार्वजनीन प्रशस्ति एवं अभिरामता में इनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।[1] डा० कीथ ने यही बात इन शब्दों मे कही है—"निःसंदेह अश्वघोष से भी बहुत पहले संस्कृत नाटक पद्यों को प्राचीन ग्रीक नाटकों के समान कथोपकथन के अनिवार्य तत्त्वरूप में नहीं अपितु अलंकरिष्णु एवं मनोरञ्जक विषयान्तर (Ornamental excursion) के रूप मे स्वीकार कर चुका था।"[2] डा० कीथ के इस कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि संस्कृत नाटकों के अन्तर्गत पद्यों का उद्देश्य घटना-वर्णन अथवा वस्तु-निर्वाह ही नहीं है बल्कि उससे बाहर मनोरञ्जनार्थ पदक्रमण है। दूसरे शब्दों मे, इन पद्यों का प्रस्तुत-प्रसङ्गातिरिक्त स्वतन्त्र महत्त्व भी है तथा इनका उद्देश्य है मनोरञ्जन और नाटक के सौन्दर्य की वृद्धि। इसका कारण यह है कि इनमें प्रायः शाश्वत मनोभावों की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है। यही कारण है कि एक ही प्रकार की अनुभूति की तीव्रता के चरम बिन्दु पर विभिन्न नाटककारों की अभिव्यक्ति प्रायः एक सी ही है :—

वृष्टिर्न तृप्यति परिष्वजतीव साङ्गम् ।
रागोऽभिचोदयति सादयतीव चाङ्गम् ॥

1. The miniature word-pictures in which it (Sans. Lyrical poetry) abounds have evoked universal admirasion and even the Indian Dramas owe part of their beauty to their lyrical elegance
(*Prof. Hiriyanna, Sans Studies, p. 52*)

2. .........we see that the drama as early as Asvaghosa, and doubtless long before him, had definitely accepted the verses not as e sential element of dialogue as are the verses in Greek drama, in more or less ornamental excursion. (*Sanskrit Drama*, p. 90).

**बुद्धिस्त्वरां व्रजति बोधयतीव सुप्तम् ।**
**हर्षात् प्रसीदति विमुह्यति चान्तरात्मा ॥**[1]

दृष्टि मानो शरीर का आलिङ्गन करती हुई तृप्त नही हो पाती । राग मानो विवश अंग को प्रेरित कर रहा है । बुद्धि उतावली सी हो रही है और मानो सुषुप्ति को प्रवुद्ध कर रही है । अन्तरात्मा हर्ष के कारण मानो मोह को प्राप्त होती जा रही है ।

**विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा ।**
**प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ॥**
**तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो ।**
**विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च संमीलयति च ॥**[2]

मैं नही समझ पा रहा कि यह सुख है या दुःख ! भारी मोह है या निद्रा अथवा विष की लहर या नशा । तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श से मेरी इन्द्रियां जैसे विमूढ़ हो जाती हैं और कोई विकार मानो चैतन्य को भरमाता हुआ विलीन हो रहा है ।

इसका यह आशय नहीं है कि संस्कृत नाटको मे प्रयुक्त सभी पद्य इसी प्रकार भावना की गम्भीरता मे उतरे हुए है । सच तो यह है कि इन पद्यो का एक बहुत बडा भाग गद्यमय संवादो से अधिक महत्त्वपूर्ण नही है । प्रत्येक नाटककार के सभी पद्यों का कोई विशिष्ट उद्देश्य रहता हो यह साधारणतया दीख नही पडता । कही-कही तो इन पद्यों की अपेक्षा गद्य का ही प्रयोग अधिक समीचीन और स्पृहणीय प्रतीत होता है । इनमे से अधिकांश वर्णनात्मक है, बहुत सी घटनाओं का विवरण मात्र देते है । कथानक के विकास मे, चरित्र-चित्रण अथवा भावो की पृष्ठभूमि के प्रसार मे भी इनसे कोई सहायता नही मिलती, उनटे अवरोध सा उत्पन्न हो जाता है । अभिनय की दृष्टि से भी इन का कोई विशेष महत्त्व लक्षित नही होता । बात-चीत के दौरान मे कोई पात्र गद्य में बात करता करता एक दम पद्य मे बोलने लगता है तो बड़ा अस्वाभाविक सा लगता है जिसके कारण आधुनिक रुचि का पाठक और दर्शक एक प्रकार की उकताहट का अनुभव करने लगता है । संस्कृत साहित्य का निष्ठावान् अध्येता इस दिशा मे ट्रेण्ड अवश्य हो जाता है । हो सकता है कि वह इन वर्णनात्मक श्लोकों के ताबडतोड अनुभव मे ऊब का अनुभव न करे किन्तु किसी भी सस्कृत नाटक का हिन्दी अनुवाद यदि आज के शिष्ट समुदाय के समक्ष प्रस्तुत और अभिनीत किया जाये तो वह इनमें उतना रस न ले सकेगा । अन्य बातो में किसी भी प्रकार की तुलना सम्भव न होते हुए भी सस्कृत नाटको की केवल पद्य बाहुल्य की यह विशेषता पारसीक शैली के नाटकों की स्मृति दिलाती है जिनमे मौके-बेमौके शेर और गजल कहने का उतावलापन सर्वत्र पाया जाता है, किन्तु संस्कृत नाटको के कवित्वमय पद्यो और इन भद्दी तुक-बन्दियों में कोई साम्य नही ।

1. भास, अविमारक, ३।१७ ।
2 भवभूति, उत्तर रामचरित, ३।१७ ।

संस्कृत नाटककारो की इस प्रवृत्ति का कारण तत्कालीन लोकरुचि ही कही जा सकती है । वह ऐसा समय था जिसमे नाटककार, कवि, आख्यायिकालेखक अथवा कहानीकार आज की भाँति पृथक् वर्ग के व्यक्ति नही समझे जाते थे । आज का आलोचक किसी नाटककार, उपन्यासकार या कहानीकार को किसी भी प्रकार कवि कहने के लिये प्रस्तुत नहीं है । शायद कोरे गद्य गीत लिखने वाला भी उसकी दृष्टि मे कवि के अभिधान का अधिकारी नही है, परन्तु संस्कृत के युग मे—और संस्कृत के विद्वानो के समाज मे आज भी—दशकुमार चरित का लेखक दण्डी भी "कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः" जैसी उक्तियो द्वारा बेधडक प्रशंसित हुआ है । सो, संस्कृत का कवि चाहे नाटककार न रहा हो पर नाटककार कवि सदा से ही रहा है और अपने नाटक मे लगे हाथ कवि-कर्म का निर्वाह करना अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानता रहा है । इस सम्बन्ध मे एस० के० डे का कथन है कि संस्कृत-नाटक और कविता का यह साम्य उनके उद्‌गम की एकता की ओर संकेत करता है ।[1] ऐसी स्थिति मे संस्कृत के नाटकों मे पद्यों का अधिक होना स्वाभाविक ही है । एक अन्य कारण यह भी है कि संस्कृत नाटको का विकास प्राचीन आख्यानों से हुआ है जो विवरणात्मक पद्यों में लिखे गये हैं । अत. नाटकों मे विवरणात्मक पद्यों का समावेश परम्परागत है । कालिदास जैसे नाटककार की रचनाओं में भी ऐसे श्लोक मिलते है जिन्हें आसानी से निकाला जा सकता था अथवा अधिक प्रभावशालिता के साथ गद्य के रूप में परिणत किया जा सकता था । उदाहरण के लिये एक पद्य लीजिए—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद्धनम् ।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः ॥

'ब्राह्मणादि गृहस्थ प्रजा से जो धन कर रूप मे एकत्र होता है । वह तो नश्वर है, क्षयशील है किन्तु ये वनवासी, तपस्वी अपने तप का छठा भाग देते हैं जो अक्षय है ।

दुष्यन्त की इस उक्ति मे यही बताया गया है कि गृहस्थ जनो से राजा को कर के रूप मे जो प्राप्त होता है उसकी अपेक्षा आश्रमवासी तपस्वियो से प्राप्त तप का अंश अधिक स्थायी होता है । यह सीधी सी बात गद्य के रूप में अधिक प्रवाह के साथ कही जा सकती थी । यहाँ भावना का कोई ऐसा ज्वार भी नहीं है जिसके लिये पद्य ही आवश्यक होता । जिस प्रसङ्ग मे यह श्लोक आया है वह संवाद की दृष्टि से अत्यन्त प्रवाह-सापेक्ष कहा जा सकता हैं । प्रथम दर्शन मे ही प्रसक्त राजा शकुन्तला के पुनर्दर्शन के लिये बहाना निकालने के विषय मे विदूषक से बातचीत कर रहा है । उसके पूछने पर विदूषक कहता है "आप राजा है इससे अधिक बहाना क्या होता ! इस पर राजा क्या कहता है—' इससे क्या" ? तो विदूषक उत्तर देता है "यही कि जाकर ऋषियों से कहो कि नीवार का छटा अंश कर के रूप में दें" । इस पर राजा ने उपर्युक्त श्लोक कहा है । स्पष्ट है कि संवाद छोटे छोटे कथनों के रूप

1. The close approximation also of drama to poetry made by Sanskrit theory perhaps points to the striking parallel, but inherently diverse, development from a common epic. (*Hist. of Sanskrit Lit., p. 51*).

में तीव्र गति के साथ चल रहा था। राजा और विदूषक पर्याय से वक्तबोद्धव्यता के आश्रित होते हुए एक दूसरे के विचार जानने के प्रति अधिक उत्सुक हैं। ऐसी स्थिति में अनायास ही प्रवाह में बहते हुए छोटे छोटे वाक्यों को छोड़ कर श्लोक में कोई बात कहने लगना तारतम्य मे बाधक ही बन जाता है। यह बात बेखटके कही जा सकती है कि संस्कृत नाटकों मे से बहुत मे आसानी से हटाये जा सकते हैं और ऐसा करने में किसी प्रकार से भाव या कथा का अवरोध भी उत्पन्न न होगा।

यह सब कुछ होते हुए भी, जैसा कि कहा जा चुका है, संस्कृत नाटकों मे अनेकत्र ऐसे पद्य भी पाये जाते हैं जो न केवल नाटकीयता की दृष्टि से प्रभावोत्पादक सिद्ध होते हैं अपितु भावगाम्भीर्य की दृष्टि से भी बेजोड़ है। उनका सहज संवेद्य तथा स्वतः आस्वाद्य स्वरूप उन्हें वही स्थान प्राप्त कराता है जो आधुनिक साहित्यिक नाटकों में भावमय गीतों को प्राप्त है। नाटककार कभी तो किसी पात्र विशेष के साथ तादात्म्य स्थापित कर उमडते हुए मनोराग को किसी पद्य मे समेटने का प्रयत्न करता है। कभी केवल तादात्मकता द्वारा अथवा अन्य प्रकार के अभिव्यक्ति-वैचित्र्य द्वारा या विशेष ढंग के प्रकृति वर्णन एवं वस्तु वर्णन द्वारा अभीष्ट वातावरण की सृष्टि करता है तो कभी घटनाओं का आभास देने के लिये भावमय उक्तियों की अवतारणा करता है। नाटक में स्वाधिष्ठित स्थान की दृष्टि से नाटककार के अभीष्ट मन्तव्य को अभिव्यक्त करने के साथ इन रचनाओं की एक सब से बड़ी विशेषता यह है कि ये स्वयं अन्यमुखापेक्षी नहीं होतीं। अर्थात् ये स्वयं तो किसी न किसी रूप में नाटक की सगुणता को प्रभावित करती है और उसे पूर्णता की ओर करने में सहायता देती हैं किन्तु स्वयं सत्त्वशाली की भाँति कनौडा बनाना पसन्द न कर स्वतन्त्र रूप से अपने पैरों पर ही खडी नहीं हो सकतीं अपितु अपनी रमणीयता द्वारा सहृदय के हृदय में भी पैठ जाती हैं। एक उदाहरण लीजिये—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ॥
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो ।
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥[1]

क्या इसकी उत्पत्ति के समय कान्ति प्रदान करने वाला चन्द्रमा अथवा शृंगार में ही रस लेने वाला कामदेव या स्वयं पुष्पों का आकर रूप वसन्त प्रजापति बन गया था! विषयों में अनासक्त और वेदाभ्यास से जड़ पुराना मुनि विधाता क्या इस मनोहर रूप को बना सकता है?

पुरुरवा के हृदय में उर्वशी के सौन्दर्य की प्रतिक्रिया ने जिस अनुभूति का उद्गमन किया वह वितर्क के रूप में इन पंक्तियों में फूटी है। इस श्लोक को नाटक से निकाल कर यदि स्वतन्त्र रूप से देखा जाये तब भी इसकी आस्वाद्यता में कोई अन्तर नहीं आता। मुक्तक के रूप में यह किसी नायक की, नायिका के सौन्दर्याव-

1. विक्रमोर्वशीय, १।१०।

लोकन के पश्चात्, कही हुई उक्ति है। यह प्रसग भी सहज अध्याहार्य है। सत्य तो यह है कि मुक्तक रूप मे किसी भी व्यक्ति विशेष से इसका औपचारिक सम्बन्ध तक नही है अतः साधारणीकरण अपेक्षाकृत शीघ्र हो जाता है। इसी प्रकार मालती माधव मे मालती के प्रति अनुराग की अनुभूतिस्वरूप मनोदशा का परिचय माधव इन शब्दो मे देता है :—

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः,
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो,
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते।[1]

ज्ञानातीत तथा वाणी का अगोचर कोई विकार, जो इसके पूर्व इस जन्म मे अनुभव में नही आया, विवेक के प्रध्वंस के कारण बढ़ते हुए मोह से गहन होता हुआ अन्तर को जड़ बना रहा है और सताप उत्पन्न कर रहा है।

यह अनुभूति प्रणय-पथ पर प्रवृत्त किसी भी नव पथिक की अनुभूति है। नाटक के बाहर आकर इस पद्य का मूल्य और भी बढ़ जाता है क्योंकि उपर्युक्त श्लोक की ही भाँति साधारणीकरण की प्रक्रिया मे व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में इसकी व्यवच्छिन्नता अविलम्ब रसानुभूति का कारण बन जाती है। एक उदाहरण और —

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता।
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते॥
निर्यान्तीषु सखीसु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते।
जाता वामतयैव संप्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया॥ ३।२६

कहने की आवश्यकता नही कि विविध प्रकार के पात्रों द्वारा कही गयी ऐसी उक्तियों का बहुलता[2] की दृष्टि से नही अपितु भावातिरेक की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रगाढ़ अनुभूति, मसृण पद विन्यास और हृदयहारिणी गेयता के कारण ये गीति से भिन्न नहीं है। कितने ही चरित्र-चित्रण-प्रधान पद्य भी, जो स्वय किसी चित्रण-विषयीभूत पात्र की अथवा उसके सम्बन्ध में नाटक के किसी अन्य पात्र की उक्तियों मे रूप में समाविष्ट हैं, इसी प्रकार के है क्योंकि उनमें हर्ष-शोक की सुन्दर व्यञ्जना हुई है।

नागानन्द का यह श्लोक लीजिये :—

निराधारं धैर्यंकमिव शरणं यातु विनयः।
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह विरता दानपरता॥

1. मालतीमाधव, १।३०।

2. देखिये अविमारक—२-१, २-२, ३-१८, ३-२०; मृच्छकटिक १-१५, ५-१०; मालविकाग्निमित्र ४-१५; मालती माधव १-३६, १-४१, १-४८, १-४०; उत्तरचरित १-३८, २-३६, ३-३८; रत्नावली ३-४, ३-६; नागानन्द ३-४, ३-२१, ३-३०; पार्वतीपरिणय ४-७ आदि।

हतं सत्य सत्य व्रजतु च कृपा क्वाथ कृपणा ।
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते ।। ३-३०

धैर्य निराधार हो गया है । विनय जिसकी शरण जाय ? अब कौन है जो शान्ति को वहन कर सके । दान प्रथा समाप्त हो गई । हाय ! आज सत्य मर गया । कृपा दीन हो गई । वह कहाँ जाय ? बेटा ! तुम्हारे परलोक जाने से सारा जगत् सूना हो गया है ।

अनेक नाटकों में वैतालिकों द्वारा प्रधान नायक की प्रशस्ति के रूप में भी दो-एक श्लोक हुआ करते है जिनमे उसके गुणों का बखान रहा करता है । ऐसे पद्यो का उद्देश्य जहाँ नायक का चरित्र-चरित्र होता है वहाँ आगे आने वाली घटना अथवा घटनाओं का आभास देना भी ।

वातावरण की सृष्टि के लिये भी भावमय गीतियों की अवतारणा संस्कृत के कुशल नाटककारों की प्रमुख प्रवृत्ति रही है । कवि की शैली और रुचि के अनुसार कहीं तो परिस्थिति की भावमयता वर्ण्य-विषय के विशेष-चित्रण द्वारा अभिव्यक्त की गयी है और कहीं नादात्मकता अथवा ध्वनिवैशिष्ट्य के द्वारा । कालिदास का दुष्यन्त वियोगावस्था में मनोविनोद के लिये शकुन्तला के चित्र को आश्रम के जिन प्राकृतिक तत्त्वों के बीच में चित्रित करना चाहता है, वे कवि की कला का योग पाकर सजीव हो उठे हैं —

कार्या सैकतलीन हंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी ।
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोर्गह्वराः ।।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः ।
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ।।

हंस-युगलों से सनाथित पुलिन वाली मालिनी, उसके इधर-उधर हरिणों से अधिष्ठित हिमालय का गह्वर तट-प्रदेश, शाखाओं से लटकते हुए वल्कल वस्त्रों वाला वृक्ष और उसके नीचे काले मृग के सींग पर अपने बाएँ नयन को खुजलाने वाली मृगी तपोवन के शान्त निश्चल और निश्छल वातावरण को अभिव्यक्त करते हैं । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वातावरण-सृष्टि भी सोद्देश्य होती है । स्पष्ट कहने का आयास उठाए बिना ही अपने उद्देश्य को व्यक्त कर देना किसी भी कवि की सबसे बड़ी विशेषता है । उपर्युक्त पद्य के अन्तिम चरण में कवि का यह उद्देश्य प्रकट हो जाता है और आश्रम के शान्त वातावरण में कृष्ण मृग के कठोर सींग से अपने मसृण वामनेत्र को खुजलाती हुई मृगी पुरुषत्व की कठोरता में ओत-प्रोत दुष्यन्त के प्रति आत्मसमर्पण करती हुई शकुन्तला को बरबस सामने लाकर खड़ा कर देती है । मृगी-सदृश मुग्धा प्रेयसी के आत्म-समर्पण की मधुर वेला और अपने द्वारा उसके नृशंस प्रत्याख्यान की याद कर दुष्यन्त के भावुक हृदय की क्या दशा हुई होगी ?

इसी प्रकार मालती माधव नाटक में कपालकुण्डला और अघोरघण्ट द्वारा नाट्येश्वरी चामुण्डा की स्तुति में जो दण्डक कहलाया गया है[1] वह अपनी नादात्मक ध्वनि से ही साधना के उग्र स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है। उसके श्रवणमात्र से ही प्रतीत होता है कि भक्ति भावना का मृदुल स्वरूप चित्रित करना कवि का इष्ट नहीं है। उपासक, उपास्य तथा उपासना-विधि के अनुसार ही औद्धत्यपूर्ण शैली का प्रयोग स्वाभाविकता की वृद्धि करता है। श्मशान का भयप्रद वातावरण, जो कापालिकों द्वारा योजित नृशंस कर्म वाली घटना का पूर्वाभास देता है, उसके द्वारा सजीव हो उठा है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत नाटकों में भी अनेक स्थलों पर नाट्यशास्त्र के अनुसार गीत-योजना के अन्तर्गत ऐसे पद्यों का समावेश हुआ है जो गीति काव्य का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं इसके अतिरिक्त प्रसङ्गवश वातावरण की सृष्टि के लिये और किसी पात्र के हृदय में किसी घटना विशेष की प्रतिक्रिया स्वरूप उद्बुद्ध भावना की अबाध अभिव्यक्ति के रूप में भी गीति तत्त्वों से ओत-प्रोत रचनाएँ स्वत: समाविष्ट हो गयी हैं।

---

1. मालती माधव, ५।२३।

# संस्कृत में काव्य शैली का विकास और गीति-काव्य के प्रकार

गीति-शैली काव्य शैली की ही एक विधा है। सस्कृत के आचार्यों ने इस काव्य की सामान्य व्याख्या के अतिरिक्त कोई विशेष नाम और लक्षण दिया भी नही, यह हम पहले कह आये हैं। अब गीति काव्य के विविध प्रकारों का वर्गीकरण करने से पहले हमे काव्य की विभिन्न शैलियो को दृष्टि मे रखते हुए काव्य शैली के विकास पर विचार करना उपयुक्त जान पडता है।

विश्व पुस्तकालय म मबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद हैं जो केवल धार्मिक गीतों और स्तुतियो का ही सग्रह नही है अपितु धर्म-निरपेक्ष काव्य के उदाहरण भी प्रस्तुत करता है। वास्तव मे जैसा कि पिछले अध्याय के विवेचन से स्पष्ट है, अनेक परवर्ती साहित्यिक परम्पराओ के मूलबीज भी ऋग्वेद मे खोजे जा सकते हैं। यम-यमी और पुरुरवा-उर्वशी के सवाद-सूक्त जहाँ एक ओर नाटक के मूल तत्त्व सवाद के प्रादुर्भाव की सूचना देते है वहाँ दूसरी ओर शृङ्गारिक भावना की ओर भी सकेत करते हैं। उषा को प्रियतम के समक्ष वक्ष खोल देने वाली कुमारी का रूपक भी ऐसा ही सकेत करता है तथा अक्षसूक्त मे द्यूतकार की करुण दशा का चित्रण करुण-काव्य शृङ्खला की प्रथम कडी माना जा सकता है। इस प्रकार की कतिपय रचनाएँ, जो प्रसगवश, ऋग्वेद मे यत्र-तत्र समाविष्ट हो गई हैं और जिनके उद्धरण पिछले अध्याय मे दिये जा चुके है इस तथ्य के साक्ष्य के लिये पर्याप्त है कि धर्म-निरपेक्ष रागात्मक लौकिक साहित्य की सृष्टि भी उस समय की जाती रही थी। धन, धान्य, पुत्र, आदि ऐहिक पदार्थों की प्राप्ति के लिये जो देव स्तुतियाँ की गई है तथा मनोरञ्जन के जिन साधनो का उल्लेख हुआ है वे इस बात के प्रमाण है कि तत्कालीन समाज अपनी लौकिक आवश्यकताओं के प्रति कुछ कम सजग नही था। अत काव्यानन्द मात्र प्रयोजन से भी उस युग मे साहित्य सृष्टि होती रही होगी। तत्कालीन जीवन सामूहिक था। उपासना का स्वरूप इसकी पुष्टि करता हैं। नर्तकी का उल्लेख तथा द्यूतशाला मे अक्षो द्वारा द्यूत क्रीडा आदि के वर्णन से प्रतीत होता है कि मनोरञ्जन के साधन भी प्राय वैयक्तिक न होकर सामूहिक थे। लोग इकट्ठे होकर नृत्य देखते और गीत सुनते होगे। आज भी अशिक्षित लोक-

कवि झूलने, रसिया आदि की रचना कर उन्हें कण्ठाग्र रखते हैं और स्थान-स्थान पर गा-गाकर सामूहिक रूप से जनता का मनोरञ्जन करते हैं। यह परिपाटी २-४ शताब्दियों पुरानी ही नहीं हो सकती। हो सकता है इस परम्परा का एक छोर वैदिक काल के जन साहित्य से ही बधा हो।[1] उस समय लेखन-कला का आविष्कार सम्भवतः नहीं हुआ था और सारा साहित्य कण्ठाग्र रखा जाता था। केवल मौखिक परम्परा के बल पर विशाल साहित्य को जीवित रखना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। अतः केवल वही साहित्य बचाया जा सका जिसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। परलोक को सुधारने के पक्षपाती धर्मप्रधान समाज में धार्मिक साहित्य की रक्षा का प्रश्न ही प्रमुख होता है। इसलिये धार्मिक साहित्य के सामने ऐहिक मनोरञ्जनात्मक साहित्य की रक्षा न की जा सकी। इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि स्वयं ऋग्वेद जैसी महत्त्वपूर्ण रचना की भी पूरी-पूरी रक्षा न हो सकी। महर्षि पतञ्जलि ने ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख किया है।[2] शौनकीय प्रातिशाख्य मे पाँच शाखाओं का उल्लेख है—शाकल, बास्कल, आश्वलायन, शाखायन और मण्डूक। शाकल आदि ऋग्वेद के रचयिता नहीं अपितु संग्रहकर्ता थे। इसीलिये आश्वलायन गृह्यसूत्र में इन्हें ऋषि न कह कर आचार्य कहा गया है। कूर्मपुराण मे भी ऋग्वेद के इक्कीस भेद बताए गये है :—

एक विंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा।[3]

ऋग्वेद की उपर्युक्त संहिताओं मे से आजकल केवल शाकल संहिता उपलब्ध है जिस में यत्र तत्र अन्य संहिताओं के कतिपय सूक्त और मन्त्र परिशिष्ट रूप में जोड दिये गए हैं। उदाहरणार्थ अष्टम मण्डल में बालखिल्य शाखा के ११ सूक्त तथा ८० मन्त्र सगृहीत है और बाष्कल संहिता के भी लगभग ३६ सूक्त स्थान-स्थान पर बिखरे पडे हैं। इनके समावेश का कारण स्पष्ट है। परवर्ती वैदिक साहित्य पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न वर्गों में यज्ञ की विविध विधियाँ प्रचलित थीं। बाद में जब एक सामान्य व्यवस्था प्रवृत्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो शाकल-सम्प्रदाय में परिलक्षित कमी की पूर्ति के उद्देश्य से बालखिल्य तथा बाष्कल संहिता के वे ही मन्त्र ले लिये गये जो यज्ञादि के लिये उपयुक्त थे। अन्य विलुप्त हो गए। शाकल संहिता केवल इसलिए जीवित रह सकी कि वह एक विशिष्ट वर्ग में सम्मानित थी। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के नाम से जितना साहित्य आज प्राप्त है उतना ही ऋग्वेद नहीं था। कालक्रम से अनेक संहिताएँ विलुप्त हो गई हैं। जब धार्मिक और पौरोहित्यिक साहित्य की भी, जिसका इतना

1. The tradition of a non-religious literature was already there from remote antiquity, surviving through long centuries as a strong under-current and occasionally coming to the surface in the more conventional literature. *S. K. Dey & S. N. Das Gupta, (Hist. of Sans. Lit., p. 3).*

2. महाभाष्य पस्पशाह्निक।

3. कूर्म० (४६।५१)।

अधिक सम्मान था, यह दशा हुई तो ऐहिक साहित्य का लुप्त हो जाना स्वाभाविक ही था। धर्म-निरपेक्ष साहित्य की रचना के बहि साक्ष्य के रूप में यास्क के इस कथन का उल्लेख किया जा सकता है कि वेद में ऋक् इतिहास और गाथाएँ मिले हुए है :—

तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति।[1]

प्रो० हिरियन्ना का यह कथन भी कि 'तत्कालीन लोकभाषा मे गीत एवं वीरगीत अवश्य ही लिखे जाते रहे होंगे'' हमारे मत की पुष्टि करता है।

यही लोक-भाषा धीरे-धीरे क्लासिकल संस्कृत के रूप में विकसित हुई जिसे पाणिनि ने भी भाषा अथवा लोक-भाषा कहा है। लौकिक संस्कृत के विकास की दृष्टि से भी ऋग्वेद का अध्ययन बड़ा महत्त्व रखता है। दशम मण्डल के अन्तिम सूक्त भाषा की दृष्टि से प्रथम मण्डल के सूक्तों से पर्याप्त भिन्न है। इनकी भाषा कहीं-कहीं तो लौकिक संस्कृत के ही अधिक निकट दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ अक्षसूक्त की यही ऋचा ले लीजिए —

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो न हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अंगारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों में तो अनेक प्रकार के श्लोक और गाथाएँ इस भाषा मे मिलते ही हैं[4] जो प्रायः ऐतिहासिक एवं पौराणिक महापुरुषों के वर्णन प्रस्तुत करते है —

तद्ध स प्राणोऽभवन्महा भूत्वा प्रजापतिः।
भुजो भुजिष्या विश्वेतद् यत् स प्राणान् प्राणयत्॥[5]

तेदष श्लोको भवति

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति॥[6]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि रामायण और महाभारत में प्रयुक्त शैली का सूत्रपात उपनिषदों से बहुत पहले ही हो गया था। अतएव डा० एस० एन० दासगुप्त का यह मत सर्वथा चिन्त्य है कि 'वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में संस्कृत काव्य के उद्गम की खोज व्यर्थ है और वास्तव मे महाभारत और गीता मे प्रयुक्त शैली का श्रीगणेश

1. निरुक्त, ४।६।
2. संस्कृत स्टडीज, पृष्ठ ५।
3. ऋग्वेद, १०।
4. शतपथ, १०।५।२।१८, १०।५।४।१६, ११।३।१।५–६, ११।४।३।१२, ११।५।५।१२, १२।३।२।७–८, तथा ऐतरेय ८।२३।
5. शतपथ, ७।५।१।२१।
6. वही, १०।५।२।४।

जो आगे चलकर क्लासिकल संस्कृत शैली के रूप में प्रतिष्ठित हुई, उपनिषदों के समय में हुआ।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि श्लोक, गाथा और यज्ञ गाथा में कोई विशेष अन्तर नहीं था क्योंकि शतपथ जिसे गाथा कहता है ऐतेरेय उसी का श्लोक कहता है[2] और ऐतेरेय ने जिसे यज्ञ गाथा कहा है उसे जैमिनि ने श्लोक कहा है[3] याज्ञवल्क्य स्मृति के प्राचीन टीकाकार विश्व रूप ने नाराशंसी और गाथा का अन्तर बताते हुए लिखा है कि पौरुषेयी यज्ञगाथा को नाराशंसी और आत्मवाद विषयक श्लोकों को गाथा कहते हैं। मानवीय वर्णन होने के कारण इन गाथाओं को वेद मन्त्रों के समान सम्मान नहीं मिला था। इसीलिये यज्ञ में ऋचाओं का उच्चारण 'ॐ' कहकर और गाथाओं का 'तथा' कह कर करने का विधान था[5] क्योंकि ऋचा दैवी हैं और गाथा मानुषी।[6] मानव-वर्णनोपेत होने के ही कारण गाथा और नाराशंसी को अनृत[7] कहा गया है क्योंकि मनुष्य स्वयम् अनृत है।[8] कदाचित् इसीलिये तैत्तिरीय ब्राह्मण में गाथा और नाराशंसी को वेद का मल कहा गया है।[9] यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि धर्म-निरपेक्ष ऐहिक साहित्य को वैदिक काल में उतना प्रश्रय नहीं दिया जाता था जितना धार्मिक साहित्य को। फिर भी धर्म-निरपेक्ष साहित्य की सृष्टि होती थी और क्लासिकल संस्कृत के विकास के साथ-साथ यह प्रवृत्ति भी उत्तरोत्तर पनपती जा रही थी[10]। मनुस्मृति के प्राचीन टीकाकार मेधातिथि ने गाथा शब्द का अर्थ वृत्त विशेष तथा परम्परागत श्लोक किया है।[11] आगे चलकर इन गाथाओं या परम्परागत श्लोकों का समावेश रामायण और महाभारत में भी प्रचुर मात्रा में हुआ।[12]

1. Though it is needless to trace the origion of Sanskrit Kavyas to the Vedas or to the Brahmanas it cannot be decided that some of the early Upnisads' like the Katha, Manduk and svetaswater contain verses in the classical style. Indeed, the style of Mahabharata and Gita may be regarded as the prolongation of the classical style which had begun already at the time of Upnisads. (*Intr. to the HSL, p. XVII*).

2. ऐतेरेय, ३।४३।

3. जैमिनीय ब्राह्मण, १।२५८।

4. नाराशंस्य पौरुषेयो यज्ञगाथा, गाथा आत्मवादश्लोकाः (याज्ञवल्क्य स्मृति १।४५ टीका)।

5. ओमित्यृचः प्रतिगर एव तथेति गाथायाः। ओमिति वै दैवम् तथेति मानुषम्।
(ऐतेरेय० ७।१८)।

6. वही।

7. अनृता हि गाथा अनृतं नारा शंसी (काठक संहिता, १४।५)।

8. अनृतं मनुष्याः (शतपथ० १।१।१।४)।

9. यज्ञहारः शमलमासीत् सा गाथा नाराशंस्यभवत् (तै० ब्रा० १।३।२।६)।

10. अष्टाध्यायी, ३।२।२३।

11. गाथा शब्दो वृत्तविशेषवचनः, परम्परागत श्लोकाः। (मनु० ८।४२ मेधातिथि की टीका)।

12. देखिये रामायण (पश्चिमोत्तर शाखा, अयोध्या काण्ड, २५।११।२२ तथा महाभारत आश्वमेधिक पर्व, ३०।४।५।

जैसा कि पिछले अध्याय मे बताया गया है, उपनिषत्काल में भी इस परम्परा के लोप हो जाने का कोई कारण नही था। उपनिषदों में ऐसी अवान्तर कथाओ का समावेश मिलता है जिनमें राज सभाओं मे विरोधी पण्डितों में शास्त्रार्थ की योजना का उल्लेख है। ये राजा लोग विजेता पण्डित को पुरस्कृत किया करते थे। अजात शत्रु और बालाकि के ब्रह्म विषयक वाद-विवाद की कथा[1] कौषीतकी तथा बृहदारण्यक[2] उपनिषदों में आई है। इसी प्रकार जनक की राज-सभा के बन्दी नामक विद्वान् तथा अष्टावक्र के शास्त्रार्थ का उल्लेख भी मिलता है। जैसा कि मैक्डानल ने लिखा है ये राजा लोग अपनी प्रशसा और वंशानुचरित सुनने के भी बडे शौकीन रहते होगे। इस अनुमान की पुष्टि इससे भी होती है कि उपनिषदों मे ही नही ऋग्वेद मे भी इस प्रकार के प्रशस्तिगान मिलते है। ऋग्वेद के नाराशसी कहे जाने वाले अशों मे राजाओ की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा अनेक स्थलो पर मिलती है। दान स्तुति वाले सूक्त मे उन अनेकानेक वस्तुओं का उल्लेख हुआ है जिन्हे इन पद्यो के रचयिता कवि अपने सरक्षक राजाओ से प्राप्त करने की कामना रखते थे। कल्पनापूर्ण प्रशसा से ओत-प्रोत ये रचनाएँ ऊहात्मक शैली के प्रादुर्भाव की सूचना देती हैं। इस कला में जो कवि जितना निपुण होता होगा वह उतना ही अधिक सम्मान और पुरस्कार पाता होगा। इस होड़ाहोड़ी के फलस्वरूप स्वाभाविक सरल शैली के अतिरिक्त कल्पना-प्रधान शैली का भी विकास हो चला। आगे चलकर महाकाव्यो मे जिन्हे पाश्चात्य विद्वान् कोर्ट एपिक कहते है यही शैली अपनायी गयी।

ऋग्वेद मे अनेक-आख्यान उपाख्यानों मे प्रबन्ध काव्य शैली के जिस मूल तत्त्व के दर्शन होते है वह क्रमशः विकसनशील रहा। शतपथ ब्राह्मण के अश्वमेध यज्ञ वर्णन मे पारिप्लव नामक आख्यान का उल्लेख है। घोड़े के भ्रमणार्थ चले जाने के पश्चात वर्ष भर तक दस दस दिन तक के अन्तर से कला ज्ञान आदि के प्रदर्शन का आयोजन होता था। जिसमें अश्वमेघ यज्ञ करने वाले राजा की प्रशसा का गान होता था। स्वयं महाभारत अनेकानेक प्राचीन आख्यानों का फल है। ये आख्यान ही नाटक और प्रबन्ध काव्य परम्परा के मूल पुरुष कहे जा सकते हैं।[3] यह आख्यान तत्त्व जिसे बाद में काव्यशास्त्रीय रूप मिलने पर वस्तु-तत्त्व कहा जाने लगा उत्तरोत्तर विकसनशील रहता हुआ एक विशिष्ट काव्य शैली के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ जिसका सर्वप्रथम सुसम्बद्ध स्वरूप रामायण मे प्राप्त होता है।

रामायण आदि काव्य के रूप में प्रसिद्ध है,[4] परन्तु इसका अर्थ यह नही है

1. कौषीतकी उपनिषद, ४।४।
2. बृहदारण्यक०, २।१।१७।
3. देखिये, बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति।
4. The inscretion of narrative stanzas between the conversational stanzas was a further step in development. We find this final step in the development of ancient Indian Akhyan, which really formed the preliminary step to the epic. (*Winternitz, A Hist. of Indian Lit., Vol. 2, p. 96*).

कि रामायण से पहले क्लासिकल संस्कृत में कोई काव्य लिखा ही नहीं गया था। जैसा कि पिछली पंक्तियों में बताया गया है, इस भाषा में काव्य-रचना बहुत पहले से होती आ रही थी। रामायण एक कथासूत्र में विविध घटनाओं को गूँथ कर प्रस्तुत किया हुआ सर्वप्रथम सुव्यवस्थित काव्य है। इसीलिये उसे आदि काव्य की संज्ञा प्राप्त हुई। यद्यपि रामायण के कवित्वपूर्ण स्थलों में से कुछ प्रक्षिप्त हो सकते हैं तथापि इससे उसके आदि काव्य होने में कोई अड़चन नहीं आती क्योंकि मूल कथा-वस्तु के सौन्दर्य पर ही दृष्टि डालने से उसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। कीथ ने लिखा है कि नि.सन्देह रामायण में शैली के उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया दीख पड़ती है, किन्तु मूल-ग्रन्थ में भी सावधानी के साथ सौन्दर्य-वृद्धि के उपायों का आश्रय लिया गया है। अन्य विशेषताओं को छोड़ कर यदि केवल कथासूत्र पर ही विचार किया जाये तो अयोध्या के राजकुल की अभिसन्धि एवं सीताहरण के कारण राम-रावण के युद्ध की कथाओं का एक सूत्र में संग्रथन ही उच्च कोटि की कला का उदाहरण है। यही बात भाषा के प्रवाह और समता तथा छन्दो-विधान की सुकुमारता से व्यक्त होती है। शैली की यह प्रौढ़ता काव्य कला के निरन्तर विकास का परिणाम ही कही जा सकती है।

प्रबन्ध तथा अन्य प्रकार के काव्यों की परम्परा उत्तरोत्तर चलती रही। पाणिनि ने शिशुक्रन्दीय, यमसभीय और इन्द्रजननीय काव्यों का उल्लेख किया है[2] जिनके नाम ही इस बात के द्योतक हैं कि ये प्रबन्ध काव्य रहे होंगे। शिशु-क्रन्दीय कदाचित् कृष्ण के जन्म से सम्बन्धित काव्य था, यमसभीय यम की सभा का चित्रण करने वाला नाटक प्रतीत होता है और इन्द्रजननीय में इन्द्र के जन्म और उसके द्वारा वृत्रासुर के वध का वर्णन रहा होगा।[3]

भारतीय परम्परा के अनुसार पाणिनि महाकाव्यकार भी थे परन्तु उनका वैयाकरण का रूप ही अधिक प्रसिद्ध रहा। जल्हण की सूक्ति मुक्तावली में राजशेखर के एक श्लोक में कहा गया है कि पाणिनि ने पहले व्याकरण लिखा और बाद में जाम्बवती काव्य —

स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्रप्रसादतः।

आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम्॥

अमरकोष के टीकाकार रायमुकुट ने जाम्बवती विजय का श्लोकार्ध उद्धृत भी किया है :—

पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टा वान्ति वाताः शनैः शनैः।

ऑफ्रेट ने भी एक उद्धरण का जिक्र किया है और रुद्रटकृत काव्यालङ्कार सूत्र की टीका में नमिसाधु ने कवियों की निरंकुशता के प्रसङ्ग में पातालविजय से

1. कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४३।
2. अष्टाध्यायी, ४।३।८८।
3. देखिये इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, पृष्ठ ३४०–४१।

**संध्यावधूं गृह्य करेण** का उद्धारण किया है। पातालविजय भी पाणिनि रचित महाकाव्य बताया गया है। नमिसाधु ने ही पाणिनि के एक अन्य श्लोक का उल्लेख किया है जिसमें व्याकरण विरुद्ध 'अपश्यति' शब्द का प्रयोग हुआ है। वह श्लोक यह है :—

**गतेऽर्धरात्रं परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः ।**
**अपश्यति वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुङ्करोति ॥**

पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध उपर्युक्त काव्यों में से अब एक भी नहीं मिलता। इनके शीर्षक स्यमन्तकमणि की खोज में श्रीकृष्ण के पाताल जाने और जाम्बन्त को द्वन्द्वयुद्ध में जीत कर उसकी पुत्री जाम्बवती से विवाह करने की घटना पर आधृत जान पड़ते है। जाम्बवती विजय कम से कम १८ सर्गों का महाकाव्य रहा होगा क्योंकि दुर्घटवृत्ति में शरणदेव ने अठारहवें सर्ग का एक श्लोक उद्धृत किया है। सदुक्तिकर्णामृत के एक श्लोक में दाक्षीपुत्र पाणिनि का नाम सुबन्धु, भवभूति कालिदास आदि के साथ लिया गया है।[1] इसके अतिरिक्त विभिन्न संग्रहों में भी पाणिनि के नाम से लगभग १७ श्लोक प्राय. गेय छन्दों में मिलते हैं[2] जिनमें से अधिकतर ऊहात्मक शैली में लिखे हुए है। सबसे अधिक श्लोक उपजाति छन्द में हैं। इनकी संख्या ६ है। यह ध्यान रखने की बात है कि क्षमेन्द्र ने अपने सुवृत्ततिलक में पाणिनि के उपजाति छन्द की बड़ी प्रशंसा की है वे लिखते है :—

**स्पृहणीयत्व चरित पाणिनेरुपजातिभिः ।**
**चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ॥**[3]

इनके अतिरिक्त एक पद्य शिखरिणी में, दो श्लोकों में, दो में शार्दूलविक्रीडित, तीन स्रग्धरा और तीन वंशस्थ छन्द में है, यद्यपि विविध संग्रहों में पाणिनि के नाम से संगृहीत पदों के विषय में ऐकमत्य नहीं है, उदाहरणाय सुभाषितावली में जो ६ पद्य पाणिनिकृत माने गए हैं शार्ङ्गधर पद्धति में उनमें से केवल दो ही मिलते हैं, 'क्षमाः क्षामीकृत्य' वाला पद्य इन दोनों कोषों में पाणिनिकृत बताया गया है किन्तु कवीन्द्र वचन समुच्चय में यह नाम रहित है जबकि सूक्तिमुक्तावली में भोजमकण्ठ का बताया गया है; तथापि यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि पाणिनि नाम का कोई कवि हुआ अवश्य है वैयाकरण पाणिनि और कवि पाणिनि की अभिन्नता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पिशेल[4], पीटर्सन[5], काणे[6], एच० आर० दिवाकर[7] तथा

1. सदुक्तिकर्णामृत, ५।२६।५ ।
2. पीटर्सन, इण्ट्रोडक्शन टु सुभाषितावली, पृष्ठ ५४।५८ ।
 तथा थामस, कवीन्द्र वचन समुच्चय, पृष्ठ ५१।५२ ।
3. सुवृत्त तिलक, ३।३० ।
4. L. D. M. G. 39, 1885, p. 95.
5. जर्नल ऑफ बंगाल रायल एशियाटिक सोसाइटी १७, १८८५, पृष्ठ ६५ ।
6. इण्डियन एण्टीक्वरी ४१, १९१२, पृष्ठ १२५ ।
7. Fleurs de Rhetorique dam L Inde, Paris, 1932, p. 32.

डा० एस० के० दे[1] इन्हें एक ही व्यक्ति मानने के पक्ष में हैं और कीलहॉर्न[2], आर० जी०[3] भण्डारकर, डा० आर०[4] भण्डारकर तथा ए० बी०[5] कीथ इसके विरुद्ध हैं। भारतीय परम्परा ६वीं शताब्दी से वैयाकरण पाणिनि एवं कवि पाणिनि में अभिन्नता मानती चली आई है, इस मत से असहमत विद्वानों का कहना है कि इससे पहले पाणिनि के कवि रूप का उल्लेख कहीं नहीं हुआ। इसलिए क्षितीशचन्द्र चटर्जी ने जाम्बवतीविजय तथा पातालविजय को किसी ६वीं शताब्दी के कवि की रचना कहा है जिसने इन्हे पाणिनि के नाम से प्रचलित कर दिया। उनका कथन है कि पाणिनि जैसे वैयाकरण की रचना में गृह्य और अपश्याति जैसे अपाणिनीय शब्दों का प्रयोग कैसे हो सकता है ? और फिर पतञ्जलि जैसे पाणिनि-भक्त व्यक्ति ने उसके कविरूप का कहीं संकेत नहीं किया।[6] श्री चटर्जी की इस युक्ति के विरुद्ध महाभाष्य की उस कारिका को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें पाणिनि के लिये कवि शब्द का प्रयोग हुआ है।[7] किन्तु यह कहा जा सकता है कि कवि शब्द का प्रयोग वहाँ मेधावी के अर्थ मे ही हुआ है।' गृह्य' और 'अपश्याति' का प्रयोग अवश्य विचारणीय है। ६वीं शताब्दी का संस्कृत कवि कविता के कलापक्ष की ओर से बड़ा सजग था। अतः यह विश्वास नहीं होता कि वह इतनी बड़ी त्रुटि कर सकता था। कवियों की निरंकुशता एक निश्चित सीमा ही में चल सकती है। 'गृह्य' की व्याख्या तो उससे हो सकती है किन्तु अपश्याति की नहीं। अपश्याति वैदिक रूप के अधिक निकट है, हो सकता है कि कवि पाणिनि वैयाकरण पाणिनि से भिन्न वैदिक और क्लासिकल संस्कृत के संक्रान्ति-युग के कवि हों, कुछ भी सही, अष्टाध्यायीकार स्वयं चाहे कवि न रहे हों किन्तु उनके समय में संस्कृत के कवि और काव्य अवश्य थे। पीछे उदाहृत श्लोककार, शिशुक्रन्दीय आदि शब्दो से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है।

बौद्धो के प्राचीनतम धार्मिक साहित्य से भी ललित काव्यों की रचना का पता चलता है। बुद्ध वचनों के नाम से संगृहीत साहित्य मे चार प्रकार के कवियों का (चिन्ता-कवि, सुत्त-कवि, अत्थ-कवि तथा पटिभाण-कवि) का उल्लेख है। बुद्ध ने रागात्मक काव्यों के विरुद्ध अपने शिष्यो को चेतावनी देते हुए उन काव्यो को जिनसे सत्य रागावृत्त हो जाये, त्याज्य बताया है —

"पुन च पर भिक्खवे भविस्सन्ति भिक्खू अनागतमद्धान अभावितकाया अभावितसीला, अभावितचित्ता, अभावितपञ्ञा······ ये ते सुत्तन्ता तथागतभासिता

1. ट्रीटमेंट ऑफ लव इन संस्कृत पोइट्री, Calcutta 1919, p. 125.
2. N. G. W. G. 1885; p. 185.
3. J. B. R. A. S. 16, 344.
4. इण्डियन एण्टिक्वरी ४१, १६४२।
5. H. S. L., p. 203.
6. Calcutta Oriental Journal, pp. 22-23 & 135.
7. तदकीर्तितमाचरितं कविना (महाभाष्य १।४।५०; १।३।१४)।

गम्भीरा गम्भीरत्था लोकुत्तरा सञ्ञातपटिसंयुत्ता तेसु भञ्ञमानेसु न सुसुसिस्सन्ति, न सोतं ओदहिस्सन्ति, न अञ्ञाचित्तं उपट्ठापिस्सन्ति । न च ते धम्मे उग्गहेतब्बं परियापुणितब्बं मञ्ञिस्सन्ति, ये पन ते सुत्तन्ता कविकता कावेय्या, चित्तक्खरा, चित्तब्यञ्जना बाहिरका सावकभासिता, तेसु भञ्ञमानेसु सुसुसिहसन्ति, सोतं ओदहिस्सन्ति, अञ्ञचित्तं उपट्ठापेस्सन्ति ·· ······ इति खो भिक्खवे धम्मसन्दोसो विनयसन्दोसो ········· इदं भिक्खवे चतुथ्यं अनागतभयं एतरहि समुप्पन्नं आयतिं समुपज्जितस्सति ।"[1]

अर्थात् भिक्षुओ ! भविष्य मे यह चतुर्थ भय है कि शरीर शील, चित्त और बुद्धि पर संयम न कर सकने वाले भिक्षुक तथागत के गम्भीर, गम्भीर अर्थयुक्त, लोकोत्तर वचनो को नही सुनेंगे, अनन्यचित्त नही होंगे और उन्हें ग्राह्य न मानेंगे अपितु वे स्वच्छन्द रूप से चित्ताकर्षक, भाव-व्यञ्जक कविकृत काव्य को सुनेंगे, उन्हीं की ओर ध्यान देंगे और उन्हीं में तल्लीन होंगे । हे भिक्षुओ ! यह धर्म-दोष होगा विनय-दोष होगा ।

चित्तक्खरा, चित्तब्यञ्जना कविकृता कावेय्या से स्पष्ट है कि उनका अभिप्राय मनोरागों से परिपूर्ण कला-कलित भावोद्बोधक ललित काव्यों से है जो उस समय पर्याप्त मात्रा मे रहे होगे अन्यथा इस प्रकार की आशका बुद्ध के हृदय मे न उठती । थेरवंगीस ने अपने प्रारम्भिक जीवन का वर्णन करते हुए उसे काव्येयमत्तो (काव्यमत्त) का जीवन कहा है ।[2]

ई० पू० दूसरी शताब्दी के पतञ्जलि के महाभाष्य से काव्य साहित्य की सृष्टि के अनेक स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं । उन्होंने शौभिक लोगों द्वारा कस-वध और बालि वध नामक नाटकीय प्रदर्शनो के अतिरिक्त एक वाररुच काव्य का भी उल्लेख किया है ।[3] सूक्तिमुक्तावली मे राजशेखर के एक श्लोक मे इस काव्य का नाम 'कण्ठाभरण' कहा गया है । वासवदत्ता सुमनोत्तरा और भैमरथी आख्यायिकाओं का भी उल्लेख पतञ्जलि ने किया है । केवल नामोल्लेख ही नही पतञ्जलि ने अपने समय मे वर्तमान साहित्य से उदाहरण भी दिये हैं । एक उदाहरण लीजिए—

यस्मिन् दशसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति ॥[4]

यह पद्य स्वत. पूर्ण नहीं है और एक विशिष्ट प्रसङ्ग की ओर सकेत करता है जो किसी कथानक से सम्बद्ध होना चाहिए । अतः सम्भव है कि यह किसी प्रबन्ध काव्य से ही उद्धृत किया गया हो । बहुत सी नीति विषयक उक्तियाँ भी महाभाष्य

1. अङ्गुत्तरनिकाय, ३, पृष्ठ १०७ ।
2. मन्दिया नु सेसि उदाहु काव्येयमत्तो । अथ्था नु ते समपचुरा न सन्ति । एको विविते सयनासनम्हि निद्दामुखो किं इदं सोप्पसेवाति । (संयुत्तनिकाय १।११० ।
3. महाभाष्य, ४।३।१०१ ।
4. महाभाष्य, पाणिनि के ४।२।६० सूत्र की टीका ।

में आयी हैं—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
लाडनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ।।
प्रहरहर्नयमानो गामश्व पुरुषं पशुम् ।
वैवस्वतो न तृप्यति सुरमा इव दुर्मदी ।।

'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्' जैसा मनोवैज्ञानिक तथ्य तथा 'क्षेमे सुभिक्षे कृतसञ्चयानि पुराणि राज्ञा विनयन्ति कोपम्' जैसे राजनैतिक निष्कर्ष भी प्राप्त होते है । प्रसङ्गवश मन की मौज मे पतञ्जलि अनेक शृङ्गारिक उक्तियाँ उद्धृत कर गये हैं जो किन्ही गीत्यात्मक कविताओं के खण्ड प्रतीत होती हैं । 'चिरतनु ! सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः' 'प्रियं मयूरः प्रतिनर्नृतीति, सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी' आदि उक्तियाँ ऐसी ही हैं ।[1]

यह ध्यान रखने की बात है कि पतञ्जलि की शैली श्रम-सिद्ध शैली नही है । उनकी आदत खोज खोज कर उदाहरण रखने की नही है । दैनिक जीवन से ही उन्होने उदाहरण ले लिये है जो तत्कालीन समाज का अध्ययन करने के लिये उपयुक्त ही नही अनुपेक्षणीय भी हैं । इन अनायास समाविष्ट उदाहरणों मे श्लोक और त्रिष्टुप् के अतिरिक्त मालती, प्रहर्षिणी, प्रमिताक्षरा और वसन्ततिलका जैसे छन्द भी मिलत है जो विकास-क्रम मे वैदिक छन्दों से बहुत पीछे के है और अपनी गेयता के कारण रमणीय तथा स्मरणीय हैं । वक्त्रा, इन्द्रवज्रा, उपजाति, शालिनी, वंशस्थ आदि वृत्त भी ऐसे ही हैं । विद्युन्माला, तोटक और दोधक जैसे छन्द भी, जो परवर्ती साहित्य मे भी बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं, पतञ्जलि के भाष्य मे मिलते है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पतञ्जलि से पहले ही इस प्रकार की रचनाएँ पर्याप्त मात्रा मे होती रही थी । पद्य मे उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये स्वयं पतञ्जलि ने इनकी रचना नही की क्योंकि इस कार्य के लिये तो श्लोक जैसा सरल छन्द ही अधिक उपयुक्त होता है ।

महाभाष्य के अन्तर्गत ये उल्लेख विविध काव्य-शैलियों के अस्तित्व की सूचना देते हैं । गेय पद्यो की परम्परा बहुत पहले से चली आ रही थी जिसकी पुष्टि पिङ्गल के छन्द सूत्र से भी होती है जिसका परिगणन वेदाङ्गों मे हुआ है, किन्तु इस ग्रन्थ मे लौकिक छन्दो का ही विवेचन है । वैदिक छन्दों का नही । भारतीय परम्परा पिङ्गल को पाणिनि का भाई बतलाती है । निःसन्देह छन्द सूत्र बहुत पुराना ग्रन्थ है जिन छन्दों का विवेचन इस मे हुआ उनमे से कितने ही आज तक के उपलब्ध काव्यो मे नही मिलते । स्पष्टतः ये संक्रमणकाल की उपज है जब शृङ्गारिक रचनाओ के कवयिता एक के बाद दूसरे छन्द का प्रयोग करने मे उत्साह दिखा रहे थे । इन छन्दों के नाम भी सुन्दरियों के हाव-भाव, चेष्टा आदि के

1. (i) देखिये, F. Keilhorn, Indian Antiquarry. 14, p. 32 .
(ii) P. C. Chakravarty, Indian Historical quarterly, 2, 1926, p. 464.

द्योतक विशेषाधानहेतु 'कान्तोत्पीडा, कुटिलगति, चञ्चलाक्षिका, चारुहासिनी' आदि शब्द हैं जो कवियों की शृङ्गारिक प्रवृत्ति के परिचायक है। इन प्रमाणों के आधार पर जाकोबी का यह कथन ठीक ही है कि 'पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित गेय पद्यों का मूल उद्गम ईसा से पूर्व युग के साहित्य से ही सम्बद्ध है जिससे महाराष्ट्री-गीति को भी प्रेरणा मिली।[1] कीथ ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि गेय काव्य की एक सुसंबद्ध और प्रबल परम्परा ईस्वी सन् के लगभग, और कदाचित् उससे भी बहुत पहले, मौजूद थी।[2]

महाभारत मे एक स्थल पर काव्य के विविध प्रकारो की ओर संकेत किया गया है। युधिष्ठिर के समक्ष ब्रह्मा की सभा का वर्णन करते हुए नारद कहते हैं :—

सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधास्तथा ।
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशां पते ! ।।
नाटका विविधा काव्याः कथाख्यायिककारका ।
तत्र तिष्ठन्ति ये पुण्या ये च मे गुरुपूजकाः ।।[3]

यदि ये श्लोक प्रक्षिप्त न होकर व्यासकृत मूल जय ग्रन्थ के ही है तो निःसन्देह काव्य शैली और भी अधिक प्राचीन सिद्ध होती है क्योंकि, जैसा कि डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'अपने पाणिनि कालीन भारत' म लिखा है, पाणिनि जय-ग्रन्थ मे परिचित थे। उन्होने महाभारत के तीन पात्रो—वासुदेव, अर्जुन और युधिष्ठिर का उल्लेख भी किया है।

पतञ्जलि के समय के आस-पास का ही खारवेल का हाथी गुम्फा का शिलालेख प्राप्त हुआ है[4] जिसमे पाली से मिलती-जुलती भाषा का व्यवहार किया गया है। यह लेख लयात्मक, सानुप्रास, तथा गौडी शैली मे लिखित होने के कारण सस्कृत गद्यकारों की कसौटी के अनुसार उच्च कोटि के गद्य का उदाहरण कहा जा सकता है। गुणाढ्य की बृहत्कथा भी, जो आज अपने मूलरूप मे उपलब्ध नहीं है, काव्य शैली के अस्तित्व की सूचना देती है। तत्कालीन जैन एव बौद्ध ग्रन्थो में भी इसके प्रमाण उपलब्ध होते हैं। थेरी गाथाओ मे तो उत्कृष्ट कोटि की काव्य सामग्री मिलती ही है। के० ई० न्यूमन के मतानुसार इन गाथाओं का संकलन गौतम बुद्ध के जीवन-काल में ही हो गया था, इनकी सावधानी से रक्षा की गयी और बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही ये लिपिबद्ध की गयीं।[5] हो सकता है कि

1. कीथ का इतहास, पृष्ठ ४८।
2. वही, वही पृष्ठ।
3. सभापर्व, अध्याय ११, श्लोक ३५।३६।
4. B. M. Barua, India Historical Quarterly, 4, 1928, p. 535.
5. विण्टरनित्ज द्वारा अपने भारतीय साहित्य के इतिहास, भाग २ के १११ वे पृष्ठ पर उद्धृत।

इन मे से कुछ रचनाएं बाद की हो।[1] किन्तु इनमे से कुछ तो बुद्ध के सर्वप्रथम शिष्यो द्वारा रचित प्रतीत होती हैं।[2] प्रक्षिप्त अशो का समावेश सम्भवत शताब्दियो पश्चात्—अशोक के भी बाद मे हुआ है।[3] इस प्रकार विक्रम सवत् से पहले ही भारतीय साहित्य मे प्रबन्ध काव्य तथा गीतिकाव्य के तत्त्व क्रमिक विकास मे प्रारम्भिक दशा से बहुत कुछ ऊपर उठकर प्रौढता की ओर अग्रसर हो रहे थे। कालिदास ने रामिल सौमिल और भास नामक नाटककारो का उल्लेख ही नहीं उनके प्रति सम्मान भी प्रकट किया है जिसका अर्थ यह है कि नाट्यकला की दृष्टि से इन कवियो की कृतियाँ अवश्य ही उच्चकोटि की रही होगी। इसलिये नाटक का विकास कदाचित् प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा पहले और द्रुतगति से सम्पन्न हुआ। प्रबन्धान्तर्गत एक अन्य प्रकार की शैली भी पनप रही थी जिसमे कवि प्रसङ्गवश आए हुए अवान्तर विषय का सश्लिष्ट चित्रण करता था ऐसे स्थलो पर कथानक का सर्वथा त्याग कर परस्पर सुशृखलित पद्यो म वर्ण्य वस्तु के चित्रण उपस्थित करन का प्रयास किया जाता था। कथानक का आश्रय न लेने के कारण इनमे स्वतन्त्र रूप से प्रबन्धात्मकता नही थी। हाँ समूचे प्रबन्ध मे ये भली भाति खपे हुए है। किन्तु यदि इन स्थलो को प्रबन्ध काव्य मे से निकाल कर अलग रख दिया जाये तो उसकी प्रबन्धात्मकता पर अधिक आँच नही आ सकती क्योकि कथावस्तु मे कोई विच्छेद उपस्थित ही नही होता, किन्तु ऐसा करने स इन स्थलो का स्वतन्त्र महत्त्व बढ जाता है। पूरे प्रबन्ध से विच्छिन्न होकर भी ये आस्वाद्य ही रहते है फिर भी इनमे प्रत्येक पद्य स्वत पूर्ण एव पृथक्तया सवेद्य नही है। अत इन्हे मुक्तक भी नही कहा जा सकता। रामायण और महाभारत मे अनकत्र प्रकृति विषयक वणन इसी कोटि का है। इस शैली को हम निबन्धात्मक शैली कह सकते हैं। आगे चल कर प्रबन्ध शैली और मुक्तक शैली का सस्कृत साहित्य मे पर्याप्त प्राधान्य रहा किन्तु निबन्ध शैली अपेक्षाकृत कम अपनायी गयी। कालिदास का ऋतु-सहार इसी शैली मे लिखा गया है। इस प्रकार सस्कृत साहित्य की अरुणोदय-वेला मे तीन प्रकार की शैलिया प्रचलित थी जिनका सस्कृत गीतिकारो ने यथारुचि प्रयोग किया है

## प्रबन्ध शैली

प्रबन्ध काव्य का प्रमुख तत्त्व है कथा वस्तु जो इतनी व्यापक भी हो सकती है कि जीवन का एक विशद चित्र प्रस्तुत कर सके, तथा इतनी सक्षिप्त भी हो सकती है कि उसके किसी एक उज्ज्वल पक्ष की ही झाँकी दिखा सके अथवा किसी प्रभावशालिनी घटना को ही प्रत्यक्ष उपस्थित कर सके। इस आधार पर प्रबन्ध काव्य के दो भेद हो जाते हैं—महाकाव्य और खण्ड काव्य।

1 श्रीमती रायस डेविड, Psalms of the Sistres, p XVIII. तथा विण्टरनित्ज, H I. L. pp 111-112

2 वही, पृष्ठ ११२।

3 वही, पृष्ठ ११०।

**महाकाव्य—**

महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक अथवा किसी लोक-विश्रुत महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध होना चाहिए। घटनाओं के प्रशस्त गुम्फन द्वारा कथा वस्तु का क्रमिक विकास इसमें अपेक्षित है। अतः इसमें नाटक के समान ही मुखादि संधियाँ शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक प्रमुख रस और तदतिरिक्त रसों का गौण होना आवश्यक है कोई देवता अथवा धीरोदात्त संद्वश क्षत्रिय इसमें नायक होता है। एक ही वंश के अनेक कुलीन राजा भी नायक हो सकते हैं। इसका प्रारम्भ नमस्कार, आशीर्वाद अथवा वस्तु निर्देश के साथ होता है। सज्जन-प्रशंसा, खल-निन्दा, संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, मृगया, शैल, वन, सागर और ऋतुओं के वर्णन के साथ सयोग अथवा विप्रलम्भ शृंगार का समावेश, पुर, अध्वर स्वर्ग, अभियान, आदि का भी वर्णन रहता है। स्वरूप की दृष्टि से यह सर्गों मे विभाजित होता है, इसमें आठ या अधिक सर्ग होते है। एक सर्ग में एक ही छन्द का आश्रय लिया जाता है केवल सर्ग के अन्त मे छन्द बदल जाता है। सर्ग के अन्त मे ही भावी सर्ग की कथा की सूचना भी दे देनी चाहिये। किसी किसी सर्ग मे विभिन्न छन्द भी अपनाये गये देखे जाते है।[1] महाकाव्य के इन लक्षणों से स्पष्ट हो जाता है कि इस में कथानक का प्रवाह सर्वत्र रक्षणीय है, वर्णनात्मकता अवश्यम्भावी है और विविध वर्णनो को यथा स्थान घटना-सूत्र मे आबद्ध करने की संगठन-शक्ति अपेक्षित है। इन सब शर्तों का पालन करते हुए रस-सृष्टि करना कोई आसान कार्य नही। **अनुज्झितार्थ-सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः** कह कर महाकवि माघ ने प्रबन्धकार की कठिनाइयों की ओर संकेत किया है। यही कारण है कि जहाँ मुक्तक रचना में असंख्य कवि प्रवृत्त देखे जाते है वहाँ महाकाव्य की रचना में विरले ही पग रखने का साहस करते है—

**मुक्तके कवयोऽनन्ताः प्रबन्धे कवयः शतम् ।**
**कविरेको महाकाव्ये, द्वौ वा दुर्लभास्त्रयः ।।**[2]

महाकाव्य की उपर्युक्त विशेषताओ से यह भी प्रकट है कि यह पद्धति गीति काव्य के लिये उपयुक्त नही है। गीति काव्य में विषय-वर्णन की अपेक्षा भाव-सान्द्रता को प्रमुखता प्रदान की गई है फिर विषय-वैविध्य का उसमें कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रसार की अपेक्षा गहराई ही उसमें अभीष्ट है। यद्यपि महाकाव्य के विशाल कलेवर में गीति काव्य भी यत्र-तत्र रस-सृष्टि हेतु समाविष्ट मार्मिक स्थलों में अन्तर्भूत मिल ही जाता है, और इन्हीं स्थलों को उसका प्राणकोष भी कहा जा सकता है, तथापि महाकाव्यात्मक गीति काव्य की कल्पना नही की जा सकती। अर्थात् महाकाव्य गीत्यात्मक हो सकता है किन्तु गीतिकाव्य महाकाव्यात्मक नहीं हो सकता।

1. साहित्य दर्पण, कारिका ६।३१५।३२३।
2. काव्यमीमांसा अ० १०।

**खण्ड काव्य—**

प्रबन्धात्मक शैली मे लिखे हुए काव्य का दूसरा प्रकार खण्ड काव्य के नाम से अभिहित है। इसमे महाकाव्य की भाँति जीवन का विविधाङ्ग चित्र नहीं दिया जाता अपितु किसी एक अङ्ग की झलक सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ उपस्थित की जाती है। अन्त कथाओ और घटना-वैविध्य के लिये इसमे स्थान नही रहता। गिनी-चुनी घटनाओ को गूँथ कर कवितकावली का प्रणयन किया जाता है। अन्यान्य वणनो के भार से मुक्त रहन के कारण कवि के भावोच्छ्वास के लिये इसमे स्थिति और स्थान दोनो ही अपेक्षाकृत अधिक रहते है जिससे घटनाओ के सकोच का रस की गहराई मे पयवसित हो जाना स्वाभाविक ही है। अत सहृदय पाठक और कथानक दोनो ही रस-गाम्भीर्य म मग्न हो जाते हैं। यही कारण है कि प्रबन्धात्मक शैली मे गीतिकाव्य केवल खण्ड काव्य के रूप मे ही अवतरित हो सकता है। उदाहरणार्थ कालिदास के मेघदूत का नाम लिया जा सकता है।[1]

## निबन्ध शैली

स्थूल रूप से निबन्ध शैली मे लिखे हुए ग्रन्थो का विवेचन सस्कृत साहित्य मे अप्राप्त है। किन्तु, जैसा कि हम पीछे कह आय है, इस प्रकार की रचनाएँ अवान्तर वर्णन के रूप मे महाकाव्यो में यत्र-तत्र अधिगत होती है। उदाहरणार्थ वाल्मीकि के शरद वणन को ही ले लीजिये। कथानक सन्धि आदि तत्त्वो की अवहेलना कर कवि अपने वर्ण्य विषय का कुछ श्लोको मे जो परस्पर सुसम्बद्ध होते है, चित्रण करता है। महाकाव्यो मे सध्या, ऋतु पर्वत, नदी, रजनी आदि के वर्णन इसी कोटि के कहे जा सकते हैं। स्वतन्त्र रूप से भी इस प्रकार के काव्यो की रचना सस्कृत मे हुई है। विश्वनाथ महापात्र ने ऐसी रचनाओ को काव्य नाम दिया है। इसका लक्षण करते हुए वे लिखते है—

> भाषा विभाषानियमात् काव्य सर्गसमुज्झितम्।
> एकार्थ प्रवणै पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितै ॥[2]

अर्थात् एकार्थ प्रवण पद्यो मे रचित कृति, जिसकी सर्गादिबन्ध एव सधि आदि के पालन का विचार न कर आद्यन्त भाषा अथवा विभाषा मे ही रचना हुई हो, काव्य कहलाती है। इस परिभाषा मे 'सन्धिसामग्र्यवर्जन' कथा वस्तु की पूरी पूरी उपेक्षा कर दता है फिर भी एकार्थ-प्रवणता से पद्यो का पारस्परिक निबन्धन व्यक्त है। 'सर्गत्याग' घटनावैविध्य के अपहार का द्योतक है। इसलिये आधुनिक परिभाषिका (Terminology) के अनुसार हम इसे निबन्ध शैली कह सकते हैं।

---

1 खण्ड काव्य महाकाव्यस्यैकदेशानुकारि च।
यथा मेघदूतादि (विश्वनाथ महापात्र, सा० दर्पण छटा परिच्छेद)।

2. सा० दर्पण, कारिका ३२८।

संस्कृत के अनेक गीति काव्य इस शैली में लिखे गये हैं। उदाहरण के रूप में ऋतु-संहार, राक्षस काव्य, भिक्षाटन काव्य आदि प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

## मुक्तक शैली

संस्कृत गीति काव्य का विशालतम भाग मुक्तक शैली मे लिखा गया है। वास्तव में क्षणिक भावावेश मे प्रसूत गीति को बाँधने के लिये गुणो की दृष्टि से मुक्तक को बेजोड ही समझना चाहिये। अल्प समय में नगण्य सी सामग्री द्वारा रस-सृष्टि का अद्भुत कार्य इसकी अपनी विशेषता है। मुक्तक शब्द मुच्[1] धातु से 'क्त' प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न होता है और भूतकाल एवं फलाश्रय के समानाधिकरण विशेषण का प्रत्यायन कराता है।[2] इस प्रकार मुक्त शब्द विशेषण का कार्य करता है जिस का अर्थ है छोड़ा हुआ अथवा स्वतन्त्र। मुक्त शब्द मे सज्ञार्थ[3] मे अथवा ह्रस्वार्थ[4] में कन् प्रत्यय होने पर मुक्तक शब्द बनता है। इस प्रकार मुक्तक का अर्थ होता है—मुच्यते इति मुक्तम्, तदेव ह्रस्व द्रव्य मुक्तकम्। अर्थात् लघु-कलेवर मुक्त पदार्थ मुक्तक कहलाता है। केशवकृत शब्दकल्पद्रुकोश मे मुक्तक का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

विनाकृतं विरहितं व्यवच्छिन्नं विशेषितम्।
भिन्नं स्यादश निर्व्यूहे मुक्त यो वातिशोभनः॥

इस परिभाषा के प्रथम चार शब्दों से सिद्ध है कि जो पद्य अर्थ-पर्यवसान तथा रस-चर्वणा मे परापेक्षी न होकर स्वतः पूर्ण हो वह मुक्तक कहलाता है। प्रबन्ध काव्य में तो उसकी अपेक्षा नही होती। निर्व्यूह शब्द, जिस का अर्थ है पूर्णतया किया हुआ, मुक्तक की इसी विशेषता की अभिव्यक्ति करता है। विशेषित द्वारा यही बात अभिहित है और अतिशोभन शब्द उस की कलात्मकता की ओर इगित करता है। मुक्तक की शोभा स्त्रियों के लावण्य के समान ध्वनि के अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। रसास्वादन और चमत्कृति प्रबन्ध के प्रत्येक पद्य में संभव नही किन्तु मुक्तक में रस की समग्र विशेषताओं का समाहार आवश्यक है, रस और चमत्कार के सारे उपकरणों का जुटाना अपेक्षित है। इसीलिए विशेषित विशेषण दिया गया है। मुक्तक का अन्य अर्थ ब्रह्मानन्द प्राप्त आत्मा भी है। इन सभी अर्थों की सगति करने पर मुक्तक की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—मुक्तक उस पद्य को कहते हैं जो परतः निरपेक्ष रहता हुआ भी पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में क्षम हो, चमत्कृति, गुम्फन एव ध्वनि आदि विशेषताओं के कारण रमणीय तथा चर्वणा में ब्रह्मानन्द सहोदर रसानुभूति द्वारा हृदय को मुक्त बनाने में समर्थ हो। प्रबन्ध काव्य और नाटक में रसात्मकता और चमत्कार प्रबन्ध व्यापी होते हैं। पद्यों का

1. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः। अष्टा० ५।३।८७।
2. निष्ठा, वही ३।२।१०२।
3. संज्ञायाम् कन् ५।५।८७।
4. ह्रस्वे, अष्टा०।

सामूहिक प्रभाव इस दिशा में लेखक का सहायक होता है। अर्थात् काव्यानन्द की अनुभूति समूचे काव्य द्वारा होती है किसी एक पद्य विशेष द्वारा नहीं, और कथानक तथा पात्रों का भी इस दिशा में कुछ न कुछ योग रहता ही है। पाठक पात्रों की गति-विधि से उत्तरोत्तर अभिज्ञ होता हुआ प्रभावित होता जाता है और कुछ आगे चल कर उसके हृदय मे इस अभिज्ञता के कारण तत्तत्पात्रों के प्रति सूक्ष्म सस्कार प्रतिष्ठित हो जाते हैं जो यथा प्रसङ्ग रसास्वादन मे सहायक होते हैं। कथा-वस्तु की कौतुकपूर्ण निजी रमणीयता में बहुत कुछ रमा हुआ हृदय परिणामावगति के लिये उत्सुक रहता है जिस के कारण सामान्यत. गुण-दोष के प्रति उसकी चित्त-वृत्ति चेतन नही रह पाती। यही कारण है कि प्रबन्ध काव्यगत शतशः नीरस पद्यों की ओर उसका ध्यान नही जाता और वह सामूहिक रूप मे काव्य के गुण-दोषो का अनुभव करता है। मुक्तक मे ये सब सुविधाएँ नही रहतीं, न कथा का कौतूहल और न पात्रो का प्रभाव ही वहाँ होता है। हृदय रस-गवेषणा के लिये एक ही पद्य मे व्यासक्त हो जाता है। अत एक भी दोष दृष्टि से बच कर जा नही सकता। अमरुक का शतक, विल्हण की चौरपञ्चाशिका, गोवर्धनाचार्य की आर्या-सप्तशती आदि रचनाएँ मुक्तक शैली मे ही लिखी गई है।

मुक्तक काव्य की परम्परा का इतिहास बहुत पुराना है। ऋग्वेद विश्व का सर्वप्रथम मुक्तक-सग्रह माना जा सकता है। उस युग मे प्रबन्ध काव्य का प्रचलन शायद था ही नही। इसीलिए ऋग्वेद में काव्य शब्द का कवि-प्रणीत-कृति अर्थ मे भी प्रयोग तो हुआ है किन्तु उसके भेदोपभेदो का प्रतिपादन नही किया गया। जैसा कि इस अध्याय के गत पृष्ठों में कहा गया है महाभाष्यकार के समय तक काव्य के लगभग सभी अगो का प्रणयन होने लगा था फिर भी प्रबन्ध और मुक्तक के भेद-विवेचन का कोई सकेत नही मिलता। काव्यशास्त्र के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थों की उपलब्धि के अभाव मे भामह और दण्डी ही सर्वप्रथम काव्यशास्त्री सिद्ध होते हैं। यद्यपि नाट्यशास्त्र निर्विवाद रूप से इनसे पहला है तथापि वह अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत के युग तक नाट्यशास्त्र और अलङ्कार शास्त्र दो अलग शास्त्र माने जाते थे। नाट्यशास्त्र का सम्बन्ध नाटकों से था और अलङ्कारशास्त्र का काव्य से। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि नाट्यशास्त्र में नाटक के ही अंगों का सर्वांगीण विवेचन हुआ है अन्य काव्य-विधाओं का नहीं। अलङ्कारों का भी जो सक्षिप्त सा विवेचन इस प्रसग में किया गया है वह यही मान कर कि सभी कलाओं का समावेश नाटक में होता है। इसके अतिरिक्त नाटक में रस को प्रमुखता प्रदान की गई है जब कि उस युग में काव्य में रस का नहीं, अलङ्कार का प्राधान्य स्वीकार किया गया था। तत्कालीन अलङ्कार ग्रन्थों के प्राप्त न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य जैसा कोई भेद प्रतिष्ठित हो चुका था।

भामह और दण्डी ने इस प्रकार का विभाजन किया है किन्तु इनकी

रचनाओं के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये स्वयं इस विषय में निर्भ्रांत नहीं थे। दण्डी के अनुसार स्फुट काव्य को मुक्तक माना जाना चाहिये जब कि भामह इसे अनिबद्ध काव्य कहते थे। भामह ने जिसे महाकाव्य कहा है दण्डी उसे सर्गबन्ध काव्य की सज्ञा देते है। दण्डी ने मुक्तक काव्य के विषय में विचित्र ही धारणा प्रकट की है। वे प्रबन्धगत किसी भी एक पद्य को 'मुक्तक' नाम देते हैं। अतः मुक्तक की कोई परिभाषा उन्होंने नहीं दी। इन तथ्यों से हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि उस समय तक काव्य की विभाजन-बोधक संज्ञाओं का स्थिरीकरण भी नहीं हो पाया था जिसका कारण यही हो सकता है कि इन आचार्यों को काव्य भेदों की कोई परिनिष्ठित परम्परा प्राप्त नही हुई थी।

हम यह उल्लेख कर आए है कि काव्य मे रस की आत्मरूप प्रतिष्ठा बहुत दिनों तक नही हो सकी थी और रस नाटक का ही तत्त्व माना जाता रहा था। काव्य में प्रारम्भ मे अलङ्कार का ही प्रधान्य माना गया परन्तु अलङ्कार का अर्थ है आभूषण। वह अलङ्करण का साधनमात्र है फिर वह साध्य—अलङ्कार्य अथवा आत्मा—कैसे बन सकता है ? जब यह प्रश्न विवेचको की बुद्धि से टकराया तो उन्होने नाटक के समान काव्य मे भी रस को आत्मरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उभय सम्प्रदायो के आचार्यों मे इस प्रश्न को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद चला। इस धारणा की पुष्टि अग्नि पुराण की इस उक्ति से होती है —

**वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।**[1]

इस उक्ति में निर्णेता के पद पर आसीन किसी मध्यस्थ विद्वान् के तर्क-संगत निर्णय की ध्वनि है। पुराणकार ने दोनों पक्षो की मीमांसा पर विचार करने के पश्चात् यह समन्वयात्मक निर्णय दिया कि काव्य मे वैदग्ध्यभंगी भणिति-का प्राधान्य होता है, फिर भी उस का जीवन रस ही है। इस प्रकार काव्य मे भी रस की अपरिहार्यता प्रतिष्ठित हुई किन्तु उसका सम्बन्ध प्रबन्ध काव्य से ही माना गया ज्ञात होता है। ऐसा सम्भवतः इस लिये हुआ कि रस ने नाटक से काव्य मे सक्रमण किया था इस लिये यह समझा गया कि उसके समावेश के लिए कथा वस्तु का आधार आवश्यक है। कुछ भी हो, मुक्तक मे भी रस भरा जा सकता है यह विचार समन्वयवादी पुराणकार मुनि की भी आस्था प्राप्त न कर सका और उन्होंने मुक्तक में चमत्कार शक्ति का ही स्फुरण प्रधान माना; रस का उल्लेख तक नहीं किया—

**मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।**[2]

1. अग्नि पु० ३३७।३३।
2. वही, ३३७।३६।

किन्तु **एक एव चमत्कारक्षमः** कह कर मुक्तक की स्वतन्त्र सत्ता को अवश्य स्वीकार कर लिया गया। मुक्तक की रसवत्ता को सर्वप्रथम ध्वनिकार ने मान्यता प्रदान की और आलोककार आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा कि—

**प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बद्धुमिच्छता ।[1]**
**यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥**
**तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम् ।[2]**

अर्थात् यदि कवि रसमय मुक्तक की रचना करना चाहता है तो उसे अभीष्ट रसानुकूल औचित्य का पालन करना चाहिये। इतना कह कर ही आलोककार सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने उदाहरणार्थ अमरुक कवि के रसमय मुक्तकों का उल्लेख करते हुए कहा कि प्रबन्ध काव्यों के समान ही मुक्तकों में भी रस का अभिनिवेश रखने वाले कवि भी दीख पडते हैं। अमरुक कवि के शृंगाररसवर्षी मुक्तको की प्रबन्ध-सदृश रसवत्ता प्रसिद्ध ही है—

**मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।[3]**

यह वस्तुतः आश्चर्य की बात है कि व्यवहार रूप में मुक्तकों में रस की सत्ता शताब्दियों से चली आ रही थी किन्तु काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से वह ध्वनिकार से पूर्व स्वीकृत न हो सकी।

**मुक्तक काव्य संग्रह—**

मुक्तक काव्य-संग्रह के दो भेद प्रसिद्ध है कोष और संघात। कोष का लक्षण विश्वनाथ महापात्र ने इस प्रकार दिया है—

**कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ।**
**व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ॥[4]**

अर्थात् परस्पर अनपेक्ष श्लोको का समूह कोष कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है क्रमरचित एव अक्रमरचित। व्रज्या क्रम से रचित कोष श्रेष्ठ समझा है। व्रज्या दो प्रकार की होती है—एक जातिपरक पद्यों का समूह और एक वर्ण से प्रारम्भ होने वाले पद्यों का समूह। एकजातिपरता वर्ण्य-विषय अथवा छन्द के आधार पर मानी जाती है। एक ही विषय से सम्बद्ध पद्य, चाहे वे विभिन्न छन्दों में लिखे गए हों अथवा एक ही वृत्त मे लिखे गए श्लोक, चाहे वे विभिन्न विषयो का वर्णन करते हों, सजातीय कहे जा सकते हैं। व्रज्या क्रम से संकलित कोष इस लिये श्रेष्ठ समझा जाता है कि उसमें विषय अथवा छन्द के निरन्तर परिवर्तित न होते रहने के कारण आस्वादन में एक प्रकार की समरसता बनी रहती है। यह आवश्यक

1. ध्वन्यालोक, कारिका ७३।
2. ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।
3. वही, "
4. साहित्य दर्पण, छठा परिच्छेद।

नहीं कि कोष में संकलित पद्य एक ही कवि की रचना हों। अनेक कवियों की रचनाओं का संग्रह भी कोष ही कहलाता है। गाथा सप्तशती ऐसा ही कोष है जब कि आर्या सप्तशती में एक ही कवि के पद्य संकलित हैं। काव्यादर्श के टीकाकार नृसिंहदेव ने संघात नामक कोष के एक अन्य प्रकार का भी उल्लेख किया है—

यत्र कविरेकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये ।
संघातः स निगदितो वृन्दावनमेघदूतादिः ।।

जहाँ कवि एक ही विषय का एक ही छन्द में वर्णन करता है वह सघात कोष कहलाता है, जैसे वृन्दावन और मेघदूत। साहित्यदर्पणकार ने मेघदूत को खण्डकाव्य के रूप मे उदाहृत किया है और यही अधिक समीचीन प्रतीत होता है क्योंकि उसमें कथानक और प्रबन्धता किसी न किसी अश में विद्यमान है ही। उसके पद्यों को सर्वथा परम्परानपेक्षक नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिये यह पद्य लीजिये—

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा ।
त्वामुत्थाप्योच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य संभाव्य चैवम् ।।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य ! सीमन्तिनीनाम् ।
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात् किंचिदूनः ।।

सौम्य ! तुम्हारे यह कहने पर प्रसन्न हृदय से ऊपर मुख उठा कर वह तुम्हारा उसी प्रकार अभिनन्दन करेगी जिस प्रकार सीता ने हनुमान् का किया था, फिर ध्यान से तुम्हारी बात सुनेगी क्योंकि वधू-जन के लिये मित्र द्वारा लाया हुआ प्रियतम का सदेश मिलन से कुछ ही हीन होता है।

इस पद्य का प्रथम शब्द ही पूर्ववर्ती पद्य के वर्ण्य-विषय को जानने के लिये उत्सुकता उत्पन्न कर देता है और पाठक का हृदय इस समूचे पद्य को पढ़ने से पहले उस कथन को जान लेना चाहता है जो इससे पहले श्लोकों में बताया गया है। इस आधार पर हम ऐसे गीति काव्यो को प्रबन्ध शैली के ही अन्तर्गत मानते हैं। उनके मुक्तक शैली में रखने का कोई कारण नही दीख पड़ता।

सक्षेप मे संस्कृत गीति साहित्य में उपर्युक्त शैलियों की रचनाएँ अधिगत होती हैं। शायद अधिक भेद-प्रभेद भी सभव हो सकें किन्तु उनकी आवश्यकता नही है क्योंकि उनका अन्तर्भाव इन्हीं में हो सकता है।

५

# संस्कृत गीति-काव्य पर लोकभाषाओं के साहित्य का प्रभाव

## लोक भाषा का महत्त्व

शिष्ट साहित्य के साथ साथ लोक भाषाओं मे भी जन साधारण के मनोरञ्जनार्थ साहित्य की सृष्टि होती रहती है और कालान्तर में ये लोक भाषाएँ क्रमशः परिमार्जित और विकसित होती हुई स्वय शिष्ट अथवा साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लेती है। विकास के इस क्रम में किसी समय ऐसी स्थिति का आना भी स्वाभाविक ही है जब पुरातन साहित्यिक भाषा और नव विकसित अर्वाचीन भाषा में समानान्तर साहित्य-सृष्टि होती रहती है। कभी-कभी एक ही व्यक्ति दोनों भाषाओं मे उच्च-कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत करता है। समानान्तर साहित्य-सृष्टि से गौरवान्वित भाषाओं में भद्र प्रतिवेशियो के समान आदान-प्रदान भी स्वाभाविक ही है। यहाँ जब हम संस्कृत गीति काव्य पर लोक भाषा साहित्य के प्रभाव की बात कहते है तो हमारा उद्देश्य इसी नव-साहित्यिक रूप प्राप्त लोक भाषा के साहित्य से है। अपने दीर्घ जीवन-काल मे संस्कृत समय-समय पर ऐसी भाषाओं के सम्पर्क मे आती रही है और इस सम्बन्ध मे दो मत नही हो सकते कि वह स्वयं इन भाषाओं के साहित्य की धाराओं को अपने अगाध रस से भरती रही है। पालि, प्राकृत और अपभ्रश के समान ही आधुनिक भारतीय भाषाओं पर भी सस्कृत का साहित्यिक ऋण कुछ कम नहीं है, इस ऋण का निर्यात तो इन भाषाओं द्वारा सस्कृत को सम्भव नहीं परन्तु ब्याज के रूप मे ये भी उसे अपना कुछ न कुछ देती अवश्य रही हैं जो अनुपात में नगण्य होता हुआ भी प्रभाव की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता रहा है।[1] आधुनिक युग में भी संस्कृत कविता, अल्पांश में ही सही, हिन्दी की अपनी परम्पराओं से प्रभावित हुई है। यह पक्ष हमारे विषय की परिधि में नही आता। अतः इस अध्याय में केवल पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रभाव को खोजने का प्रयत्न किया जायेगा।

1. The vernacular literature, developing side by side, apparently reacted upon sanskrit, as it was often reacted upon by Sanskrit. (*S. K. De, Hist. of Sans. Lit., p. 395.*)

## प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति

भारतवर्ष की ये प्राचीन लोक-भाषाएँ प्राकृत के सामान्य नाम से अभिहित की जाती हैं। प्राकृत शब्द की विद्वानों ने अनेक व्युत्पत्तियाँ की हैं। शब्दकल्पद्रुम में 'प्रकृष्टं कृतं कार्यं यस्मिन्' व्युत्पत्ति की गई है। प्राकृत सञ्जीवनीकार 'प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः', प्राकृतचन्द्रिकाकार 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्' और हेमचन्द्र 'प्रकृतिः संस्कृत तत आगतम् प्राकृतम्' व्युत्पत्ति करते है। हमारे विचार से तो 'प्रकृतिः जनता ततः आगतम् प्राकृतम्' व्युत्पत्ति उचित है।

इस सम्बन्ध मे पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे लिखते है—

"हिन्दुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा मे मिलता है उसे सस्कृत कहते है, परन्तु जैसा कि उसका नाम ही दिखाता हैं, वह आर्यों की मूल भाषा नही है। वह मंजी छँटी सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'सस्कृत' हुई यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गगा की नहर है, नरौरे के बाँध से उसमे सारा जल खींच लिया गया है, उसके किनारे सम है, किनारो पर हरियाली और वृक्ष है, प्रवाह नियमित है। टेढे-मेढ़े किनारों वाली छोटी बड़ी पथरीली रेतीली नदियों का पानी मोड कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह अविच्छिन्न रखने के लिये कैसा कुछ आन्दोलन मचाया या नही मचाया, यह हम नही जान सकते। सदा इस सस्कृत नहर को देखते देखते हम असस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छन्द होकर समतल और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़ कर जल—स्वभाव से कही टेढ़ा, कही सीधा, कही गंदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली कही रेतीली भूमि पर और कही पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है। नहर प्रकृति है और नदी विकृति।[1]

गौडवहो काव्य के यशस्वी प्रणेता वाक्पतिराज के अनुसार जिस प्रकार सब प्रकार के जल समुद्र से निकलते हैं और समुद्र में ही जा मिलते हैं उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत से निकलती हैं और प्राकृत में ही समा जाती हैं। यह काव्य की भाषा है। शब्द शास्त्र की भाषा में हम कह सकते हैं कि वाक्पतिराज का मत है 'प्रकृत्या सिद्धं प्राकृतम्'। हेमचन्द्र आदि आचार्यों का मस्तिष्क संस्कृत से अभिभूत था। अतः उन्होंने संस्कृत को ही प्राकृत की प्रकृति (मूल) माना। प्राकृत का अध्ययन उन्होंने संस्कृत के माध्यम से किया था क्योंकि उस समय तक प्राकृत लोक-भाषा न रह गयी थी और शिष्टजन में अधिकतर संस्कृत की ही प्रतिष्ठा थी।

1. पुरानी हिन्दी, पृष्ठ १।

जितने भी प्राकृत व्याकरण उस समय उपलब्ध थे वे सभी संस्कृत को ही प्राकृत का मूल आधार मान कर चले थे। वस्तुतः प्रकृति शब्द प्रजा की स्वतः विकसित होती हुई भाषा के लिये ही समीचीन कहा जा सकता है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि प्राकृत में संस्कृत के तत्सम शब्द बहुत कम प्रयुक्त हुए है जबकि वैदिक भाषा के अनेकानेक शब्द मिलते है। यद्यपि प्राकृत का व्याकरण संस्कृत व्याकरण से प्रभावित है तथापि शब्दावली, उच्चारण आदि की दृष्टि से यह भाषा वैदिक भाषा के ही अधिक निकट है। कुछ उदाहरणो से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

(१) प्राकृत में वैदिक भाषा के ही समान प्रथमा के एक वचन का प्रयोग ओकारान्त् होता है जैसे—

**जुषाणो अग्निराज्यस्य, ऋषीणां पुत्रो अधिराज एव** (वैदिक)

**देवो वस्सति ताववेव सो गओ** (प्राकृत)

(२) प्राकृत में द्विवचन नहीं होता। सर्वत्र अनेक वचन ही होता है। वैदिक भाषा मे द्विवचन होता है किन्तु बहुत से स्थलों में उसके रूप बहुवचन के समान आकारान्त देखे जाते है जैसे—या सुरथा रथोत्तमा दिविस्पृशा अश्विना। सम्भवत यही प्रवृत्ति प्राकृत के द्विवचन-लोप के लिये उत्तरदायी है।

(३) वैदिक काव्यों में तृतीया के बहु वचन में पूर्वेभिः, देवेभिः आदि रूप मिलते है। प्राकृत मे केवल 'भ' के स्थान में 'ह्' हो जाता है। एकार ज्यों का त्यों सुरक्षित रहा जैसे—देवेहि गम्भीरेहि आदि।

(४) पञ्चमी के एक वचन मे वैदिक भाषा में नीचा, उच्चा, पश्चा जैसे प्रयोग मिलते है जो प्राकृत भाषा मे भी देखे जाते है। कहीं-कहीं अति स्वल्प परिवर्तन अवश्य हुआ है।

(५) संस्कृत में पूर्वकालिक क्रिया का एक त्वा प्रत्यय ही रह गया। य (ल्यप्) का प्रयोग भी अत्यन्त सीमित है किन्तु प्राकृत मे वैदिक भाषा के त्वाय और त्वान भी स्वतन्त्रता के साथ प्रविष्ट हो गये।

(६) वैदिक भाषा में चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान थे। पाणिनि का **चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि** सूत्र इसी का द्योतक है। प्राकृत मे भी **सर्वत्र षष्ठीवच्चतुर्थ्याः** सूत्र षष्ठी और चतुर्थी में समान रूप का विधान करता है।

## प्राकृत का महत्त्व

ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में प्राकृत रचनाओं का प्राधान्य रहा जब कि इस युग की संस्कृत रचनाएँ बहुत ही कम मिलती हैं। इसके आधार पर मैक्समूलर ने भ्रान्तिवश ईसा के आस-पास की कुछ शताब्दियों में संस्कृत में काव्य रचना का सर्वथा निरोध मानकर प्राकृत में ही कविकर्म प्रवृत्त मान लिया, यहाँ तक कि उनके गृहीतोज्झित मत के अनुसार रामायण और महाभारत का प्रणयन

भी मूलतः प्राकृत में ही हुआ और तत्पश्चात् वे संस्कृत में अनूदित हुए। अपनी अविचारितता के कारण सर्वथा अमान्य होता हुआ भी यह सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है। वह यह कि उस युग में प्राकृत में रचनाओं का प्राधान्य अवश्य रहा। इतना ही नहीं शृंगार वर्णन के लिये उसे अधिक उपयुक्त भी माना जाता रहा। उसके माधुर्य पर कवि लोग लट्टू थे, मानो उनकी दृष्टि में शृङ्गार के अधिष्ठातृदेव मदन की केलिभूमि यही भाषा थी इसीलिये उन्होंने सगर्व घोषणा की—

> अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।
> कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहँ न लज्जन्ति ॥ (गा० स०)

जो लोग प्राकृत काव्यामृत को पढना और सुनना नही जानते और काम की तत्त्व चिन्ता करते हैं वे लज्जित क्यो नही होते।

प्राकृत के कवियों ने अपने घर मे बैठ कर प्राकृत के गीत गाये हो, यह बात नही, अपितु संस्कृत के आचार्य और रस-सिद्ध कवियो ने भी शृङ्गारिक वर्णन के लिये प्राकृत के एकान्त उत्कर्ष एवं उपयुक्तता को स्वीकार किया है। राजशेखर जैसे विवेकी विवेचक ने भी संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत को मधुर माना है उनके अनुसार पुरुष और महिला में सुकुमारता की दृष्टि से जितना अन्तर है उतना ही सस्कृत प्राकृत मे।[2] वज्जालग्ग के यशस्वी सकलयिता ने भी ललित मधुर, युवति-जन-वल्लभ, शृंगारमय प्राकृत काव्य के होते हुए सस्कृत के पढने को व्यर्थ बताया है।[3] इसी प्रकार आर्यासप्तशती के प्रणेता आचार्य गोवर्धन ने भी शृंगारिक रचनाओं मे प्राकृत का महत्त्व स्वीकार किया है।

## विभिन्न प्राकृतें—

ग्रियर्सन ने प्राकृत भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए वैदिक काल एवं उससे पहले की जन-भाषाओं को प्रथम प्राकृत कहा है और बुद्ध के अविर्भाव काल से लेकर ईसा की दसवीं शताब्दी तक की भाषाओ को द्वितीय प्राकृत का नाम दिया है। प्रथम प्राकृतों का काल उन्होंने ईसा से २००० हजार वर्ष पहले से ६०० वर्ष ईसा पूर्व तक माना है और दूसरी प्राकृतों का ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की दशम शताब्दी पर्यन्त।[4] वस्तुतः कालक्रम की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं के तीन वर्ग किए जा सकते है। (१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वर्ग, (२) मध्य-कालीन-भारतीय आर्य भाषा-वर्ग और (३) आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा वर्ग।

1. गाथा सप्तशती, १—२।
2. परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो।
   पुरुसमहिलाण जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तियमिमाणं ॥ (कर्पूर मञ्जरी)
3. ललिए महुरक्खए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे।
   सन्ते पाइअकव्वे को सक्कइ सक्कअं पढिउं ॥ (वज्जा लग्गम् २६)
4. लिंग्विष्टिक सर्वे आफ इण्डिया, पृष्ठ १२१।

पहले दो वर्गों में क्रमशः ग्रियर्सन की प्रथम और द्वितीय प्राकृतें आ जाती हैं और तीसरे में हिन्दी आदि आधुनिक भाषाएं।

भारतीय आर्यों की प्राचीन भाषा का सब से पुराना साहित्यिक उदाहरण ऋग्वेद है। जिसमें कुछ ऋचाएँ ऐसी हैं जिनकी भाषा बहुत प्राञ्जल और प्रौढ़ है। कुछ ऋचाओं की भाषा अपेक्षाकृत सरल और सुबोध है। जिस भाषा में वेद उपलब्ध है वह तत्कालीन शिष्ट लोगों की भाषा थी। इस साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त एक या अधिक विभाषाएँ भी थी।[1] एक ही शब्द के अनेक रूपों का प्रयोग जैसे गत्वा, गत्वाय, गत्वी) विभाषा-भेद की इस कल्पना की पुष्टि करता है। आर्यों के साथ-साथ उनकी भाषा भी उत्तर पश्चिम प्रदेश से धीरे-धीरे पूर्व की ओर फैली और प्रदेश, काल तथा आदिम जातियों के उच्चारण-भेद के कारण बुद्ध के समय तक इसके उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य, ये तीन रूप स्पष्टतया प्रतिष्ठित हो चुके थे।

उदीच्य (पेशावर प्रदेश तथा उत्तरी पंजाब की) भाषा में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। या यूं कहिये कि प्राचीन रूढ़ि और आर्य भाषा की परम्परा इस प्रदेश में चिर-काल तक प्रचलित रही। इसीलिए ब्राह्मण ग्रंथों में उदीच्य भाषा की शुद्धता की बड़ी प्रशंसा की गई है :—

**तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुं यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति।**[2]

अर्थात् उदीच्य दिशा में ही प्रज्ञाततर (सुष्ठु ज्ञात) वाणी बोली जाती है। लोग भाषा का अध्ययन करने वहीं जाते हैं अथवा जो वहाँ से आता है उसकी भाषा सुनना चाहते हैं।

प्राच्य-भाषा-भाषी वैदिक मर्यादा और ब्राह्मणों की सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था पालन न करने के कारण व्रात्य (सावित्रीभ्रष्ट) कहे जाते थे। इन लोगों तथा इनकी भाषा की निन्दा की गई है और कहा गया है कि ये अकठिन वाक्य को भी कठिन समझते हैं और अदीक्षित होते हुए भी दीक्षितों की वाणी बोलते है—

**अदुरुक्त-वाक्यं दुरुक्तमाहुः। अदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति।**[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राच्य लोग उदीच्यों की भाषा का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते थे जिसके कारण अनेक ध्वनि-परिवर्तन हुए जिन में मुख-सुविधा के कारण संयुक्त व्यञ्जनों का समीकरण प्रमुख रहा होगा। समस्त पद्यों का उच्चारण भी वे भली प्रकार नहीं कर पाते होंगे। इसलिये उनकी बोली समीकृत संयुक्त-

1. इंडो आर्यन एण्ड हिन्दी, पृष्ठ ४७ (डा० सुनीतिकुमार चटर्जी) तथा मैक्डानल, हिष्ट्री ऑब् संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २४।
2. शांखायन-कौशीतकी ७।६।
3. ताण्ड्य-पञ्चविंश ब्राह्मण १७-४।

व्यञ्जनों की प्रचुरता और समस्त पदों के यथा संभव कम प्रयोग के कारण उदीच्य बोली से अधिकाधिक भिन्न होती चली गई होगी। अर्थात् प्राकृत भाषा के लक्षण प्राच्य विभाषा में पहले और तेजी के साथ प्रकट हुए होंगे। मध्यदेशीय बोली मे कुछ-कुछ दोनों ही ओर की विशेषताएँ रही। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि उदीच्या और प्राच्या में व्यञ्जन समीकरण के अतिरिक्त 'र' और 'ल' के उच्चारण में भी भेद था उदीच्या में 'र' का प्रयोग प्रचुर था किन्तु प्राच्या में 'र' के स्थान पर प्राय: 'ल' हो जाता है (राजा = लाजा)। र और क के पश्चात् दन्त्य वर्ण के स्थान में मूर्धन्य हो जाने की प्रवृत्ति भी दीख पड़ने लगी थी। वैदिक भाषा के कृत, अर्थ और अर्ध प्राच्या में कट, अट्ठ, अड्ढ हो गये थे और मध्यदेशीया में कत अथवा कित, अत्थ और अद्ध जबकि उदीच्य भाषा में वे शुद्ध रूप मे ही रहे।[1] पारस्परिक सम्बन्ध के कारण प्राच्या के कुछ शब्द (विकट = विकृत, निकट = निकृत आदि) उदीच्या में भी प्रवेश पा गए।

इन विविध परिवर्तनों के विभिन्न कारणों मे से प्रमुख कारण उन आदि-वासियों का प्रभाव था जो आर्यो के ही समाज में मिल गए थे और विजेताओं की भाषा को अपना रहे थे। ध्वनि विषयक परिवर्तनों के अतिरिक्त अपनी बोली के शब्द भी उन्होंने आर्य भाषा में मिलाए। बुद्ध काल तक आते आते प्राचीन आर्य-भाषाओं (प्रथम प्राकृतों) के जो स्वरूप बने डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने उनका निर्देश इस प्रकार किया है—

(१) उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य रूप मे विकसित विभाषाएँ।

(२) वैदिक सूक्तों की प्राचीन भाषा छान्दस जिस का स्वाध्याय अभी तक ब्राह्मणों में चल रहा था।

(३) छान्दस भाषा के नवीन रूप तथा उदीच्य भाषा के प्राचीन रूप से विकसित भाषा जिसमें मध्यदेशीय और प्राच्य विभाषाओं के तत्त्व भी मिल गए थे। ब्राह्मणों के परस्पर व्यवहार और शिष्ट लोगों की भाषा यही थी। इसी में वैदिक ग्रन्थों के भाष्य लिखे गए।

ई० पू० की छठी शताब्दी में महावीर और गौतम बुद्ध ने बोल चाल की भाषाओं को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया जिसके कारण प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक विकास का श्रीगणेश हुआ। यही से भारतीय आर्य भाषाओं का मध्य युग भी प्रारम्भ होता है। बुद्ध के समय में प्राच्या भाषा वैदिक छान्दस तथा उसके नवीन विकसित रूप से इतनी भिन्न हो गयी थी कि उदीच्य व्यक्ति के लिए उसे समझना कठिन कार्य था। ब्राह्मणों ने अपने विचारों का प्रचार छान्दस भाषा में ही करना उचित समझा क्योंकि उनका प्रभाव रूढ़िप्रिय जन-समाज पर ही अधिक था, किन्तु धार्मिक क्रान्ति के साथ-साथ अज्ञात रूप में जो भाषा-विषयक क्रान्ति

2. इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी, पृष्ठ ५७।

स्वतः चल रही थी उसका प्रभाव ब्राह्मणों पर भी पड़ा। उन्होंने वैदिक भाषा को आधार मान कर उदीच्य प्रदेश में प्रचलित जन भाषा का आश्रय लिया जो छान्दस भाषा से इतनी अधिक भिन्न नहीं थी जितनी अन्य विभाषाएँ। इसी लौकिक भाषा को पाणिनि ने सस्कृत रूप दिया। तत्कालीन बोलियों के शब्दों और मुहावरों के प्रभाव से यह भाषा भी सर्वथा शून्य नहीं थी।

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने विकासक्रम के अनुसार मध्य कालीन आर्य भाषाओं की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है :—

१. प्रारम्भिक अवस्था (४०० ई० पू० से १०० ई० तक)

२. मध्यकालीन अवस्था (१०० ई० से ५०० ई० तक)

३. उत्तर कालीन अवस्था (५०० ई० से १००० ई० तक)

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की प्रारम्भिक अवस्था में द्विवचन और आत्मनेपद का ह्रास हो गया था विभक्तियों मे षष्ठी और चतुर्थी के रूप एक से हो गए थे, सर्वनाम के पर प्रत्ययों का प्रयोग संज्ञा के साथ भी किया जाने लगा था। क्रिया के लकारों में लृट्, लिट्, लङ् और लृङ् के रूपों का लोप और विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ् का प्रायः एकीकरण हो गया था। गुण-भेद से उत्पन्न क्रिया-रूपों की जटिलता और व्यञ्जनान्त संज्ञा रूपों की बहुलता कम हो गई। स्वरों में ऐ, औ, ऋ और लृ का लोप हो गया। विसर्ग का अभाव, व्यञ्जनों का समीकरण, संयुक्ताक्षरों का बहिष्कार और अनेक स्वरों का साथ-साथ प्रयोग होने लगा था।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं (द्वितीय प्राकृतों) की प्रारम्भिक अवस्था मे पालि, अशोक के शिलालेखों की प्राकृत और जैन सूत्रों की अर्धमागधी आती हैं।

## पालि

बौद्धों के धार्मिक साहित्य की भाषा पालि कहलाई। वस्तुतः पालि शब्द बौद्ध धर्म जितना पुराना नही है वह अपेक्षाकृत आधुनिक है। ईसा की ६ठी ७वीं शताब्दी से पहले पालि शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। महावंश में बाद में जोड़े गये अंश चूलवंश के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में पालि शब्द बौद्धों के मूल सिद्धान्त-ग्रन्थ के लिये उपयुक्त होता था। उसमें लिखा है—

**पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध।**

अर्थात् केवल पालि ही (सीलोन से) यहाँ लाई गई है, भाष्य अथवा टीका नहीं।[1] उनके भाष्यों में भी पालि शब्द का प्रयोग ठीक इसी अर्थ में हुआ है। उदाहरणार्थ विसुद्धिमग्ग मे लिखा है। **इदं सब्बाकारेन नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं केवलं आचरियमतानुसारेन वुत्तत्ता न सारतो पच्चेतब्बं।**[2] अर्थात् यह न

1. देखिये, बा० सी० ला०, हिस्ट्री आफ पालिलिटरेचर की प्रस्तावना।

2. विसुद्धिमग्ग, पृष्ठ १०७।

तो पालि मे भ्राया है भ्रौर न भाष्य में भ्राया है, भ्राचार्यमतानुसार कह दिया गया है भ्रतः तत्वतः विश्वसनीय नही। भ्रागे एक स्थान पर फिर लिखा है—'**इमानि ताव पालिय भ्रट्ठकथाय पन भ्रञ्ञानि पि रूपानि भ्राहारित्वा**'।[1] भ्रर्थात् पालि मे ये ही रूप हैं, भ्रन्य रूप टीकाभ्रो में भ्राये है। बुद्धघोष ने भी भ्रपनी 'पुग्गल पञ्ञति' टीका में पालि भ्रौर भ्रट्ठकथा का भेद स्पष्ट किया है।[2] पालि (मूलग्रन्थ) की भाषा को **बौद्ध** टीकाकारो ने मागधी निरुत्ति कहा है जिसे वे मानव की भ्रादि भाषा भी मानते है।[3] बौद्ध भ्राचार्यो की इस मान्यता का कारण कदाचित् यह है कि बुद्ध का प्रचार क्षेत्र भ्रधिकतर मगध का साम्राज्य ही रहा; किन्तु केवल यही तथ्य इस बात का पुष्ट प्रमाण नही कहा जा सकता कि बुद्ध भ्रौर बौद्ध धर्म के मूल ग्रन्थो की भाषा मागधी ही थी क्योंकि न तो बुद्ध स्वय ही मगधवास्तव्य थे भ्रौर न ही वे भ्रपने धर्म को सार्वभौम बनाने के लिये किसी प्रदेश विशेष की भाषा पर ही पूर्णतया निर्भर रह सकते थे। भ्रपने सिद्धान्तो के प्रचार के लिये उन्होने छान्दस भाषा का निषेध कर के जिस माध्यम की संस्तुति की उसे 'सकानिरुत्ति' कहा है। विनय पिटक मे लिखा है—

**न भिक्खवे बुद्धवचनं छान्दसो भ्रारोपेतब्बं ········· भ्रनुजानामि भिक्खवे सकाया निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुनितुं**।[4]

बुद्धघोष ने छान्दस का भ्रर्थ 'सक्कटभासा' (संस्कृत भाषा) किया है भ्रौर सकानिरुत्ति का मागधी भाषा।[5] दोनों ही भ्रर्थ भ्रान्त है। सस्कृत शब्द बुद्ध भ्रौर पाणिनि के बाद का है। पाणिनि ने वेद-भिन्न लोक-प्रचलित भाषा को भाषा भ्रथवा लौकिक भाषा ही कहा है संस्कृत नहीं। 'छान्दस' से पाणिनि का तात्पर्य सर्वत्र वैदिक भाषा रहा है। भ्रतः यदि ईसा से ६०० वर्ष पूर्व बुद्ध ने छान्दस शब्द का प्रयोग किया भी होगा तो उनका तात्पर्य इसी वैदिक भाषा से रहा होगा। छान्दस भाषा का निषेध उन्होने इसलिये किया क्योकि वह एक प्रकार से मृत हो चुकी थी। 'सकानिरुत्ति' मे बुद्ध वचनो का प्रचार करने का भ्रादेश बुद्ध ने जिस प्रसङ्ग में दिया वह यह है—

**तेन खो पन समयेन यमेलुतेकुला नाम भिक्खू द्वे भातिका होन्ति ब्राह्मण जातिका कल्याणवाचा कल्याणवाक्करणा। ते येन भगवा तेन उपसंकमिंसु। उपसंकमित्वा भगवन्तं भ्रभिवादेत्वा एकमन्तं निसिन्ना खो ते भिक्खू भगवन्तं एतद् भ्रवोचन्:—एतरहि भन्ते भिक्खू नानानामा नानागोत्ता नानाजच्चा नानाकुला**

1. वही, पृष्ठ ४५० ।
2. पुग्गल पञ्ञति, पृष्ठ १११।११३ ।
3. विसुद्धिमग्ग, पृष्ठ ४४१।४४२ ।
4. विनय पिटक, चुल्लवग्ग, ५।३३।१, पृष्ठ २३९ ।
5. वेदं विय सक्कट भासाया वाचनामग्गं। एत्थ सकानिरुत्तिनाम सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो। भ्रश्व बुद्धकृत, चुल्लवग्ग की टीका, सिंहली संस्करण, पृष्ठ २६० ।

**पब्बजिता। ते सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं दूसेन्ति। हन्द मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति। विगरहि बुद्धो भगवा कथं हि नाम तुम्हे मोघपुरिसा एवं वक्खत। हन्द मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति।**[1]

अर्थात् उस समय दो भिक्षु, जो भाई-भाई थे और ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे और कल्याणकर वचन कहा करते थे, भगवान् बुद्ध के पास जाकर अभिवादन कर एक ओर बैठ गये और भगवान् बुद्ध से बोले भगवान् प्रव्रज्या लेने वाले भिक्षु लोग विभिन्न नाम, जाति, प्रदेश और कुल वाले है वे सकानिरुत्ति (अपनी-अपनी वाणी) से बुद्ध वचनों को दूषित करते हैं अतः भगवान् हम बुद्ध वचनों को छान्दस भाषा में वद्ध कर दें। इस पर बुद्ध ने उन्हे डाटते हुए कहा मोघ पुरुषों! ऐसा क्यों कहते हो कि बुद्ध वचनों को छान्दस बद्ध कर दे।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बुद्ध के शिष्यों में विभिन्न जातियों, प्रदेशों और गोत्रों के लोग थे जो उनके वचनों को अपनी अपनी भाषा मे जनता तक पहुँचाते थे और बुद्ध ने भी इसके लिये उन्हें अपनी-अपनी बोली का ही आश्रय लेने के लिये प्रोत्साहित किया? सकानिरुत्ति' का प्रयोग अपनी-अपनी भाषा के अर्थ में हुआ है। बुद्ध ने किसी भी जनपद विशेष को अपनाने का विरोध किया है।[2] एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अलग-अलग नाम होते हैं। मनुष्य को तत्तत् प्रदेशों में अपने जनपद में अभिहित नामों का आग्रह न कर उसी प्रदेश विशेष की बोली के शब्दों को अपनाना चाहिये।

*यथा यथा नाम तेषु तेषु जनपदेसु सञ्जानन्ति इदं किर मे आयस्मन्तो संधाय वोहरन्ति ति तथा तथा वोहरति अपरामसं।*[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की सधुक्कडी भाषा के समान बुद्ध की भी अपनी भाषा थी। कबीर ने अपनी बोली को 'पूरबी' कहा है किन्तु उसमें अन्य बोलियो के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में आये हैं इसी प्रकार बुद्ध की भाषा भी मिली-जुली खिचडी भाषा रही होगी वह पूर्ण रूपेण मागधी नही कही जा सकती। वस्तुतः जैसा कि डा० बिमलचरन ला ने लिखा है आजकल हमें जिस भाषा को पालि के नाम से बताया जाता है वह एक सर्वथा भिन्न भाषा है जिसका स्थिरीकरण थेर-वादियों के हाथ में पड़ कर हुआ।[4] इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि लंका, बर्मा और स्याम के इन परम्परावादी आचार्यों ने उन लोगों की निन्दा की है जिन्होंने

---

1. विनयपटिक Vol. II, p. 139.

2. एव खो भिक्खवे जन पद निरुत्तिया च अनभिनिवेसो होति समञ्ञाय च अनतिसारो। जनपदनिरुत्तिं नाभिसे य समञ्ञं नातिधावेय्य (Old Brahmi Insicriptions, Oldenberg p. 169.

3. वही, वही पृष्ठ।

4. Int. to Hist. of Pali. Lit.

बुद्ध के वचनों को लिपिबद्ध करने में तनिक सी भी भाषा विषयक स्वतन्त्रता का आश्रय लिया—

महासंगीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं ।
भिन्दित्वा मूलसंगहं अञ्ञं अकंसु संगहं ॥
अञ्ञं सन्धाय भणितं अञ्ञथ्थं ठापयिंसु ते ।
व्यञ्जनाछायाय ते भिक्खू बहु अथ्थं विनासयुं ॥[1]

अर्थात् महासंगीतिक भिक्षुओं ने (बुद्ध के) शासन को उलटा ही कर दिया। मूल-संग्रह को छिन्न-भिन्न कर उन्होंने अन्य सग्रह किया, अन्य अर्थों की स्थापना की और व्यञ्जना की छाया से अर्थ का नाश ही कर दिया।

पालि शब्द की बड़े-बड़े विद्वानों ने बहुत सी व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की हैं जिनमे से कुछ तो वास्तव में बड़ी ही दिलचस्प है। उन सबकी चर्चा करने के लिए न तो यहाँ स्थान ही है और न अवसर ही। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि बौद्धों का साहित्य आज पालि साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। अशोकी प्राकृत और जैन-सूत्रों की मागधी मे ऐसी कोई उल्लेखनीय रचना नहीं जिसने सस्कृत गीति-साहित्य को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया हो।

मध्यकालीन अवस्था मे प्राकृत भाषाएँ विकास के चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई। सयुक्त व्यञ्जन के स्थान पर व्यञ्जन-समीकरण की प्रवृत्ति तो पहले ही आरम्भ हो गई थी। इस काल मे सयुक्त व्यञ्जनों की संख्या बहुत कम रह गई। 'दो स्वरों के बीच के स्पर्श व्यञ्जन का लोप इस काल की विशेषता है जिसके कारण काकः 'काओ' और नदी 'नई' हो गई। चतुर्थी विभक्ति का लोप हो गया और पंचमी का प्रयोग बहुत सीमित होने लगा। क्रिया रूपो की जटिलता में भी सुधार हुआ। धीरे-धीरे प्राकृत भाषाएँ साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन हुई, उनके भी व्याकरण बने। व्याकरण के आग्रह के कारण उनका विकास भी रुक गया और वे भी सस्कृत की तरह जन-भाषा से दूर-दूरतर होती गई। संस्कृत के शब्दों को प्राकृत का रूप देकर ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्राकृत के साहित्यिकों मे अति-मात्रा में रही इसीलिए बहुत से विद्वान् साहित्यिक प्राकृत भाषा को कृत्रिम भाषा मानते हैं जिस का साहित्य के अतिरिक्त लोक में कहीं भी प्रयोग नहीं होता था![2] गुलेरी जी का कथन है कि 'नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पण्डिताऊ या नकली गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बना कर प्राकृत व्याकरण के नियमों से, त की जगह थ, और क्ष की जगह ख रख कर, साँचे पर जमा कर गढ़ी गई है। वह संस्कृत मुहाविरे का नियमानुसार किया हुआ रूपान्तर है प्राकृत भाषा नहीं।[3]

1. ओल्डन बर्ग द्वारा संपादित दीपवंश, ३२, ३५।
2. काथ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३०।
3. पुरानी हिन्दी, पृष्ठ ४।

'मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा काल में संस्कृत के अतिरिक्त द्राविड और आस्ट्रिक भाषाओं से भी शब्द लेने में संकोच न रहा। इन भाषाओं के प्रभाव के कारण अनेक अनुरणनात्मक शब्द (यथा तडि, तड, मड्ड, फणि, फुप्फुयंतु आदि) इस काल की भाषाओं मे आ गए। संस्कृत भाषा भी इन भाषाओं से प्रभावित हुई, जिससे भट्टारक, नापित, पुत्तलिका आदि शब्द संस्कृत में प्रवेश कर गए।[1]

## साहित्यिक प्राकृत और उनकी विशेषताएँ

प्राकृत के व्याकरणों ने देशभेद से प्राकृत भाषाओं को मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि नाम दिये हैं। मध्यकालीन प्राकृत भाषाओं के विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे पाली, अशोकी प्राकृत और जैन सूत्रों की अर्धमागधी का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। ये भाषाएँ देश भेद से किये गए उक्त वर्गीकरण में किसी एक भाषा मे अन्तर्भूत नही हो सकती। आगे चल कर तो देश भेद से प्राकृतों की संख्या सत्ताईस तक पहुँच गई।[2]

स्पष्ट है कि ये सभी साहित्यिक भाषाएँ नहीं थी। व्याकरणों से केवल महाराष्ट्री शौरसेनी मागधी और पैशाची भाषाओं को ही व्याकृत किया गया है। इनमें भी महाराष्ट्री ही प्रमुख है। प्रकाशकार ने महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों की प्रकृति संस्कृत मानी है और सस्कृत से महाराष्ट्री के रूप-परिवर्तन की व्याख्या ९ परिच्छेदों में की है तथा शौरसेनी की कतिपय निजी विशेषताओं का उल्लेख कर शेष महाराष्ट्रीवत् कह दिया है। मागधी और पैशाची की प्रकृति शौरसेनी मानी है और क्रमशः १४ और १७ सूत्रों मे उनकी विशिष्टताओ का उल्लेख कर शेष शौरसेनीवत् कह दिया है। चण्ड के प्राकृत लक्षण मे तो और भी संक्षिप्तता बरती गई है और अन्य प्राकृतों का वैशिष्ट्य केवल एक-एक सूत्र में ही बतला दिया दिया गया है—यथा,

न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य।
पैशाच्यां रणयोर्लनौ॥
मागध्यां रसयोर्लशौ।
शौरसेन्यां तकारस्य दकारो भवति॥[3]

---

1. डा० हरिवंश कोछड, अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ १५।
2. महाराष्ट्री तथावन्ती शौरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीकी मागधी चैव षडेता दाक्षिणात्यजाः॥
आचडलाटवैदर्भा उपनागरनागरौ।
वार्बरावन्त्यपाञ्चाल टाक्कमालवकैकयाः॥
गौडौढवैवापश्चात्यपाण्ड्यकौन्तल सिंहला।
कालिङ्ग प्राच्य कार्णाट काञ्चद्राविडगौर्जराः॥
आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेदव्यवस्थिताः।
सप्तविंशत्यपभ्रंशा वैडालादिप्रभेदतः॥ (प्राकृत चन्द्रिका)
3. प्राकृत लक्षण ३, ४१-४४।

अर्थात् अपभ्रंश में नीचे के रेफ का लोप नहीं होता। पैशाची में 'र' और 'ण' को क्रमशः 'ल' और 'न' तथा मागधी में 'र' 'स' को 'ल' और 'श' हो जाते हैं। शौरसेनी में लकार का दकार हो जाता है।

महाराष्ट्री प्राकृत को डा० मनमोहन घोष महाराष्ट्र की भाषा न मानकर शौरसेनी के विकास का उत्तरकालीन रूप मानते है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी भी इसी आधार पर इसे शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की अवस्था मानते हैं।[1] स्वय महाराष्ट्री या महाराष्ट्र शब्द भी अपेक्षाकृत नया है। वैसे तो भरत के नाट्यशास्त्र मे महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग मिलता है किन्तु विद्वानो का अनुमान है कि यह स्थल ईसा की पाँचवीं छठी शताब्दी से पुराना नहीं है।[2] जैसा कि आर० जी० भण्डारकर ने लिखा है "प्रतीत होता है कि इससे पूर्व महाराष्ट्र प्रदेश के लिए दण्डकारण्य शब्द का प्रयोग होता था। आज भी महाराष्ट्र ब्राह्मण धार्मिक अनुष्ठानो के संकल्प में अपने देश का नाम दण्डकारण्य देश प्रयोग करते है।[3] सम्भवतः महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग और भी पुराना है क्योंकि दीपवम, महावंस और समन्तपासादिका नामक बौद्ध इतिहास ग्रन्थों में धर्म-प्रचार के लिए अशोक द्वारा विभिन्न देशों में भेजे गए बौद्ध भिक्षुओं की नामावली सुरक्षित हैं जिसमें धम्मरक्खित स्थविर के महारट्ट देश में भेजे जाने का उल्लेख है।[4] स्पष्ट है कि महारट्ठ महाराष्ट्र का ही पालिरूप है। दीपवंस का रचनाकाल ३५२ ई० और ४५० ई० के बीच में माना जाता हैं।[5] हो सकता है महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग दीपवंस से भी पुराना हो।

महाराष्ट्र और महाराष्ट्री शब्दों का प्रयोग चाहे जब से होने लगा हो किन्तु जिस देश और भाषा के लिये इनका प्रयोग हुआ वे पहले से ही मौजूद अवश्य थे। महाराष्ट्री का भी महाराष्ट्र से सम्बन्ध अवश्य था और सम्भवतः वह वहीं पनपी थी। दण्डी ने स्पष्ट लिखा है कि 'महाराष्ट्र की भाषा महाराष्ट्री प्राकृतों में श्रेष्ठ मानी गई है। सेतुबन्ध आदि काव्यों की रचना इसी भाषा में हुई।[6]

परम्परा के अनुसार कविता के लिये महाराष्ट्री और गद्य के लिये शौरसेनी प्राकृत उपयुक्त समझी गई। नाटकों में उच्च वर्ग के पात्र गद्य में तो शौरसेनी का प्रयोग करते हैं किन्तु पद्य में महाराष्ट्री का। गाथासप्तशती, गौड वहो आदि काव्यों की रचना महाराष्ट्री में ही हुई। राजशेखर की कर्पूर मञ्जरी शौरसेनी में है। मागधी नाटको में निम्न वर्ग के पात्रों और शकार आदि की भाषा मानी और

1. इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी पृष्ठ ८६।
2. डा० दिनेशचन्द्र सरकार, ए ग्रामर आफ प्राकृत, पृष्ठ ४।
3. दी अर्ली हिस्ट्री आफ दी डेकन, पृष्ठ ८।
4. दीपवस परिच्छेद ८, महावंस ५।२८०, १२।१-२।
5. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५४६।
6. महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
   सागरः सूक्तिरत्नाना सेतुबन्धादि यन्मयम्। काव्यादर्श

व्यवहृत की गई है । मागधी में साहित्य नहीं मिलता । इसका प्रयोग नाटकों और व्याकरणों में ही सीमित है ।[1]

## महाराष्ट्री—

दो स्वरों के बीच के अल्पप्राण स्पर्शवर्ण का लोप और महाप्राण का 'ह' हो जाना महाराष्ट्री की प्रमुख विशेषता है । यथा-गच्छति=गच्छइ, यथा=जहाँ, जलदः=जलओ, क्रोधः=कोहो ।

## मागधी—

मागधी की प्रमुख विशेषताएँ ये है—

(१) संस्कृत के ऊष्म वर्णों के स्थान पर श् का प्रयोग देखा जाता है जैसे सप्त=शत्त ।

(२) र् के स्थान में 'ल्' का प्रयोग होता है जैसे राजा=लाजा ।

(३) अन्य प्राकृतों में य् ज् का रूप धारण कर लेता है किन्तु मागधी में य् ही रहता है । जैसे संस्कृत का यथा महाराष्ट्री मे जहा हो जाता है किन्तु मागधी मे यधा । इसी प्रकार जानाति=याणदि, अद्य=अय्य ।

(४) ण्य के स्थान मे ञ्ञ का प्रयोग होता है जैसे पुण्य=पुञ्ञ ।

(५) अकारान्त प्रातिपदिक शब्दों की प्रथमा विभक्ति का रूप अन्य प्राकृतों मे तो ओकारान्त होता है किन्तु मागधी मे एकारान्त ।

## अर्धमागधी—

शौरसेनी और मागधी प्रदेशो के बीच की भाषा, जिसमें दोनो की ही विशेषताएँ पाई जाती है, अर्धमागधी कहलाती है । जैनों का धार्मिक साहित्य इसी भाषा में है । इसमे मागधी के समान अकारान्त सज्ञा का प्रथमा विभक्ति का रूप एकारान्त होता है ।

कही-कही र् के स्थान पर ल् भी देखा जाता है किन्तु मागधी के समान ही यह शकारबहुला नही है । इसमें स् का प्रयोग होता है ।

## शौरसेनी—

नाटकों मे उच्च वर्ग के स्त्री पात्रों द्वारा शौरसेनी का प्रयोग किया जाता है । यह भारत के विस्तृत भूभाग मे प्रयुक्त होती रही थी और अब इसी की तीसरी पीढ़ी की हिन्दी राष्ट्र भाषा का स्थान लिये हुए है । इसमें दो स्वरों के बीच के संस्कृत त और थ क्रमशः द् और ध् हो जाते हैं । दो स्वरों के बीच में स्थित द् और ध् में कोई परिवर्तन नहीं होता । जैसे गच्छति=गच्छदि, यथा=जधा, जलदः=जलदो, क्रोधः=कोधो आदि ।

---

1. इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी, पृ० २६६ ।

## प्राकृत भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव

प्राकृत भाषाओं का विश्लेषण करने पर हमें तीन प्रकार के शब्द मिलते हैं। तत्सम, तद्भव और देशज। तत्सम संस्कृत के ही अविकृत शब्द हैं। तद्भव शब्दों का कारण ध्वनि विकार है। देशज शब्द विभिन्न समयों पर विभिन्न जातियों की बोली के मिश्रण का परिणाम कहे जा सकते हैं। इस प्रकार लक्ष्य करने पर प्राकृत भाषा के स्वरूप निर्माण में भारत की मूल जाति—से जिसे हम द्रविड कहते हैं—लेकर यवन, शक, पर्थियन, कुषाण, पल्लव, आमीर आदि जातियों तक का योग स्पष्ट दीख पडता है। अन्य जातियों का प्रभाव भाषा तक ही सीमित नहीं रहा करता, संस्कृति और साहित्य पर भी पडता है। भारतीय भाषा और संस्कृति भी इसके अपवाद नहीं है। महाराष्ट्री प्राकृत इसी लिए अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई क्योंकि उसके विकास मे अन्य जातियों की सांस्कृतिक एवं सामाजिक परम्पराओं का संस्पर्श अपेक्षाकृत अधिक था जिसके कारण उसके साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ और उसके माध्यम से वे प्रवृत्तियाँ संस्कृत साहित्य के सुरम्य उपवन में भी सविलास विहार करने लगीं इस दिशा में आभीर जाति का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आभीरों का आगमन भारतवर्ष मे शकों के आगमन के आस-पास ही हुआ। पुराणों में आभीरों को सातवाहनों का उत्तराधिकारी बताया है। यद्यपि मध्य भारत में झाँसी और भेलसा के मध्य अहीरवार तक आभीरों की बस्तियों का पता चलता है तथापि उनका सम्बन्ध अपरान्त—भारत के पश्चिमी प्रदेश—से जोडा जाता है। महाभारत में अपरान्त प्रदेश के अतिरिक्त उन्हे विनशन (जहाँ सरस्वती नदी लुप्त होती है—आधुनिक कुरुक्षेत्र) क्षेत्र में बसे हुए बताया गया है। पतञ्जलि के महाभाष्य में आभीरों का शूद्रों के साथ उल्लेख हुआ है। पुराणों में आभीरों का राज्य दक्षिणी भारत के उत्तर पश्चिम भाग में बताया गया है।[1] उत्तरी काठियावाड में स्थित गुन्द नामक स्थान में उपलब्ध रुद्रसिह प्रथम के ईसवीय सन् १८१ के शिलालेख में आभीरों के शक सेनापति होने का उल्लेख मिलता है।[2] नासिक में ईश्वरसेन नामक आभीर राजा का उसके राजकाल के ६ वे वर्ष का शिलालेख मिला है। ईश्वरसेन का राज्यारोहण आर० जी० भण्डारकर ने सन् १६० के आस-पास माना है। हो सकता है कि यही आभीर राजा सातवाहन वंश का उत्तराधिकारी रहा हो। कुछ भी हो, इन तथ्यों से इस बात का पता चलता है कि आभीरों का सम्पर्क मध्यदेश, पश्चिमी और दक्षिणी भारत के एक बडे भूभाग से रहा।[3] आभीर जाति का जीवन-दर्शन रागात्मक था। ऐहिकता के प्रति वह जागरूक थी और पर्याप्त मात्रा में

1. एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ २२१।

2. वही।

3. पश्चिमी मध्य और दक्षिणी भारत में आभीरों की बहुत सी बस्तियाँ थी। आभीरों का सबसे महत्वपूर्ण वर्ग उत्तरी कोंकण तथा मराठा देश से सम्बद्ध प्रदेशों में बसा था।
एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १६० टिप्पणी।

जागरूक थी। नित्य प्रति के जीवन के प्रति उसे मोह था और परलोक की चिन्ता से उसकी चेतना निर्मुक्त थी। उसकी साधना का स्वरूप भी इतना ही सरस था जितना गृहस्थ जीवन के प्रति दृष्टिकोण। राधा उनकी उपास्य देवी थी और कृष्ण का गोप रूप उनका सर्वस्व था। आभीरों के ऐहिकतापूर्णक जीवन का प्रभाव, भारतीय आर्यों के जीवन पर भी पडा और लौकिक प्रेम के प्रति उनका भी कुतूहल जागरित हुआ। यह प्रवृत्ति जन-साधारण में सबसे पहले विकसित हुई होगी क्योंकि साधारण बुद्धि दार्शनिक विचारधारा अथवा आत्म-चिन्तन के बन्धनों को स्वीकार करने में तत्परता नही दिखाती, विशेषतया उस समय जबकि सजीव जीवन के चपल एव क्रियाशील चित्र अपनी पूरी रगीनी मे हँस हँस कर उसकी ओर देख रहे हो। लोक जीवन में व्याप्त होकर यह नवीन चेतना साहित्य के क्षेत्र में भी स्फुरित हुई। मागधी भाषा बौद्धों और जैनों के गम्भीर आचार-प्रधान उपदेशों के गौरव-पूर्ण भार को वहन कर रही थी। उसके कवि प्रायः धार्मिक आचार्य ही थे। और उसका क्षेत्र भी इस पुनर्जागरण क्षेत्र से दूर था, सस्कृत ब्राह्मण धर्म की धार्मिक भाषा भी थी, उस ब्राह्मण धर्म की जिसके विरोध मे बौद्ध और जैन धर्म नैतिक आचार की ध्वनि ऊँची करते हुए उठ खड़े हुए थे। उधर ब्राह्मण धर्म स्वयं भी स्मृतियों के बन्धन मे बन्धा हुआ था। उन्मुक्त प्रेम जैसी कोई भी वस्तु समाज को सह्य नही थी। गान्धर्व विवाह का विधान अवश्य ही हमारे इस कथन के विरुद्ध स्थापना कर सकता है किन्तु वास्तविकता यह है कि शिष्ट कहे जाने वाले जन वर्ग की परम्पराएँ बड़ी ही कठोर थी। इसलिए संस्कृत का व्यक्ति भी इस ओर से उदासीन था। यही कारण है कि कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह का प्रायश्चित पश्चात्ताप और वियोग की अग्नि मे जल कर करना पड़ा। अस्तु, आभीरों के प्रभाव से ऐहिकता की वृद्धि हुई जिसका प्रभाव पहले साधारण जनता पर पड़ा। धीरे-धीरे वह समाज की सामान्य वस्तु बन गयी तो क्रमशः लोक-कवियों और शिष्ट कवियों द्वारा वह अनायास ही स्वाभाविक रूप से साहित्य में भी समाविष्ट हो गई। धीरे-धीरे प्राकृत मे शृङ्गारिक रचनाओं का बाहुल्य होने के कारण लोगो मे यह धारणा बद्ध-मूल हो चली कि शृङ्गारिक काव्य की रचना के लिये यही भाषा उपयुक्त है। गुप्त काल में संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ और सस्कृत के मुक्तककारों, महाकाव्यकारों और नाटककारों की एक परम्परा पूरे वेग के साथ निकली और जैन तथा बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ-साथ सिमटती हुई प्राकृत भाषा धर्म निरपेक्ष साहित्य मे केवल नाटकों, स्त्रीपात्रों, विदूषकों और अधम पात्रों के सम्भाषणों में ही सीमित रह गई। परवर्ती छुटपुट रचनाएं अपवाद स्वरूप ही हैं।

## प्राकृत की शृङ्गारोपयोगिता

इतना सब कुछ हो जाने पर भी साहित्यकारों के हृदय पर प्राकृत के महत्त्व का जो संस्कार रूढ हो चुका था वह बहुत दिनों तक रहा। यहाँ तक कि १२वीं

शती के प्रथम चरण में वर्तमान गोवर्धनाचार्य ने भी शृङ्गारिक रचना को प्राकृत समुचित रसा[5] वाणी कहा है।[1] इसमें सन्देह नहीं प्राकृत में प्रेम विषयक कविताओं के उत्कृष्ट नमूने प्रचुरमात्रा मे मिलते है रूद्रट, मम्मट वाग्भट, विश्वनाथ आदि साहित्य शास्त्रियों ने सस्कृत मे ध्वनियो के विभिन्न उदाहरण खोजने का आयास स्वीकार न कर प्रायः प्राकृत से ही उदाहरणों का चयन किया है। यह आश्चर्य की बात है कि जिस भाषा में कोमल पदों का सर्वथा अभाव हो वह कविता-वधूटी के शृङ्गारिक भावो के समान कोमल प्रेम भावना को व्यक्त करने के लिये सस्कृत भाषा से अधिक उपयुक्त समझी जाये। प्राकृत भाषा में टवर्ग और संयुक्ताक्षरो का बाहुल्य है जो सभी आचार्यों के अनुसार शृगार मे आधेय विशिष्ट गुण माधुर्य के विरुद्ध पड़ता है।[2] गाथा सप्तशती से ही एक उदाहरण लीजिए और सस्कृत छाया से उसकी तुलना कीजिए—

**अण्णह ण तीरइ च्चिअ परिवड्ढन्तगरुअं पिअअमस्स ।[2]**
**मरणविणोएण विणा विरमाएउं विरहदुक्खं ।।[3]**
*अन्यथा न शक्यत एव परिवर्धमानगुरुकं प्रियतमस्य ।*
*मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥*

प्राकृत मे तवर्ग और टवर्ग और असंयुक्त अक्षर को बलात् सयुक्त अक्षर हो जाता है जैसे—दाहः=डाहो, प्रथमः=पढमो, वर्तते=वट्टदि, व्रजति=बज्जति, एकः=एक्को आदि।

शृङ्गार में वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्गों से घटित पदों का अधिक प्रयोग वर्जित है किन्तु प्राकृत मे वर्ग के प्रथम अक्षर का भी द्वितीय हो जाता है जैसे विस्तरः=वित्थरो, अक्षरः=अक्खरो आदि। साराश यह है कि सस्कृत के कोमल शब्द भी प्राकृत में आकर हठात् कठोर बन जाते है। फिर भी प्राकृत का जादू इस युग तक भी कुछ लोगों पर चढा रहा। पं० कृष्ण बिहारी मिश्र लिखते हैं—

संस्कृत में मीलित वर्णों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है प्राकृत मे यह बात बचाने की चेष्टा की गई है। प्राकृत संस्कृत की अपेक्षा कर्ण मधुर है। यद्यपि पाण्डित्य-प्रभाव से सस्कृत में प्राकृत की अपेक्षा कविता विशेष हुई है, पर प्राकृत की कोमलता उस समय भी स्वीकृत थी, जिस समय संस्कृत में कविता होती थी।[4]

प्राकृत और संस्कृत की पदावलि की तुलना करने पर जिसका नमूना ऊपर

1 आर्या सप्तशती १।५२।
2. मूर्ध्नि वर्गान्तगाः स्पर्शाः अटवर्गा रणौ लघू (मम्मट)।
'उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह' (विश्वनाथ)।
टवर्ग वर्जितानां वर्णानां प्रथमतृतीयैः शर्भिरन्तःस्थैश्च घटिता ॥ पण्डितराज
3. गाथा० ४।४६।
4. देव और बिहारी, पञ्चम संस्करण, पृष्ठ २०।

दिया जा चुका है, वास्तविकता कुछ और ही प्रतीत होती है किन्तु गतानुगतिको लोकः को क्या किया जाये ?

तो फिर प्राकृत के शृङ्गारोपयोगी होने का रहस्य क्या है ? जैसा कि संकेत किया जा चुका है विशेष परिस्थितियों वश प्राकृत मे शृङ्गारिक रचनाओं की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। प्रारम्भ मे जनता के अनेक कवियों ने इस में प्रेम विषयक कविताएँ की। धीरे-धीरे प्रेम-सम्बन्धी एक विशाल जन-साहित्य एकत्र हो गया। कालान्तर मे जब प्राकृत को साहित्यिक भाषा का पद मिला तो यह मूल प्रवृत्ति भी उसके साथ लगी ही रही और धीरे-धीरे यह परम्परा बन गई कि शृंगारिक रचनाएँ इसी भाषा मे अधिक सौन्दर्य के साथ की जा सकती है। इस प्रसंग में हमें यह न भूलना चाहिये कि हाल के समय तक प्राय गम्भीर विषय विवेचन की प्रचुरता के कारण सस्कृत मे एक विशेष प्रकार का आभिजात्य-गौरव प्रतिष्ठित हो गया था। शृङ्गारिक कविता की अधिकता उसमें नही थी तथा जो भी रचनाएँ थीं वे शृंगार का उन्मुक्त चित्रण न कर मर्यादित अभिव्यञ्जन प्रस्तुत करती थी जबकि प्राकृत मे उन्मुक्त शृङ्गारमय अनन्त रचनाएँ होती आ रही थी। इसीलिए हाल ने प्राकृत काव्य को अमृत बताया और उसे न सुनने या न पढ़ने वाले को काम की तत्त्व चिन्ता करना लज्जास्पद बताया। बाद में जब कभी किसी भी व्यक्ति ने प्राकृत के इस महत्त्व का उल्लेख किया है तब उसकी दृष्टि में स्वयं हाल का संग्रह ही आदर्श रूप मे विद्यमान रहा है। हाल के बाद की कोई प्राकृत रचना ऐसी प्रसिद्ध नही हुई। संस्कृत और प्राकृत के साहित्य को मिलाकर देखने पर भी अमरुक, जयदेव और गोवर्धन ही शृङ्गारिक क्षेत्र पर छाये हुए मिलते है। हाँ यह निर्विवाद है कि इन कवियो ने भी बहुत कुछ गाथा सप्तशती से भी लिया। गाथा सप्तशती जनकाव्य तो नहीं है[1] किन्तु जन काव्य से उसका सीधा सम्पर्क अवश्य रहा है प्रत्येक वर्ग के दैनिक जीवन का सीधी सादी भाषा में चित्रण तथा प्राकृतिक सुषमा में ग्राम वधुओं की प्रणय-केलियों का वर्णन इसका प्रमाण है। जन काव्य में शृङ्गार वर्णन भी स्पष्ट रूप में होना स्वाभाविक है। यदि पाश्चात्य ढंग की स्वच्छन्दता से अलग देखें तो भारतीय समाज में उच्च वर्ग की अपेक्षा सामान्य जनता मे मनोरंजन का रूप अधिक प्राकृत और निरंकुश रहा है। जिसका अनुभव आजकल भी होलिकोत्सव के अवसर पर किया जा सकता है। इसीलिए भी प्राकृत में शृङ्गारिक कविताओं का आधिक्य और उत्कर्ष सिद्ध होता है जिसके कारण वह ऐसी रचनाओं के लिये उपयुक्त मानी जाने लगी।[2] गाथा सप्तशती के टीकाकार

---

1. But it must not be supposed that. Sattsai is folk Poetry. (Keith HSL pp. 224.)

2. The Maharastri Unquestionably owes its vogue to the out-burst of lyric in that dialect, which has left its traces in the anthology of Hala and latter texts, and which about the period of Kalidas (4th. to 5th century according to Mr. Keith) invaded the epic (*Keith Sanskrit. Drama p. 166.*) See also Veber's Introduction to his edition of Praversen's Setubandha

गङ्गाधर की **अमिम्रं पाउग्रकव्वं** की व्याख्या से भी इस कथन की पुष्टि होती है। उनके अनुसार **श्रृङ्गाररसनिर्भरत्वादमृतमिवामृतं प्राकृतकाव्यम्** भवति।

अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता और मुहावरों की सजीवता किसी भी भाषा के साहित्य में सौन्दर्य की वृद्धि करती हैं और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोकोक्तियां और मुहावरे उस भाषा मे अधिक सरल, प्रचलित और फिट बैठते हैं जो लोक भाषा के अधिक से अधिक निकट हो क्योंकि ये लोक भाषा की ही निधि के रत्न तो होते हैं। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत काव्य में यह विशेषता भी विशेष है। उदाहरण लीजिये—

**श्राम असइ ह्य श्रोसर पइव्वए ण तुह मइलिश्रं गोत्तं।**
**कि उण जणस्स जाग्रव्व चन्दिलं ता ण कामेमो।।** ५।१७

*आम् असत्यो वयमपसर पतिव्रते ते न मलिनितं गोत्रम्।*
*न च कामयामहे किल जनस्य जायेव चन्दिलं तु पुनः॥*
**अन्धकरबदरभाजनमिव** *मम लुठन्ति* **मातरो** *दयितम्।*
*ईर्ष्यन्ति मह्यमेव च लाङ्गूलेभ्यः फणा जाता॥ ३।४० ॥*
**शूर्पं दग्धं चणका न भृष्टा** *स युवातिक्रान्तः।*
*श्वश्रूरपि गृहे कुपिता* **भूतानामिव वादितो वंशः ॥ ६।५७ ॥**

साराश यह है कि भारतीय साहित्य मे ऐहिक जीवन के प्रति रागात्मक प्रवृत्ति, जिसके कारण प्रेम गीतियों का एक अविच्छिन्न परम्परा का विकास द्रुत-गति से सम्भव हो सका, बाह्य जातियो के सम्पर्क का परिणाम मानी जाती है। डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'स्वदेश तथा विदेश के पण्डितों का अनुमान है कि जब आभीर जाति भारत में आकर बस गई और आर्यों की शिक्षा संस्कृति का आभीरों के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ तो भारतीयों के हृदय मे परलोक की चिन्ता से मुक्त नित्य प्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा।[1] दिनकर का कहना है कि भारत मे साहित्य और सस्कृति के सब से सुन्दर फूल तब खिले हैं जब बाहर की कोई धारा आकर हमारी धारा से टकराई है। जब आर्य और अनार्य संस्कृतियाँ आपस मे मिली—हमने वैदिक साहित्य और दो बड़े महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) की रचना की; जब आभीर आए, हमारी कविता में इहलौकिकता की वृद्धि हुई और श्रृङ्गार ने एक नया रंग पकड़ा जिसका प्रमाण हाल की गाथा सप्तशती है।[3] श्री शिवाधारसिंह का यह मत विचारणीय है कि भारतवर्ष में आर्यों

1. रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ १८४।
2. अवन्तिका, अङ्क १, सन् १९५४, पृष्ठ १५२।

ने अपने पशुबल से एक समय द्रविड़ जाति की संस्कृति के बाह्य रूपों को तहस-नहस कर डाला जिसके भग्नावशेष आज भी मोहनजोदड़ो में मिलते हैं। यही नहीं, द्राविड जाति को ठोक पीटकर आर्थिक और सामाजिक चक्र में भी जड़ दिया गया और यह काम कोई तीन हजार वर्ष की तथ कथित समन्वय प्रवृत्ति का परिणाम था। सामाजिक कारा की निबिडतमसाच्छन्न युगपोषित हीनता का प्रथम अधुनाप्राप्य कला-विलास हाल की गाहासत्तसई के रूप में प्रस्फुटित हुआ। कहना न होगा कि गाहासतसई अपने ढंग का प्रथम प्रयास नहीं है। उसके पीछे विशाल साहित्य रहा होगा जो आज अप्राप्त है।[3]

यह सत्य है कि गाहासत्तसई अपने ढंग का प्रथम प्रयास नहीं हो सकता। एक सुदीर्घ परम्परा उसके पीछे रही होगी स्वय हाल ने गाहासत्तसई को एक कोटि गाथाओं में से चुनी हुई ७०० गाथाओं का सकलन कहा है। अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी इस कथन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस प्रकार की प्रचुर रचनाएं उस समय तक हो चुकी थीं—किन्तु गाहासत्तसई को द्रविड जाति की सामाजिक कारा मे निबिडतमसाच्छन्न युगपोषित हीनता का कला-विलास कहने में हमे आपत्ति है। सत्तसई मे आरम्भ से अन्त तक व्याप्त उल्लासमय वातावरण स्वयं उक्त कथन के विरुद्ध एक प्रबल प्रमाण है। किसी दलित जाति की बेबसी का करुण स्वर उसमें कहीं नही सुन पड़ता। समाज के सभी वर्गों का चित्रण गाथा सप्तशती में हुआ है। हाँ, सामान्य वर्ग का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक है। अपने सामाजिक ढाँचे मे आर्यों ने मूल निवासियों को इसी वर्ग में खपा लिया था। परम्परा के अनुसार होलिकोत्सव—जिसमें शृङ्गार का समावेश आर्यों के अन्य पर्वों की तुलना में अधिक है और जो साहित्य में मदनोत्सव के नाम से प्रसिद्ध है—शूद्रों का त्योहार माना जाता है। होली के साथ हिरण्यकशिपु असुर का सम्बन्ध भी जुड़ा है। असुर या दस्यु नाम आर्यों ने भारत की मूल जातियों को ही दिया था। इस प्रकार आर्यों की समाज व्यवस्था में फिट होने पर, सम्भव है, इन जातियों का भी इस शृंगारिक प्रवृत्ति में कुछ योग रहा हो क्योकि आर्य सभ्यता के बहुत से तत्त्व द्रविड़ों की देन हैं। किन्तु यदि शृङ्गार की उन्मुक्त प्रवृत्ति आर्यों को वैदिक काल मे ही द्रविडों से विरासत में मिल गयी थी तो बौद्ध साहित्य से भी पहले उसका प्रभाव लक्षित होना चाहिये। रामायण में प्रेम का जो स्वरूप है वह आर्यों की गम्भीर प्रकृति के अनुरूप ही है। हाँ, महाभारत के आदि पर्व में यौन सम्बन्ध की जिस उच्छृङ्खलता का उल्लेख मिलता है वह सामाजिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था का सूचक है और अतिरंजित भी। उसके प्रक्षिप्त होने की ही अधिक सम्भावना है। ऐसी स्थिति में गाहासत्तसई को पूर्णरूपेण द्रविड जाति के सम्पर्क का परिणाम कैसे कहा जा सकता है ? इतना ही नहीं आभीरों का प्रभाव ही संस्कृत साहित्य में विशेषकर गीति काव्य में शृङ्गारिक प्रवृत्ति का एक मात्र कारण नहीं है। शृङ्गारिक गीतियों

3. साहित्य परीक्षण, पृष्ठ, २१८।

के अस्तित्व का पता पतञ्जलि के महाभाष्य में आये हुए कतिपय उद्धरणों से भी चलता है जिसकी चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। अतः तथ्य यह है कि शृङ्गारिक रचनाओं की जो प्रवृत्ति बीज रूप में पतञ्जलि से पूर्व विद्यमान थी वह आभीरो के सम्पर्क से उचित वातावरण पाकर पनप उठी। आभीर जाति के प्रभाव का अर्थ हम यही लेते है और दिनकर के 'शृङ्गार ने एक नया रग पकड़ा' शब्द भी यही सकेत करते है।

प्राकृत भाषाओं के रूढिग्रस्त हो जाने पर उनका विकास रुक गया किन्तु लोक भाषाएँ बराबर विकसित होती रही। इन मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ की उत्तर कालीन अवस्था को अपभ्रश का नाम दिया गया है। इस काल मे परिवर्तन की गति और भी तीव्र हो गई। व्यञ्जन-समीकरण चरम काष्ठा पर पहुँच गया। ह्रस्व स्वर के स्थान में दीर्घ और दीर्घ के स्थान मे ह्रस्व स्वर के प्रयोग की प्रवृत्ति और दन्त्य वर्णों के स्थान पर मूर्धन्य वर्णो का प्रयोग भी अत्यन्त अधिक हो गया। इस काल में षष्ठी के स्य (प्राकृत स्स) तथा सप्तमी के स्मिन् (प्राकृत स्सि) के स्थान पर ह (तस्सि=तहि) का प्रयोग होने लगा। सुबन्त तथा तिङन्त पदों के प्रत्ययांश के ण, न और म अनुस्वार में परिवर्तित होने लगे (स०देवेन =प्राकृत, देवेण =अपभ्रंश देवें) अकारान्त शब्दों की प्रथमा विभक्ति के एक वचन मे ओकारान्त के स्थान में उकारान्त और एकारान्त के स्थान मे इकारान्त रूपों का व्यवहार होने लगा। संज्ञा रूपो और धातु रूपों की जटिलता और भी कम हो गयी। प्रथमा और द्वितीया के तथा पचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों के रूप एक से हो गए। भूतकाल सूचक विभिन्न लकारों के स्थान में निष्ठान्त प्रयोगों का आरम्भ भी इसी युग में हुआ जो अपने पूर्ण विकसित रूप में आधुनिक भाषाओं में दिखाई पडता है।

दण्डी ने अपभ्रंश को 'आभीरादिगिरः' कहा है। 'आभीरादिगिरः' का यह अर्थ कदापि नही कि यह आभीरों की अपने साथ लाई हुई भाषा है। वास्तव में आभीर या उनके साथी जहाँ-जहाँ गए, उन्होंने तत्तत्स्थानीय प्राकृतों को अपनाया और उसमें निजस्वभावनुसार स्वर या उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन कर दिये। आभीर स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित एवं विकृत या विकसित भाषा को ही अपभ्रंश का नाम दिया गया। कालान्तर में अपभ्रंश में भी साहित्य की सृष्टि हुई और वह भी साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन होकर स्थिर हो गई।

उपर्युक्त मध्यकालीन प्राकृतों के साहित्य का यथावसर जो कुछ प्रभाव संस्कृत गीति-काव्य पर पड़ा उसी की चर्चा इस अध्याय में की जायेगी।

## पाली साहित्य का प्रभाव

बौद्ध धर्म का मूल दुःखवाद है। जीवन के विविध दुःखों को देखकर ही तो

1. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २४।२५।

सिद्धार्थ बुद्ध बनने के लिये गृहत्याग कर गये थे। बौद्ध दर्शन में अर्थ और काम—ऐहिक अभ्युदय—की उपेक्षा की गयी है। उसका लक्ष्य है केवल धर्म और निर्वाण की साधना जिसमें निवृत्ति को ही प्रमुख साधन माना गया है। निवृत्तिपरक होने के कारण बौद्ध धर्म में नैतिक आचारों पर अधिक जोर दिया गया है और उन्हीं का एकान्त निरूपण होने के कारण संगीत नाट्य आदि सामाजिक आचार से विच्छिन्न समझे गये। ऐसी स्थिति मे भाव-प्रधान मनोरंजनात्मक साहित्य को पनपने का अवसर नहीं मिल सकता था, यदि थोड़ी बहुत गुञ्जाइश इस प्रकार के साहित्य के लिए हो सकती थी तो वह केवल धर्म के ही क्षेत्र मे। श्री विमलचरण लॉ ने ठीक ही कहा है कि बौद्ध कवियो के भावोद्‌बोध के दो ही कारण थे—बुद्ध के प्रति पूर्ण आस्था और सांसारिक पदार्थों की नश्वरता।[1] यही कारण है कि समूचा बौद्ध साहित्य एक धार्मिक साहित्य है जिसके अन्तर्गत भाव-प्रधान रचनाएँ भाव (बुद्धविषयक रति) और शान्त रस में ही पर्यवसित हुई हैं।

यद्यपि रागात्मक साहित्य को बौद्ध धर्म से प्रोत्साहन नही मिला तथापि सर्वाधिक रागात्मक काव्यविधा—गीति—के प्रमुख माने जाने वाले तत्त्व (वैयक्तिक चेतना) का काव्यजगत् मे अवतरण सर्व प्रथम बौद्ध साहित्य मे ही दिखाई पड़ा। यो तो आत्म-चेतना का उन्मेष उपनिषद्-युग मे ही हो चुका था किन्तु बौद्धो की आत्मचेतना दूसरे ही प्रकार की थी। उपनिषदों का आत्म-दर्शन जिज्ञासा-प्रेरित था और बौद्धों का दुःखवाद-प्रेरित। जिज्ञासा का पर्यवसान ज्ञान और विज्ञान में होता है और भाव का कविता मे। बौद्ध भिक्षुओं मे प्रायः सभी ऐसे थे जो प्रियविनाश आदि वैयक्तिक दुःख के थपेड़ों से बहकर ही सद्धर्म की शरण आये थे। बुद्ध-शासन का अवलम्ब पाकर उन्हें संतोप और सुख का सांस आया। ससार की नश्वरता का उपदेश पाकर उनके मन मे निर्वेद जगा। बुद्ध की शान्त सरस्वती ने उनकी विषमताओं और कटुताओं को धो डाला। विख्यात थेर और थेरी गाथाएँ ऐसे ही वीतराग बौद्ध भिक्षु भिक्षुणियों के भावोद्गार की अभिव्यजक रचनाएँ हैं। उदाहरणार्थ स्थविर तालपुट की अपने मन के प्रति संबोध उक्तियाँ देखिए :—

**रोपेत्वा रुक्खानि यथा फलेसी मूले तरुं छेतु तमेव इच्छसि।**

**तथूपमं चित्त इद करोसि यं म अनिच्चम्हि चले नियुञ्जसि॥**[2]

हे चित्त! इस अनित्य संसार में मुझे नियुक्त (आसक्त) करके तुम ऐसा ही कार्य कर रहे हो जैसे कोई फलों की इच्छा से वृक्ष लगाकर उसकी जड़ को ही काटना चाहे।

इस भिक्षुक की गाथाएँ समर्थ रामदास के 'मनाचे श्लोक, तुलसी की विनय पत्रिका तथा भक्तप्रवर सूरदास के विनय के पदों की तुलना में रखी जा

1. अश्वघोष, पृष्ठ ३२।
2. थेरगाथा ११२१।

सकती हैं—

सब्बत्थ ते चित्त वचो कतं मया बहूसु जातिसु न मे सि कोपितो।
अज्झत्तसम्भवो कतञ्ञुताय दुक्खे चिरं संसरितं तया कते॥
तवेव हेतू असुरा भवामसे त्वं मूलका नेरयिका भवामसे।
अथो तिरच्छानगतापि एकदा पेतत्तनं वापि तवेव वाहसा॥
त्वञ्ञेव नो चित्त करेसि ब्राह्मणो त्वं खत्तिया राजारिसी करेसि।
वेस्सा च सुद्दा च भवाम एकदा देवत्तनं वापि तवेव वाहसा॥
धी धी परं किं मम चित्त काहसि न ते अलं चित्त वसानुवत्तको।[1]

हे चित्त ! मैंने सर्वत्र तुम्हारी बात मानी। अनेक जन्मों में कभी तुझे कुपित न किया। तू स्वयं मेरे अन्दर से उत्पन्न है। इसलिये हे चित्त ! मैंने कृतज्ञतावश तेरे कारण दुःख में संसरण किया। हे चित्त ! तेरे ही कारण असुर बनते हैं, नरक योनियाँ भी तेरे ही कारण बनी हैं। पशु, पक्षी और पितरों की योनियों में भी तू ही डालता है। तू ही ब्राह्मण बनाता है और तू ही क्षत्रिय राजर्षि, तू ही वैश्य और शूद्र बनाता है और तेरे ही कारण देवत्व भी प्राप्त होता है। धिक्कार है चित्त ! तू इससे आगे और क्या करना चाहता है ? अब तू मुझे अपना वशवर्ती न बना सकेगा।

एक सच्चे साधु की भाँति मनोराज्य में विचरण करते हुए तालपुट कहते है—

कदा नु हं दुब्बचनेन वुत्तो ततो निमित्तं विमनो न हेस्सं।
अथो पसट्ठोपि ततो निमित्तं तुट्ठो न हेस्सं तदिदं कदा मे।[2]

'कब मैं अपने लिए प्रयुक्त दुर्वचनों को सुनकर उनके कारण दुःखी और उदास न होऊँगा और कब प्रशंसा पाने पर भी प्रसन्न न होऊँगा। क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?

तुलसी ने भी ऐसी ही कामना की है—

कबंहुक हौं यहि रहनि रहौंगों।
परुष बचन अतिदुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगों।[3]

तालपुट अन्य गाथा में कहते हैं—

कदा नु हं पब्बतकन्दरासु एकाकियो अदुतियो विहस्सं।
·········तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति॥[4]

क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे कि मै अकेला पर्वतकन्दराओं में विचरण करूंगा। कब आयेंगें मेरे वे दिन ?'

1. थेरगाथा, ११२६२८, ११३४।
2. " ११००।
3. विनयपत्रिका।
4. थेरगाथा, १०९१।

शिवताण्डव स्तोत्र में भी एक स्थान पर ऐसा ही भाव प्रकट किया गया है—

कदा निलिम्पनिर्झरीनिकुञ्जकोटरे वसन्
..........................................
शिवेतिमन्त्रमुच्चरन् सदा सुखी भवाम्यहम् ॥

गंगा के किनारे कुञ्ज में रहकर शिव शिव जपता हुआ मैं कब सुख लाभ करूँगा। भिक्षुओं का जीवन प्रकृति के विभिन्न रूपों में घुल-मिल गया है। पर्वत-कन्दरा, सरित्-कूल वन-प्रस्थ, छायी अथवा बेछायी कुटिया में ध्यान लगाते हुए उन्होंने प्रकृति के परिवर्तित होते हुए विविध स्वरूपों का साक्षात् अनुभव किया था। जिनसे प्रसूत भावोद्गार उनकी रचनाओं में भरे पड़े हैं। अपनी कुटिया में संतोष के साथ बैठा हुआ शान्त भिक्षुक वर्षा को देखकर कहता है—

छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथा सुखं।
चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं आतापी विहरामि वस्स देवाति ॥[1]

बरसो देव ! सुखपूर्वक बरसो, मेरी कुटिया छायी हुई है जो वातरहित और सुखकारी है। मेरा चित्त समाधि मे दृढ़तापूर्वक लीन है। वह (कामासक्ति से) विमुक्त है। निर्वाण का उद्योग चल रहा है। देव ! बरसो, सुख से बरसो।

एक अन्य भिक्षुक ने इससे भी अधिक सुन्दर शब्दों में गाया है—

वस्सति देवो यथा सुगीतं।
छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता ॥
तस्सं विहरामि वूपसन्तो।
अथ चे पत्थयसि पवस्स देव ॥
वस्सति देवो।
वीतरागो वीतदोसो वीतमोहो ॥
अथ चे पत्थयसि पवस्स देव।
वस्सति देवो ॥[2]

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये प्रगीत मुक्तक पालि साहित्य मे अपने ढंग के है।[3] वस्सति देवो यथा सुगीतं तथा 'अथ चे पत्थयसि पवस्स देव' पदावली की बार बार आवृत्ति टेक का कार्य कर रही है। पदों में लयात्मक सामञ्जस्य है। इसके साथ-साथ वैयक्तिक अनुभूति का हृदयस्पर्शी चित्रण और मसृण शिल्प-विधान इन रचनाओं को उच्चकोटि की गीति का रूप प्रदान करते हैं। इसलिए विण्टरनिट्ज ने इन गाथाओं को गीतिरत्न कहा है।[4]

1. थेरगाथा, १।

2. वही, गाथाएँ, ३२५, ३२६।

3. The refrain and the repeatition of typical phrases are the distingnishing features of These collections (*The Age of Imperial Unity, p. 403*).

4. Indian Literature, Vol. 2, p. 106.

प्रकृति के भाव-भरे संश्लिष्ट वर्णन थेरगाथाओं में भरे पड़े हैं। वर्षा के सौन्दर्य ने भिक्षुओं के मन पर मोहिनी डाल दी है। वर्षा का सुन्दर समय है, मनोहर नीली ग्रीवा वाले कलगीधारी मोर बोल रहे है, उनकी वाणी कैसी सुन्दर है। विस्तृत पृथ्वी चारों ओर हरियाली से भरी है, सृष्टि जल आकाश में जल भरे मेघ छायेहुए है। समाधि के लिये यह सुन्दर समय है। अतः भिक्षु को प्रसन्नता है। उसकी साधना सुचारु रूप से चल रही है। प्रकृति मे उल्लास और उत्साह है तो भिक्षु का मन भी प्रसन्न है सोल्लास और सोत्साह। अत्यन्त पवित्र, कुशल, दुर्दर्श, उत्तम, अच्युत (निर्वाण) पद के लिये वह साधना करता है।[1]

वर्षा ऋतु की समाधि-योग्यता का वर्णन सप्पक स्थविर ने इस प्रकार किया है—

> यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
> पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति म॥
> यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
> परियेसतिलेन मलेन दस्सिनो तदा नदी अजकरणी रमेति म॥
> कन्नु तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो तहि।
> सोभेन्ति आपगाकूल, महालेनस्स पच्छतो॥
> तामतमदसं घसुप्पहीना भेका मन्दवती पनादयन्ति।
> नाज्जगिरिनदीहि विप्पवाससमयो खेमा अजकरणी सिवा सुरम्माति॥[2]

अर्थात् जब स्वच्छ श्वेत पंखो वाले बगुले काले मेघो से भयभीत होकर अपनी खोहों को खोजते हुए उड़ते है, उस समय बाढ़ के कारण शब्द करती हुई यह नदी मुझे सुहावनी लगती है।

जब स्वच्छ श्वेत पखों वाले बगुले काले मेघों से भयभीत हो अपनी खोहे खोजते हैं जो अन्धकार से आवृत होती है, उस समय बाढ़ से हहराती हुई नदी मुझे अच्छी लगती है।

इस नदी के दोनों किनारों पर जामुन के वृक्ष है, वहाँ मेरा मन कैसे न लगेगा। महामार्ग के पीछे, नदी के किनारे पर अनेक निर्झरिणियाँ शोभित है। जगे हुए मेंढक मृदुवाद कर रहे हैं। आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है। बाढ़ में शब्द करती हुई यह नदी कितनी सुरम्य शिव और क्षेमकर है। मैं यहीं ध्यान करूंगा।

> यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला विहंगपथे समन्ततो।
> भिक्खु च पब्भारगतो व झायति ततो रति परमतरं न विन्दति॥[3]

1. थेरगाथा, २११-१२।
2. ,, ३०७-३१०।
3. थेरगाथा, ५२२।

जब आकाश मे मेघों की दुन्दुभि बजती है और पक्षियों के मार्ग में धाराकुल बादल घुमड़ते है, उस समय भिक्षु पहाड़ पर जाकर ध्यान करता है। इससे बड़ा आनन्द कुछ हो ही नही सकता।

विश्व साहित्य मे प्रकृति के प्रति इससे उच्च कोटि की निष्ठा मिल नहीं सकती।[1] रायस डेविड के अनुसार थेरगाथाओं की ऐसी पक्तियों को हम बेधड़क शैली और कीट्स की तुलना मे रख सकते है।[2] महर्षि बाल्मीकि के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन भारतीय कवि ने प्रकृति का इतना सजीव संश्लिष्ट चित्रण नही किया। जितना शम और विराग थेरगाथाओं के प्रकृति चित्रण मे पाया जाता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। विश्व की साहित्यिक कृतियों में प्रकृति प्रायः रति के उद्दीपन रूप मे ही चित्रित हुई है किन्तु इन बौद्ध साधकों ने उसे शान्त रस की पृष्ठ भूमि के रूप मे प्रस्तुत किया है।

यद्यपि बौद्ध धर्म मे सांसारिक राग का सर्वथा निषेध ही किया गया है तो भी प्रसगवश ऐहिक एषणाओं की तृप्ति से अनुप्राणित उल्लास भरे गीत भी खुद्दक-निकाय मे मिलते है। उदाहरणार्थ धनियसुत्त मे पुत्र-कलत्र और धन-धान्य से समृद्ध धनिय गोप के भावोद्गार वर्षाकालीन मेघ को देखकर एक गीत में फूट पड़े हैं जिसमें टेक के साथ लोक गीतों की धुन भी है, गीत का भाव यह है—

भात मेरा पक चुका है, दूध दुह लिया गया। मही (गण्डक) नदी के किनारे स्वजनो के साथ निवास करता हूँ। कुटी छा ली है, आग सुलगा ली है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

मेरी ग्वालिन आज्ञाकारिणी और अचंचला है, चिरकाल की प्रियसाङ्गिनी है। उसके विषय में कोई पाप नही सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

मैं आप अपनी ही मजदूरी करता हूं। मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग है। उसके विषय में कोई पाप नहीं सुनता हूँ। अब, हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

मेरे बैल और बछडे तरुण हैं गाभिन गायें है और तरुण गौएं भी हैं। सब के बीच में वृषभराज भी है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।[3]

## थेरी गाथाएँ

थेरियों की गाथाएँ थेर-गाथाओं से भी अधिक भावपूर्ण एव काव्यगुणालङ्कृत है। इनमें बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन को सगीत और काव्य की भाषा में मुखरित किया है। नैतिक सत्य, सान्द्र अनुभूति और अपराजित वैयक्तिक ध्वनि मुख्य विशेषताएँ है। भिक्षुणियों का एक-एक शब्द निर्वाण की परम शान्ति से उच्छ्वसित है। इनकी मार्मिकता दर्शनीय है। उदाहरणार्थ भिक्षुणी अम्बपाली ने अपने वार्धक्य-

1. देखिये, भरतसिंह उपाध्याय, पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २५६।
2. Introducton to the Psalms of the Sisters.
3. भिक्षु धर्मरत्नकृत सुत्तनिपात का अनुवाद, पृष्ठ ७-१०

शोषित शरीर का प्रत्यवेक्षण इन शब्दों में किया है —

काळका भमरवण्णसदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु।
ते जराय साणवाकसदिसा सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥[1]

मेरे केश जो भौंरे के समान काले और सघन थे, अब बुढ़ापे से सन के समान श्वेत हो गये हैं। सत्यवादी (बुद्ध) का वचन असत्य नहीं हो सकता।

काननम्हि वनसण्डचारिणी कोकिला व मधुरं निकूजितं।
तं जराय खलितं तहिं तहिं सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा ॥[2]

वनखंड में विचरण करने वाली कोकिला की कूक के समान मधुर मेरा स्वर आज वार्धक्य के कारण स्खलित हो गया है। सत्यावादी का वचन असत्य नहीं हो सकता।

थेरियों की प्रवृत्ति अपने पूर्व जीवन के वर्णन की ओर अपेक्षाकृत अधिक है। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व के अपने सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के विषय मे उन्होंने बहुत कुछ कहा है। मुक्ता, गुप्ता और शुभा थेरियों ने अपने गृहस्थ जीवन के झंझटों की ओर संकेत किया है। किसा गोतमी और वाशिष्ठी की उक्तियों में सन्तान-वियोग की मर्मच्छेदी गाथा निहित है और पटचारा की गाथाओं में उसके करुण जीवन की समूची कहानी व्यक्त हुई है। थेरियों की बहुत-सी गाथाएँ अहं से प्रारम्भ होती हैं[3] इनके विविध-ताप-संतप्त प्रव्रज्यापूर्व जीवन से सर्वथा भिन्न भिक्खु जीवन की शान्त और पवित्र परिस्थितियों ने नवीन उद्‌गारों को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त बहुत सी भिक्षुणियां बौद्ध धर्म में दीक्षित होने से पहले सांसारिक विलासों में आकण्ठ मग्न रह चुकी थीं। सद्धर्म की दीक्षा के पश्चात् भी पहले जीवन के उन अनुभवों का संस्कार उनके मन से एकदम ही नहीं हट गया था। अतः उनके मन में सांसारिक आनन्द तथा निर्वाण-शान्ति को लेकर अन्तर्द्वन्द्व का प्रादुर्भाव स्वाभाविक ही था। ऐसी स्थिति में इनकी रचनाओं में जीवन के वास्तविक चित्र तथा आत्मानुभूति का सहज स्वरूप न मिलता तो आश्चर्य की बात होती। विण्टरनिट्ज का कथन है कि थेर और थेरी गाथाएँ धार्मिक काव्य हैं जो अपनी रमणीयता तथा सशक्तता के कारण ऋग्वेद से लेकर कालिदास और अमरुक तक के साहित्य में भारतीय गीति काव्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण का स्थान पाने की अधिकारी हैं।[4] हम उनके उक्त कथन को इस परिवर्धन के साथ कि 'क्योंकि इनमें अनुभूति की गहनता के साथ वैयक्तिता का भी अभूतपूर्व संयोग हुआ है' अपनी मान्यता के रूप में स्वीकार करते हैं।

1. थेरगाथा, २५२।
2. " २६१।
3. देखिये गाथा, ११,२५-२६, ३५-३८, ६१, ७२-८१, ९९-१०१ आदि।
4. Indian Literature, Vol. 2 p. 100.

बौद्ध धर्म का निवृत्ति मार्ग विरक्ति प्रवृत्त शान्त रस की उक्तियों के सर्वथा अनुकूल था। यद्यपि इस प्रकार की उक्तियां बुद्ध पूर्व साहित्य में भी खोजी जा सकती हैं तथापि बौद्धों की सब्बं दुक्खं दुक्खं धारणा से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन भी मिला और प्रसार भी। बौद्ध साहित्य में ऐसी उक्तियां प्रचुर मात्रा में पायी जाती हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि शान्त-रस-पूर्ण उक्तियों के विकास में, जिनमें वैयक्तिकता का पर्याप्त पुट है, बौद्ध साहित्य ने बड़ा भारी योग दिया है। आगे चलकर यह प्रवृत्ति भर्तृहरि आदि कवियों की रचनाओं में एक स्वतन्त्र धारा के रूप में विकसित हुई।

ऋग्वेद के सूक्तों में जिस स्तोत्र-परम्परा का मूल निहित है उस पर बौद्धों के अनीश्वरवाद का कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि प्रारम्भ में बौद्ध धर्म में अन्य देवी देवताओं की उपासना का विधान न होते हुए भी बुद्ध को ही उपास्य मान लिया गया था, वे अपने जीवन-काल में ही पूजे जाने लगे थे और उनके शिष्य उन्हें अद्भुत पुरुष मानकर उनकी स्तुति करने लगे थे।[1] एक स्थविर कहता है—

चंदो यथा विगतवलाहके नभे विरोचति व वीत मलो व भानमा।
एवं पि अंगिरस त्वं महामुनि अतिरोचसि यससा सब्बलोकं॥

जिस प्रकार मेघ-रहित आकाश में चन्द्रमा शोभित होता है उसी प्रकार हे महामुने! आप भी अपने यश से समस्त संसार में प्रकाशमान हैं।

बुद्ध की कृपा से ही अरिय धम्म=आर्य धर्म—बौद्ध धर्म—को सम्यकतया जानकर मोह-मुक्त होने की कामना की गई है। महा प्रजावती गौतमी के एक गीत का भाव इस इस प्रकार है—

हे बुद्ध! हे वीर! हे सर्वोत्तम प्राणी! तुम्हें नमस्कार है जिन्होंने मुझे तथा अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबारा। मेरे सब दुख दूर हो गये हैं, उनके मूल कारण—वासना—का उच्छेद हो गया। आज मैंने दुखनिरोधगामी आर्य अष्टाङ्ग मार्ग में विचरण किया। माता, पुत्र, पिता, भाई, स्वामिनी, मैं पूर्व जन्मों में अनेक बार बनती रही। यथार्थज्ञान न होने से संसार में मेरा निरन्तर आवागमन रहा। अब मैंने इस जन्म में उस (बुद्ध) भगवान् का दर्शन किया। मुझे अनुभव हुआ कि यह मेरा अन्तिम शरीर है। मेरा आवागमन क्षीण हो गया है।[2]

इन पंक्तियों में बुद्ध के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति प्रकट की गयी है और उन्हें स्पष्ट रूप से भगवान् कहा है। आगे चलकर तो बौद्ध धर्म में भी उपासना का परिनिष्ठित रूप अपनी प्रबल जटिलताओं के साथ विकसित हुआ और वे ब्राह्मण धर्म में भी भगवान् के अवतार स्वीकृत हुए। उनकी प्रशंसा में बहुत से स्तोत्र लिखे गये। संस्कृत साहित्य में स्वतन्त्र रूप के रचित अर्वाचीन बौद्ध स्तोत्रों के उपलब्ध अंश

1. देखिए थेरगाथा, १२, ५२।
2. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६५।

धार्मिक गीति-शैली के पर्याप्त उच्च कोटि के निदर्शन[1] हैं।

इससे सिद्ध है कि स्तोत्र शैली के प्रवर्तन में भी बौद्ध भिक्खुओं और कवियों का पर्याप्त योग रहा।

थेरी-गाथाएं और थेर-गाथाएं किसी एक ही मस्तिष्क की उपज नहीं है। जर्मन विद्वान् के० ई० न्यूमन को इन गाथाओं में एक ही मनुष्य के मन की छाप लगी हुई दिखायी दी है।[2] इसका कारण है इन रचनाओं में बौद्ध धर्म की प्रभाव-समष्टि जो उच्च कोटि के बौद्ध साधकों की रचनाओं में होनी भी चाहिए। अतः आर० ओ० फ्रेंके का यह कथन सर्वथा समीचीन है कि इनमे कुछ पद्यों के मेंट मिलाकर कविता अवश्य बनाने हैं किन्तु समस्त कृति एक ही व्यक्ति की नहीं है। थेर थेरी गाथाएँ क्रमशः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएँ हैं, जिनके नामो से वे सम्बन्धित है।[3] सभव है पीछे से संकलन और सम्पादन करने में भिक्षुओं की भी कुछ गाथाएँ थेरी गाथाओं मे मिल गयी हों किन्तु समूची कृति एक ही व्यक्ति की नहीं हैं।[4] *श्री भरतसिह उपाध्याय का मत है कि जिन ७३ भिक्षुणियों के उद्गार* थेरी-गाथा मे सन्निहित है। वे सभी बुद्धकालीन है। बल्कि यो कहना चाहिए कि, वे सभी भगवान् बुद्ध की शिष्याएँ है।[5] अतएव थेरी गाथाओं में पाचवी छठी शताब्दी ईसा पूर्व के भारतीय नारी-समाज के जीवन की एक झलक भी मिल जाती है। इन गाथाओं की आत्मा लोक-गीतों की भावुकता से व्याप्त है। जिस प्रकार थेरियाँ प्रव्रज्या ग्रहण करने से पहले लोक गीतों की स्वतन्त्र और सहज ध्वनि मे अपने अनुभव गाया करती थी उसी प्रकार भिक्षुणी बनने के पश्चात् भी उन्होने अपने दुःख दर्द गाये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि:—

(१) यद्यपि बौद्ध मत में लोक-रञ्जनात्मक भाव-प्रधान काव्य-रचना को प्रोत्साहन नही मिला तथापि बौद्धों के निवृत्ति मार्ग और दुःखवाद ने मानव को बहुत कुछ अन्तर्मुख बना दिया। यही कारण है कि थेरों और थेरियों की गाथाओं में आत्मानुभूति की समुचित अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने अपने जीवन के मार्मिक अनुभवों को सरल, स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी शैली में व्यक्त किया है। यह आत्मनिष्ठता इस युग की सबसे बड़ी देन है।

(२) इसमें सन्देह नहीं कि ये गाथाएँ लोक गीतों से प्रभावित हैं। समाज के विभिन्न वर्गों में उत्पन्न हुई थेरियों ने, जिनमें से बहुतों का किताबी ज्ञान नहीं के बराबर रहा होगा, लोक-प्रचलित शैली मे अपनी भावनाओं को मुखरित किया

1. A Hist. of sanskrit. Lit. p. 64.
2. देखिए इन गाथाओं का न्यूनमकृत अनुवाद, पूर्वकथन पृष्ठ ७।
3. पालिसाहित्य का इतिहास, पृष्ठ २७१।
4. विन्टर निट्ज, इण्डियन लिटरेचर वाल्यूम २, पृष्ठ १०१।
5. पालि साहित्य का इतिहास।

है। अनेक गाथाओं में एक निश्चित पदावली का टेक के सदृश प्रयोग इस कथन की पुष्टि करता है।

(३) निर्वेद-प्रधान रचनाओं का प्राचुर्य पालि साहित्य में मिलता है जो बौद्धों के 'सर्वं दुःखं दुःखम्' और 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप है। इसके बाद शात रस पर अनेकानेक पद्यों के सग्रह लिखने की परिपाटी चली। भर्तृहरि के वैराग्य शतक मे यही प्रवृत्ति उभर कर सामने आयी है। शायद इसलिये कुछ लोगों को भर्तृहरि के बौद्ध होने की भ्रान्ति भी हो गयी है।

(४) स्वतत्र स्तोत्र रचना के प्रवर्तन मे भी बौद्ध भिक्षुओं ने कवियों का नेतृत्व किया है। स्तोत्र-रचना की इस प्रवृत्ति की झलक थेर और थेरी गाथाओं मे ही मिल जाती है।

## २—प्राकृत साहित्य का प्रभाव

प्राकृत भाषा और साहित्य के महत्त्व की चर्चा इस अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठो मे की जा चुकी है। प्राकृत साहित्य में गाथासप्तशती का एक विशिष्ट स्थान है। वह केवल प्राकृत का ही सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य नही है अपितु संस्कृत के प्रमुख गीतिकारों को भी उससे प्रेरणा मिली और विषय, भाव, भाषा तथा शैली, सभी की दृष्टि से सस्कृत के गीतिकार इस रचना से प्रभूत मात्रा मे प्रभावित हुए हैं।

### गाथा सप्तशती और अमरुक

रस-सृष्टि में प्रबंधशतायमान पद्यों के प्रणेता अमरुक और शृङ्गाररस कृतियों मे अश्रुत प्रतिस्पर्धी गोवर्धनाचार्य की रचनाएँ गाथा सप्तशती से सर्वाधिक प्रभावित हैं। इतना ही नही ब्रजभाषा के रीति कालीन प्रमुख प्रतिनिधि कवि बिहारी की सतसई का तो यह आदर्श ही रही है :—

अलिअपसुत्तअ विणिमीलिअच्छ दे सुहअ मज्झ ओआसं।
गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सं॥

नीद का बहाना करके आंखें मूँदे हुए किन्तु कपोल-चुम्बन से रोमाञ्चित प्रिय मुझे भी शय्या पर स्थान दो। मैं फिर देर नही करूँगी।

इस गाथा के भाव को अमरुक ने दो श्लोकों मे अलग अलग ढंग से प्रकट किया है —

१— शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः।
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्॥
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥ अमरुक ७७।

घर में अन्य किसी को न देखा तो धीरे से पलँग से उठकर नींद के बहाने चुप पड़े प्रियतम का मुख काफी देर तक देखने के बाद उसे निर्द्वन्द्व चूम लिया किन्तु

उसका कपोल रोमाञ्चित देखा तो लज्जा से आँखें नीची कर लीं। इस स्थिति में विद्यमान प्रियतमा को प्रियने हँसते हुए देर तक चूमा।

२– सुप्तोऽयं सखि सुप्यतामिति गताः सख्यस्ततोऽनन्तरम्।
प्रेमावेशितया मया सरलया न्यस्तं मुखं तन्मुखे॥
ज्ञातेऽलीकनिमीलने नयनयोर्धूर्तस्य रोमाञ्चतो।
लज्जासीन्मम तेन साप्यपहृता तत्कालयोग्यैः क्रमैः॥

'यह सो गया है, तू भी सो जा' यह कहकर सखियाँ भी चली गईं। तब मैंने प्रेमावेश में अपना मुख उसके मुख पर रख दिया। उस छलिया के रोमाञ्च से मैं समझी कि झूठ-मूठ आँखे बन्द कर ली थीं। मुझे लज्जा आ गयी किन्तु उसने उस समय के अनुकूल व्यापारों से उसे भी हर लिया।

पणअकुविआणँ दोह्ण वि अलिअपसुत्ताणं माणइल्लाणं।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाणं को मल्लो॥ १।२
अन्योन्यकटाक्षान्तरसंप्रेषितमिलितदृक्प्रसरौ।
कृतकलहौ किल मन्ये द्वावपि सहसा समं हसितौ॥ गाथा ७।९६

दोनो ही मौन धारण और निद्रा का बहाना किये साँस रोक कर और चौकन्ने होकर चुप पड़े थे कि देखें कौन बहादुर है। मानावस्था में एक दूसरे को कनखियों से देखते हुए उनकी दृष्टि आपस में टकरा गयी तो बस दोनो हँस पड़े।

इन दोनों की गाथाओं की छाया मे अमरूक का यह श्लोक पनपा है—

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः॥ अमरुक १३।

'एक शय्या पर मान की अवस्था में एक दूसरे की ओर से मुँह फेरकर पड़े हुए पति-पत्नी हृदय में एक दूसरे को मनाने की चाह होते हुए भी अपने-अपने गौरव की रक्षा पर अड़े थे कि तनिक दृष्टि घूमने ही आँखें मिल गई। मान का कलियुग समाप्त हुआ और दोनों हँसकर गले लग गये।

गाथा की नायिका सखी द्वारा मानविधि की शिक्षा प्राप्त करके भी मान रख सकने में अपनी कठिनाई का वर्णन इन शब्दों में करती है—

अच्छीइँ ता थइस्सं दोहिँ वि हत्थेहिँ वि तस्सिं दिट्ठे।
अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सं॥ गाथा० ४।१४

उसके देखने पर दोनों हाथों से अपनी आँखें ढक लूँगी किन्तु कदम्ब-पुष्पों के समान पुलकित अंगों को कैसे छिपाऊँगी?

अमरुक की नायिका भी कुछ ऐसी ही दशा का अनुभव करती है—

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते ।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते ॥
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते ।
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन् जने ॥ अमरुक २४

भृकुटि चढाने पर भी दृष्टि उत्कण्ठा के साथ देखने लगती है। चित्त कड़ा करने पर भी शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। वाणी को रोकती हूँ पर कम्बख्त मुख पर मुस्कान आ जाती है। भला उसे देखने पर मान का निर्वाह कैसे हो सकेगा ?

पति-पत्नी का यह सभाषण कितना स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है —

पसिग्र पिए का कुविआ सुग्रणु तुम परग्रणम्मि को कोवो ।
को हु परो नाथ तुम कीस अपुण्णाण मे सत्ती ॥ गाथा ४।८४

'प्रिये। प्रसन्न हो जाओ ! कुपित कौन है ?' सुन्दरि ! 'तुम'। 'भला पराये आदमी पर क्या कोप ? पराया कौन है ?' 'स्वामिन् आप।' कैसे ? यह मेरे दुष्कर्म का फल है।'

इसी को अमरुक ने इस प्रकार पल्लवित किया है—

बाले, नाथ, विमुञ्च मानिनि रुषं, रोषान्मया किं कृतम् ।
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ॥
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते ।
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते ॥ अमरुक ५३

बाले ?' 'नाथ।' 'रोष न करो।' रोष करके मैंने क्या किया ?' 'मुझे दु ख दिया।' 'सब अपराध मेरे ही हैं आप कभी अपराध नहीं करते !' तो फिर क्यों रोती हो ?' 'किसके आगे ?' 'मेरे'। 'तुम्हारी क्या लगती हूँ ?' 'प्रिया'। 'यही तो नहीं हूँ। इसी लिये रोती हूँ "

प्रिय के परासक्त होने के कारण प्रति दिन कृशतर होती हुई नायिका से जब अपराधी प्रिय ही कृश होने का कारण पूछे तो वह बेचारी हृदय को कैसे खोले ? हृदय तो हृदय से ही शांति पा सकता है किन्तु नायक का हृदय तो कहीं और है। अतः ऐसे प्रसग पर गाथाकार की नायिका को यही कहते बन पडता है कि ग्रीष्म में दुर्बल हो जाने का मेरा स्वभाव ही है —

ज तणुआग्रइ सा तुह कएण किं जेण पुच्छसि हसन्तो ।
अह गिम्हे मह पग्रई एव्व भणिऊण ओरुण्णा ॥ ७।११

और अमरुक की नायिका भी यही उत्तर देती है—

अङ्गानामतितानवं कथमिदं कम्पश्च कस्मात्कुतो ।
मुग्धे पाण्डुकपोलमाननमिति प्राणेश्वरे पृच्छति ॥

तन्व्या सर्वमिदं स्वभावजमिति व्याहृत्य पक्ष्मान्तर—
व्यापी बाष्पभरस्तया चलितया निश्वस्यमुक्तोऽन्यत ॥ अमरुक ४५

अगो में अत्यन्त कृशता और कम्प क्यों ? तुम्हारे कपोल पीले कैसे पड गये हैं ? प्रिय के यह पूछने पर तन्वी नायिका ने यह सब स्वभावजन्य है। कहकर वहाँ से एक ओर हटते हुए दीर्घ श्वास छोडकर पलको मे उलझे हुए आँसू बहा दिये।

आम्रमजरी के विकसित हो जाने पर दक्षिण पवन का स्पर्श पाकर भी जो प्रवासी लौटा नही वह नि सदेह नि स्नेह है—

दिटठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ।
कज्जाइ व्विअ गरुआइँ मामि को वल्लहो कस्स ॥ गाथा १।६७

'आमो को (बौरते) देखा। सुरा की गन्ध भी ली ! दक्षिण पवन को भी सह लिया !! मामि ! कार्य ही महत्त्वपूर्ण है। कौन किसको प्यारा है ? इस भाव को अमरुक ने अपने लम्बे छन्द मे तनिक और विकसित कर दिया है—

मलयमरुतां व्राता वाता विकासित-मल्लिका।
परिमलभरो भग्नो ग्रीष्मस्त्वमुत्सहसे यदि ॥
घन ! घटयितु त नि स्नेह य एव निवर्तने।
प्रभवति गवा कि नश्छिन्न स एव धनञ्जय ॥ अमरुक ३२

'मलयानिल भी बह चुका सुगन्धभरा ग्रीष्म भी हार गया। हे मेघ ! यदि तुम उसे लौटा लाओ तो हमारे लिये तो तुम्ही धनञ्जय हो।

प्रिया के मुख-दर्शन की बात तो दूर ही रही उसके ग्राम की सीमा का दर्शन भी सुखदायी होता है —

अच्छउ दाव मणहर पिआइ मुहदसण अइमहग्घ।
तग्गामछेत्तसीमा वि झत्ति दिटठा सुहावेइ ॥ गाथा० २।६८

यही बात अमरुक ने भी प्रकारान्तर मे कही है—

आस्तां दूरेण तावत्सरभसदयितालिंगनानन्दलाभ-
स्तद्गेहोपान्तरथ्याभ्रमणमपि परां निर्वृतिं तनोति ॥ अमरुक १००

प्रिया के गाढ आलिगन का आनन्द तो दूर रहा, उसकी गली मे घूमने से भी अत्यन्त आनद होता है।

प्रिय के दर्शन मात्र से शिथिलमान नायिका को सखी इस प्रकार समझाती हुई उपालम्भ देती है—

तस्स कहाकण्टइए सद्दाअण्णसमोसरिअकोवे।
समुहालोअणकम्पिरि उवऊढा किं पविज्जिहिसि ॥ गाथा ७।५६

उसके शब्द सुनते ही तू पुलकित हो गयी। तेरा कोप चला गया और सम्मुख

आने पर आवन्द से कम्प हो गया। भला आलिंगन करने से तेरी क्या दशा होगी ?

अमरुक की नायिका ही स्वयं इन कठिनाइयों को प्रस्तुत करती हुई प्रकारान्तर से मानधारण को असम्भव ही बताती है—

श्रुत्वा नामापि यस्य स्फुटघनपुलकं जायतेऽङ्गं समन्तात्
दृष्ट्वा यस्याननेन्दुं भवति वपुरिदं चन्द्रकान्तानुकारि ।।
तस्मिन्नागत्य कण्ठग्रहनिकटपदस्थायिनि प्राणनाथे ।
भग्ना मानस्य चिन्ता भवति मयि पुनर्वज्रमय्यां कदाचित् ।। ५६

जिसका नाम सुनते ही अंग पुलकित हो जाते हैं, जिसके मुख चद्र के दर्शन से शरीर रूपी चद्रकान्त द्रवित हो उठता है, वही प्रियतम यदि इतने समीप आ जाये कि गलबाँही सभव हो तो क्या मुझ पत्थर में मान करने की इच्छा भी उत्पन्न हो सकती है ?

उत्तम स्त्री की मान-धारणविधि गाथा मे इस प्रकार बतायी है—

हसिएहिँ उवालम्भा अच्चुवचारेहिँ रूसिअव्वाइ ।
असूहिँ भण्डणाइँ एसो मग्गो सुमहिलाणं ।। गाथा ६।१३

श्रेष्ठ महिलाओ का ढग यह है कि वे हँसी द्वारा उलाहना, अत्यन्त शिष्टाचार द्वारा रोष और आसुओ द्वारा कलह को प्रकट करती है। अमरुक ने अपनी नायिका को इसी सिद्धात के अनुसार प्रशिक्षित कर लिया है।

कृतो दूरादेव स्मितमधुरमभ्युद्गमविधिः ।
शिरस्याज्ञा न्यस्ता प्रतिवचनमत्यानतिमति ।
न दृष्टेः शैथिल्यं मिलन इति चेतो वहति मे ।।
निगूढान्त कोपा कठिनहृदये ! संवृतिरियम् ।। अमरुक १४।।

दूर से ही मधुर मुस्कान के साथ स्वागत किया, सिर झुकाकर आज्ञा स्वीकार की किन्तु आँखे मिलने मे दृष्टि मे शैथिल्य नही आया। इससे मेरा हृदय सतप्त है। कठोर-हृदये ! यह ऐसी गम्भीरता है जिसमे कोप छिपा हुआ है।

पिंजरे मे पली हुई सारिका गाथाकार की नायिका के रतिकालीन विस्रम्भ-वचन सबके आगे प्रकट कर देती है—

पञ्जरसारिं अत्ता ण णेसि किं एत्थ रइहराहिन्तो ।
वीसम्भजम्पिआइ एसा लोआण पअडेइ ।। गाथा, ६।५२।।

अमरुक का यह तोता भी तो यही करता है हाँ उसकी नायिका अपनी चतुराई से स्थिति सँभाल लेती है—

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वचः ।
तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदता श्रुत्वैव तारं वधूः ।।
कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्च्वाः पुरो ।
व्रीडार्त्ता प्रकरोति दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम् ।। अमरुक १६ ।।

रात में पति-पत्नी की बातें पालतू तोते ने सुन लीं। प्रातःकाल वधू ने उसे गुरुजन के सामने ही उन बातों को दुहराते हुए सुना तो लज्जा से मर गयी। कान मे पहने हुए पद्मरागमणि के टुकड़े को निकाल कर जल्दी से उसके सामने रखा और उससे अनार के दाने का धोखा देकर उसका मुँह बन्द किया।

प्राकृत गाथा की नायिका मान धारण करने मे अपने ही अगों से सहयोग नहीं पाती, उसे उन पर विश्वास ही नही—

अच्छीइँ ता थइस्सं दोहिँ वि हत्थेहिँ वि तम्हि दिट्ठे।
अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सं ।। गाथा, ४।१४

उसे देखकर आँखों को तो मैं हाथों से ढक लूंगी किन्तु कदम्ब-पुष्प जैसे अपने पुलकित अग को कैसे छिपा सकूँगी"।

अमरुक की नायिका भी इसी असमजस मे है—

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिः कृता पादयो—
स्तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया ।।
पाणिभ्यां च तिरस्कृतः सपुलकः स्वेदोद्गमो गण्डयोः ।
सख्यः किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कञ्चुके सन्धयः ।। ११ ।।

उसके सामने आते ही मुख तो नीचा कर लिया, दृष्टि चरणों में डाल दी, उसके वचन सुनने के लिए उत्सुक कान अवरुद्ध किये और कपोलों का रोमांच तथा स्वेद हाथों से ढक लिया। सखियो! फिर भी क्या करूँ? अंगिया की सन्धियाँ शतधा टूट जाती हैं।

नायिका को अपना जीवन प्यारा है, वह प्रिय के बिना रह नही सकता इस लिये अपराधी प्रियतम के समक्ष भी मान त्यागना ही पड़ता है—

बालअ तुमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअं।
तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएमि ।। गाथा, ३।१५

'नासमझ! तुमसे अधिक प्यारा मेरा अपना जीवन है। तुम्हारे बिना वह नही रहेगा, इसी से तुम्हें मना रही हूँ।" अमरुक की नायिका भी जीने की आशा से ही मनुहार-विरत प्रिय को जाने से रोकती है —

चिन्तामोहविनिश्चलेन मनसा मौनेन पादानतः ।
प्रत्याख्यानपराङ्मुखः प्रियतमो गन्तुं प्रवृत्तोऽधुना ।।
सव्रीडैरलसैर्निरन्तरलुठद्बाष्पाकुलैरीक्षणैः ।
श्वासोत्कम्पिकुचं निरीक्ष्य सुचिरं जीवाशया वारितः ।। अमरुक ८७

गाथाकार की नायिका विरहावस्था में सर्वत्र नायक की उपस्थिति का अनुभव करती हुई कहती है कि 'मैं जिधर भी देखती हूँ तुम्हीं चित्रित दिखाई पड़ते हो। लगता है जैसे समूचा दिङ्मण्डल तुम्हारी ही तस्वीरों से शोभित है।'

जं जं पुलएमि दिसं पुरओ लिहिअ व्व दीससे तत्तो ।
तुहपडिमापडिवाडिं वहइ व्व सअलदिसाअक्कं ।। गाथा, ६।३०

इसी प्रकार अमरुक का विरही नायक सकल जगत् में नायिका को ही देखता हुआ अद्भुत अद्वैतवाद की अनुभूति करता है—

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा  
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य ।  
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति में कापि सा सा ।  
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ।। अमरुक १०२

प्रासाद मे, प्रत्येक दिशा में, आगे, पीछे पलंग पर, हरएक मार्ग में मुझे वही दिखाई देती है। ओह ! मेरे चित्त का कोई अन्य स्वभाव ही नहीं रह गया है (अथवा) मुझे जगत् में अन्य कोई प्रकृति व्याप्त नहीं दिखाई देती) सारे जगत् मे वही है। यह कैसा अद्भुत अद्वैतवाद है।

## गाथा सप्तशती और गोवर्धनाचार्य

आर्यासप्तशती तो सर्वथा गाहासत्तसई के अनुकरण पर ही लिखा हुआ कोश है जिसके आकार-प्रकार तक में अनुकरण है। केवल व्रज्याविधान में अन्तर है। गाहासत्तसई शतकों में विभाजित है किन्तु आर्यासप्तशती वर्णानुक्रम पर आधृत व्रज्याओं में। मुक्तकों की संख्या की दृष्टि से दोनों में समता है। शैली दोनों की एक सी ही है। प्राकृत का 'गाहा' और संस्कृत का 'आर्या' छन्द बहुत कुछ मिलते-जुलते से है। वर्ण्य विषय दोनों का एक है। एक दो नहीं, पचासों आर्याओं में गाथाओं की भावच्छाया को ही चित्रित किया गया है। गोवर्धनाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है कि प्राकृत भाषा का ही एकाधिकार समझी जाने वाली शृङ्गारिक वाणी को बलात् संस्कृत में खींच लाया हूँ। "वाणी प्राकृत समुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता" कह कर उन्होंने व्यजना द्वारा प्राकृत को ही शृंगार समुचित मानते हुए उसका महत्त्व स्वीकार किया है। उन्होंने स्वयं अपनी आर्याओं की बड़ी प्रशंसा की है—

मसृणपदरीतिगतयः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः ।  
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्याः ।। आर्या० ५१०

एका ध्वनिद्वितीया त्रिभुवनसारा स्फुटोचितचातुर्या ।  
पञ्चेषुषट्पदसहिता भूषा श्रवणस्य सप्तशती ।। आर्या०, ६९९ ।।

इस प्रकार प्रशंसित इन आर्याओं में भी गाथाओं के भाव की छाया बराबर ग्रहण की गयी है। उदाहरण लीजिए—

नायिका को ज्वरग्रस्त सुनकर बहुत दिनों बाद आये हुए प्रिय को ज्वर-प्रशंसा के छल से उपालम्भ देती हुई गाथा की नायिका जो कुछ कहती है लगभग वही आर्या की नायिका भी।

सुहउच्छअं जणं दुल्लहं पि दूराहि अम्ह आणन्त ।  
उअआरअ जर जीअं पि णेन्त ण कआवराहोसि ।। गाथा १।५०

ज्वर वीतौषधबाधस्तिष्ठ सुखं वत्समखिलं ते ।
अशुभलोकाकर्षणपाषाण ! सखे न मोक्ष्यसि माम् ॥ आर्या २४०

भाव-ग्रहण के ऐसे उदाहरण बहुत बड़ी सख्या मे मिलते हैं जिसमें से स्थानाभाव के कारण केवल कुछ ही प्रदर्शित कर सन्तोष करना पड़ेगा—

तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थहम्मि संकन्तं ।
दीसइ मग्रपरिहीणं ससिबिम्बं सूरबिम्ब व्व ॥ गाथा०, २।५१

२. विष्णु एवं लक्ष्मी की विपरीत रति का वर्णन करते हुए गाथाकार ने लिखा है—

उस (विष्णु) को नमस्कार करो जिसके वक्ष पर कौस्तुभमणि मे सङ्क्रान्त लक्ष्मी का मुख ऐसा लगता है जैसे सूर्यमण्डल मे स्थित लाञ्छनहीन चन्द्रमण्डल। गोवर्धनदास ने इसी भाव को यो प्रकट किया है।

प्रतिबिम्बितप्रियातनु सकौस्तुभं जयति मधुभिदो वक्षः ।
पुरुषायितमभ्यस्यति लक्ष्मीर्यद्वीक्ष्य मुकुरमिव ॥ आर्या ॥ २४०

३. भगवान् विष्णु का कौस्तुभयुत वक्ष की, जिसमे लक्ष्मी का शरीर प्रतिबिम्बित है और जिसे मानो मुकुर के समान देखकर लक्ष्मी विपरीत रति का आभास करती है, जय हो।

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए ।
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिँ चित्तलिओ ॥ गाथा ३।८

'वह आज गया' 'आज गया' इस प्रकार गिनती हुई (वियोगिनी) ने पहले आधे दिन में ही रेखाओ से दीवार भर दी।

त्वद्गमनदिवसगणनावलक्षरेखाभिरङ्किता सुभग ।
गण्डस्थलीव तस्याः पाण्डुरिता भवनभित्तिरपि ॥ आर्या ६२०

४. सुभग ! तुम्हारे जाने के दिन की गणना से संबन्धित रेखाओं से अंकित भवन की भीत भी उसके कपोल-स्थल के समान पाण्डुर हो गई हैं।

अण्णासआइँ देन्ती तह सुरए हरिसविअसिअकवोला ।
गोसे वि ओणअमुही अह सेत्ति पिआं ण सद्दहिमो ॥ गाथा० १।२३

रात्रि में सुरत के समय सैकड़ों आज्ञाएँ देने वाली प्रिया को प्रातःकाल अवनतमुखी देखकर विश्वास नहीं होता कि यह वही है।

विनयविनता दिनेऽसौ निशि मदनकलाविलासलसदंगी ।
निर्वाणज्वलितौषधिरिव निपुणप्रत्यभिज्ञेया ॥ आर्या ११३

रात में काम-कला के विलास से शोभित शरीर वाली किन्तु प्रातःकाल विनयावनत प्रिया को कठिनाई से पहचाना जाता है।

५. गाथा में ग्राम-नायक के आयुध-व्रणों से कर्कश वक्ष पर उसकी पत्नी के

सोने में कठिनाई किन्तु उसके द्वारा रक्षित ग्राम के सुखपूर्वक सोने का उल्लेख है—

पहरवणमग्गविसमे जाम्रा किच्छेण लहइ से णिद्दं ।
गामणिउत्तस्स उरे पल्ली उण सा सुहं सुवई ॥ गाथा १।३१

आर्या में वीरवधू और श्री दोनों के ही सुखपूर्वक शयन का वर्णन है—

विविधायुधव्रणार्बुदविषमे वक्षःस्थले प्रियतमस्य ।
श्रीरपि वीरवधूरपि गर्वोत्पुलका सुखं स्वपिति ॥ ५१६ ॥

६. किसी अनासक्त नायिका मे आसक्त नायक के प्रति दृढ़ प्रेम रखने पर भी उपेक्षिता नायिका का उपालम्भ गाथाकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झ वेसो सि तीअ तुज्झ अहं ।
बालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहु विआरं त्ति ॥ गाथा: २।२६

'वह तुम्हारी प्रिया है, तुम मेरे प्रिय हो। वह तुम से द्वेष करती है और तुम मुझ से। सच तो यह है कि प्रेम में बहुत से विकार होते है।

द्वेष्योऽसि हन्त यस्याः पांसुल सा वल्लभा तवाभ्यधिकम् ।
इति विज्ञायापि मया दग्धप्रेम्णे न चेर्ष्यितं जातु ॥ ६।१०

निर्लज्ज ! जो तुम से द्वेष करती है, वही तुम्हें अधिक प्रिय है। यह जानकर भी मैंने जल गये प्रेम से ईर्ष्या नही की।

आर्या में इसी भाव को प्रकारान्तर से व्यक्त किया है—

या दक्षिणात्वमस्यामदक्षिणो दक्षिणस्त्वमितरस्याम् ।
जलधिरिव मध्यसंस्थो न वेलयोः सदृशमाचरसि ॥ ४८० ॥

जो अनुकूल है तुम उसके प्रति अनुकूल नहीं हो बल्कि अन्य नायिका के प्रति अनुकूल हो। तुम्हारा आचरण वेलाओं के मध्य में स्थित समुद्र के समान उचित नही है।

७. विपरीत रति मे श्रान्त नायिका के प्रति गाथा के नायक का उपहास देखिए—

सिहिपिच्छलुलिअकेसे वेवन्तोरु विणिमीलिअद्धच्छि ।
दरपुरिसाइरि विसुमरि जाणसु पुरिसाणं जं दुक्खं ॥ गाथा, १।५२

(थकान) से आधी मुँदी आँखों वाली ! तुम्हारे मोर के पिच्छ जैसे केश अस्त-व्यस्त हो गये हैं, जङ्घाएँ काँप रही है। तनिक से ही पुरुषायित से थक जाने वाली ! समझ लो पुरुषों को कितना कष्ट होता है।

आर्याकार की उक्ति भी लीजिए—

वक्षःप्रणयिनि सान्द्रश्वासे वाङ्मात्रसुभटि घनघर्मे ।
सुतनु ललाटानिवेशितललाटिके तिष्ठ विजितासि ॥ ५२६ ॥

वक्ष का सहारा लेने वाली ! तुम्हारा साँस चढ़ रहा है और तुम पसीने से लथपथ हो गई हो। वाणी की बहादुर ! ठहरो, तुमने (थककर) अपना मस्तक भी मेरे मस्तक पर टेक दिया है। लो तुम पराजित हुई।

८. गाथाकार ने नायक के हृदय में अन्य प्रेयसियों का वास होने के कारण नायिका के न आ सकने का उल्लेख किया है—

> महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमअन्ती ।
> दिअहं अणण्णकम्मा अंगं तणुअं पि तणुएइ ।। गाथा०, २।८२

आर्याकार ने इसी भाव को विपरीत रूप में ग्रहण करके एक नायिका को नायक के हृदय में कीलवत् गड़ा हुआ बताया है जिसके कारण अन्य के लिये वहाँ स्थान नहीं है—

> प्रददाति नापरासां प्रवेशमपि पीनतुङ्गजघनोरूः ।
> या लुप्तकीलभावं याता हृदि बहिरदृश्यापि ।। ३७४ ।।

राग भरे हृदय में रह कर भी अननुरक्त नायक को गाथा में नायिका द्वारा उपालम्भ दिलाया गया है—

> धवलोसि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअं ।
> राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ।। गाथा, ७।६५

सुभग ! तुम धवल (गुणी, उज्ज्वल) हो फिर भी तुमने मेरा हृदय रक्त कर दिया और मैंने राग भरे हृदय में तुम्हें रखा फिर भी तुम रक्त न हुए। आर्याकार ने इसी प्रकार नायक और नायिका दोनों को सखी द्वारा उलाहना दिलाया है—

> सखि लग्नेव वसन्ती सदाशये महति रसमये तस्य ।
> बाडवशिखेव सिन्धोर्न मनागप्यार्द्रतां भजसि ।। ६५५ ।।

> सा नीरसे तव हृदि प्रविशति निर्याति न लभते स्थैर्यम् ।
> सुन्दर ! सखी विवसकरबिम्बे तुहिनांशुरेखेव ।। ६३६ ।।

सखि ! उसके महान् रस भरे श्रेष्ठ आशय (हृदय) में रहती हो फिर भी सागर की बडवानल शिखा के समान तुम तनिक भी आर्द्र न हुई। ६५५

सुभग ! मेरी वह सखी सूर्य-मण्डल में चन्द्रमा की कला के समान तुम्हारे नीरस हृदय में प्रविष्ट होती और निकल जाती है, स्थिरता प्राप्त नहीं करती।

गाथा में व्याध के बाण की लक्ष्यीभूत मृगी मरने के समय सतृष्ण नेत्रों से हरिण को देखती है—

> आअण्णाअड्ढिअणिसिअभल्लमम्माहआइ हरिणीए ।
> अदंसणो पिओ होहिइ त्ति वलिउं चिरं दिट्ठो ।। गाथा, ६।९४

कान तक खींचे बाण से मर्माहत हरिणी देर तक प्रिय की ओर देखती रही कि फिर कभी उसका दर्शन न हो सकेगा।

आर्याकार ने भी यही भाव व्यक्त किया है—

> वृद्धयैव विरहकातरतारकया प्रियमुखे समर्पितया ।
> यान्ति मृगवल्लभायाः पुलिन्दकाकर्षिताः प्राणाः ।। २८३ ।।

भील के बाण से छटपटाती हरिणी के प्राण प्रिय मुख पर डाली विरह-कातर दृष्टि के साथ ही चले गये ।

नायक द्वारा प्रदत्त माला नायिका का सर्वस्व है । गाथाकार ने दूती के मुख से नायक के समक्ष वर्णन कराया है—

सा तुइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे सुहअ गन्धरहिअं वि ।
उव्वसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ ।। गाथा, २।९४

सुभग तुमने आप से जो माला उसे दी थी वह निर्गन्ध हो गयी है, फिर भी वह परित्यक्त नगरदेवता के समान उस गन्ध रहित माला को धारण किये है ।

आर्याकार की दूती भी नायक से इसी प्रकार की बात कहती है—

अपनीतनिखिलतापां सुभग स्वकरेण विनिहितं भवता ।
पतिशयनवारपालिज्वरौषधं वहति सा मालाम् ।। ४६ ।।

सुभग ! तुम्हारे द्वारा दी हुई अखिल-ताप-हारिणी माला को वह पति के साथ शयन रूपी ज्वर की औषधि के रूप मे धारण करती है ।

किसी नायिका में अनुरक्त नायक को विरह से प्रतिदिन क्षीण होता देखकर उसकी स्वकीया नायिका भी सयोग कराने की सक्रिय चेष्टा करती है । दूसरे शब्दों मे :—

सो तुज्झ कए सुन्दरि तह छीणो सुमहिलो हलिअउत्तो ।
जह से मच्छरिणीएँ वि दोच्चं जाआएँ पडिवण्णं ।। गाथा, १।८४

सुन्दरि ! तुम्हारे कारण हलिक-पुत्र इतना कृश हो गया है कि उसकी ईर्ष्यालु पत्नी भी दूती-कार्य करने को प्रस्तुत है ।

आर्याकार ने नायिका को प्रतिदिन क्षीण देखकर सपत्नियों को उसकी पक्षपातिनी चित्रित किया है—

प्रियविरहनिःसहायासहजविपक्षाभिरपि सपत्नीभिः ।
रक्ष्यन्ते हरिणाक्ष्याः प्राणाः गृहभङ्गभीताभिः ।। ३८०

प्रिय-विरह के कारण निःसहाय सपत्नियाँ, स्वभावतः विरुद्ध होती हुई भी, घर बिगड़ जाने के भय से मृगनयनी के प्राणों की रक्षा कर रही हैं ।

नायिका के स्नान के समय मुक्त केश मानो भावी बन्धन के भय से रोते हुए जल बिन्दुओं के रूप मे आंसू बरसा रहे हैं, गाथाकार की कल्पना देखिये—

पसणिअम्बप्फंसा ण्हाणुत्तिराणाएँ सामतङ्गीएँ ।
जलबिन्दुएहिँ चिहुरा रुअन्ति बन्धस्स व भएण ।। गाथा, ६।५५

इसी भाव पर आर्याकार का कथन है कि नायिका के मुक्त-मान चिकुर-कलाप का, बन्धन मे पड़ने के कारण, मानो सिन्दूर की माँग के रूप में हृदय ही फट गया है—

बन्धनभाजोऽमुष्याश्चिकुरकलापस्य मुक्तमानस्य ।
सिन्दूरितसीमच्छलेन हृदयं विदीर्णमिव ।। ४०४ ।।

गाथाकार की मानिनी नायिका किस प्रकार अपने अनुशयकारी हृदय की भर्त्सना करती है—

उज्झसि उज्झसु कट्टसि कट्टसु ग्रह फुडसि हिग्रग्र ता फुडसु ।
तह वि परिसेसिम्रो च्चिम्र सो हु मए गलिम्रसब्भावो ।। गाथा, ५।१

हृदय ! तुम जलते हो तो जलो, विदीर्ण होते हो तो हुम्रा करो और सुलगते हो तो सुलगो, मैं तो प्रेम को तिलाञ्जलि दिये बैठी हूँ ।

म्रार्याकार की नायिका के वचन भी सुन लीजिए—

प्रिय दुर्नयेन हृदय स्फुटसि यदि स्फुटनमपि तव श्लाघ्यम् ।
तत्केलिसमरतल्पीकृतस्य वसनाञ्चलस्येव ।। ३७७ ।।

स्वपृष्ठाभिमुख सोये हुए नायक के प्रति मानिनी की उक्तियों की तुलना कीजिए—

उह्लाइं णीससन्तो किं ति मह परम्मुहीऍ सग्रणद्धे ।
हिग्रग्रं पलीविग्र वि ग्रणुसएण पुट्ठिं पलीवेसि ।। गाथा १।३३

हृदय को जलाकर अब शयनार्ध पर मुझ पराङ्मुखी की पीठ को भी गर्म निःश्वासों से क्यों जला रहे हो ?

कृतकस्वाप मदीयश्वासध्वनिदत्तकर्ण किं तीव्रैः ।
विध्यसि मां निःश्वासैः स्मरः शरैः शब्दवेधीव ।। ग्रार्या १५२।।

मेरे श्वास की ग्राहट मे कान लगाये हुए मिथ्या निन्द्रा में मग्न ! मुझे निःश्वासों से क्यों वैसे ही बींध रहे हो जैसे काम अपने बाणों से बींधता है ।

नायिका की दिवा-निद्रा दूसरों के मन में सन्देह उत्पन्न करती ही है—

हेमन्तिम्रासु ग्रईदीहरासु राईसु तं सि ग्रविणिद्दा ।
चिरग्ररपउत्थवइए ण सुन्दरं जं दिग्रा सुवसि ।। गाथा, १।६६

(सुचिर-प्रोषित-पतिके ! हेमन्त की लम्बी रातो में भी तुम्हारी नीद नही पकती ? यह ठीक नहीं कि तुम दिन में सोती हो ।)

इयमुदर्गति हरन्ती नेत्रनिकोचं च विदधती पुरतः ।
न विजानीमः किं तव वदति सपत्नीव दिननिद्रा ।। ग्रार्या १०७।।

नेत्रों की ऊर्ध्वगति को हरती हुई और उन्हें संकोचती हुई तुम्हारी दिवा-निद्रा सपत्नी के समान, पता नहीं, क्या कहती है ?

दम्पती की समसुखदुःखता का प्रतिपादन गाथाकार ने इन शब्दों में किया है—

समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिग्राणं कालेण रूढपेम्माणं ।
मिहुणाणं मरइ जं तं खु जिग्रइ इग्ररं मुग्रं होइ ।। गाथा, २।४२

समान दुःख सुख वाले तथा काल-क्रम से ग्रारूढ़ प्रेम वाले पति-पत्नी में से जो मर जाता है वस्तुतः वही जीता है और जो जीवित रहता है वह मर जाता है ।

आर्याकार ने यही बात इस प्रकार कही है—

निष्कारणापराधं निष्कारणकलहरोषपरितोषम् ।
सामान्यमरणजीवनसुखदुःखं जयति दाम्पत्यम् ॥ ३०४ ॥

अकारण ही अपराध, कलह, रोष और परितोष से युक्त तथा समान मरण जीवन और सुख दुःख वाले दाम्पत्य की जय !

भाव ही नहीं गाथाकार की शब्दावली और शैली तक का अनुकरण आर्याकार ने किया है—

गाथा— एक्केक्कमवइवेढणविवरन्तरदिण्णतरलणअणाए ।
तइ बोलन्ते बालअ पञ्जरसउणाइअं तीए ॥ ३।२०

नासमझ ! तुम्हारे निकल जाने पर वह पिंजरे में बन्द पक्षी के समान वृति के प्रत्येक छिद्र में अपनी चचल दृष्टि डालती हुई छटपटाती रही ।

आर्याकार ने भी ऐसा ही वर्णन किया है—

वृतिविवरेण विशन्ती सुभग त्वामीक्षितुं सखीदृष्टिः ।
हरति युवहृदयपञ्जरमध्यस्थो मन्मथेषुरिव ॥ ५४४ ॥

सुभग ! तुम्हें देख लेने के लिये वृति (बाड़ या hedge) के विवरों में प्रविष्ट होती हुई उसकी दृष्टि युवकजनों के हृदय-पञ्जर में स्थित काम के बाण सी प्रतीत होती थी।

शैली के अनुकरण का भी एक उदाहरण लीजिए—

अच्छेरं व णिहिं विअ सग्गे रज्जं व अमअ-पाणं व ।
आसि म्ह तं मुहूत्तं विणिअंसणदंसणं तीए ॥ गाथा० २।२५

(उसके निर्वसन अंग का दर्शन अद्भुत-सा, अनोखी निधि-सा, स्वर्ग के राज्य सा और अमृत-पान सा लगता था) ।

श्लिष्यन्निव चुम्बन्निव पश्यन्निव चोल्लिखन्निवातृप्तः ।
दधदिव हृदयस्यान्तः स्मरामि तस्या मुहुर्जघनम् ॥ आर्या, ५६६ ॥

उसके जघन को आलिङ्गन करता-सा, चूमता-सा, देखता-सा, खरोंचता-सा, और हृदय में धारण करता-सा मैं अतृप्ति के साथ स्मरण करता हूँ ।

नायिका की उपमा हँसी से दोनों ने दी है—

पिज्जइ कण्णञ्जलिहिं जणरवमिलिअं वि तुज्झ संलावं ।
दुद्धं जलसंमिलिअं सा बाला राअहंसि व्व ॥ गाथा० ७।७६ ॥

त्वद्विरहापवि पाण्डुस्तन्वङ्गी छाययैव केवलया ।
हंसीव ज्योत्स्नायां सा सुभग प्रत्यभिज्ञेया ॥ २५१ ॥

**अन्य कवि**—इन प्रतिनिधि कवियों के अतिरिक्त बहुत से अन्य कवियों की रचनाओं में भी गाथासप्तशती का प्रभाव स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। यहाँ

हम संक्षेप में कतिपय उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

वरवेविरोरुजुग्रलासु मउलिग्रच्छीसु लुलिग्रचिहुरासु ।
पुरुसाईरीसु कामो पिग्रासु सज्जाउहो वसइ ।। गाथा०, ७।७३

काँपते हुए उस युगल, मुकुलित-नयन तथा ग्रस्त-व्यस्त केशों वाली विपरीत रति-शील सुन्दरियों में काम ग्रपने शस्त्रों से सज्जित होकर रहता है।

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां ।
मुकुललितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
उपरिसुरतखेदस्विन्नगण्डस्थलीनाम् ।
ग्रधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिवन्ति ।। भर्तृहरि शृङ्गारशतक[1]

विपरीत रति के कारण स्रस्त-केश, मुकुलितनयन ग्रौर पसीने से तर कपोल वाली, उर पर पड़ी वधुग्रों के ग्रधरमधु का पान भाग्यशाली ही करते हैं।

रतिकेलि में नववधू की विमुखता का चित्रण गाथासप्तशती में इस प्रकार हुग्रा है—

ण ग्र दिट्ठिं णेइ मुहं ण ग्र छिविउं देइ णालवइ किं पि ।
तह वि हु किं पि रहस्सं णववहुसङ्गो पिग्रो होइ ।। गाथा, ७।४५ ।।
पुच्छिज्जन्ती न भणइ गहिग्रा पप्फुरइ चुम्बिग्रा रुग्रइ ।
तुह्लिका णववहुग्रा कग्रावराहेण उवऊढा ।। ७।४७ ।।

दृष्टि मुंह पर नहीं डालती, ग्रपना स्पर्श नहीं करने देती, कुछ बोलती भी नहीं, फिर भी, न जाने क्या रहस्य है? नववधू का समागम रुचिकर होता है।

ग्रपराधी प्रियतम द्वारा ग्रालिङ्गित मौनधारिणी नव-वधू प्रिय के पूछने पर कुछ नहीं कहती, पकड़ने पर फड़क उठती हैं ग्रौर चूमने पर रोने लगती है।

इन गाथाग्रों की छाया नागानन्द के इस ग्रत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक पर स्पष्ट दीख पड़ती है—

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता ।
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते ।।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते ।
जाता वामतयैव सम्प्रति मम प्रीत्यै नवोढा वधूः ।।

उसकी ग्रोर देखता हूँ तो दृष्टि नीचे कर लेती है। बोलने पर बात नहीं करती। शय्या पर मुंह फेर कर पड़ जाती है। बलात् ग्रालिङ्गन करने पर कांपने लगती है। सखियाँ पास से जाने लगती हैं तो वह भी वास-भवन से निकल जाना चाहती है। इस प्रकार विपरीत ग्राचरण करने पर भी नववधू मेरे प्रेम को ही बढ़ाती है।

1. भर्तृहरि, रातकत्रयादि सुभाषित संग्रह, पृष्ठ ४८।

गाथा की नायिका प्रियतम के प्रति अनुरागातिशय व्यक्त करती हुई कहती है—

धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति ।
णिद्द च्चिअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणं ।। ४।९७

वे प्रेयसियाँ धन्य हैं जो प्रिय को स्वप्न में देख लेती हैं। मुझे तो उसके बिना नींद ही नहीं आती, स्वप्न कौन देखे !

प्रसिद्ध कवयित्री विज्जिका की उक्ति भी लीजिए—

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विश्रब्धचाटुशतकानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ।।

सखि ! तू धन्य है जो सुरतसमय मे सैंकड़ों प्रकार के चाटुवचन कह लेती है। सखियो ! मैं तो शपथ से कहती हूँ यदि प्रिय का हाथ नीवी तक जाते ही मुझे कुछ भी याद रहता हो।

पुष्ट उरोजों के भार से नायिका की कृश कटि के भङ्ग होने की आशंका गाथा में प्रकट की गयी है—

अच्छोडिअवत्थद्धन्तपथिए मन्थरं तुमं वच्च ।
चिन्तेसि थणहराआसिअस्स मज्झस्स वि ण भङ्गं ।। गाथा० १।६०

बलात् आँचल झटक कर चल देने वाली ! जरा धीरे चलो। तुम्हें उरोजों के भार से दबी अपनी कटि के टूटने की भी चिन्ता नहीं है ?

विकटनितम्बा को भी यही आशंका हुई है—

अय्ययि साहसकारिणि ! किं तव चंक्रमणेन ।
टसदिति भङ्गमवाप्स्यसि कुचयुगभारभरेण ।।

अरी दुस्साहस करने वाली ! चक्कर मत काट अन्यथा उरोजों के भार से टस् से टूट जायेगी।

मानिनी के अनुनय में उत्सव-रात्रि के ढल जाने की दुहाई गाथा का नायक इस प्रकार देता है—

वे सुअणु पसिअ एह्लि पुणो वि सुलहाइ रूसिअव्वाइं ।
ऐसा मअच्छि मअलञ्छणुज्जला गलइ छणराई ।। ५।६६

सुन्दरि ! मान जाओ। मान तो फिर भी सुलभ है किन्तु उत्सव की यह चाँदनी रात ढलती जा रही है।

महाकवि बाण के नाम से प्रसिद्ध इस उक्ति में भी यही भाव लिया गया है—

गता प्रायो रात्रिः शशिमुखि शशी शीर्यत इव ।
× × ×
प्रकामास्तो मानो विसृज कठिने मानमधुना ।।

रात्रि प्रायः जा चुकी है। चन्द्रमा ढल गया है। मान की सीमा पैरों में पड़ने तक ही होती है। निष्ठुर ! अब तो मान त्याग दो।

महिलाओं को रतिकेलि की शिक्षा स्वतः सिद्ध होती है। गाथा में दूती नायक से कहती है—

बहुविहविलाससरसिए सुरए महिलाणं को उवज्झाओ ।
सिक्खइ असिक्खिआइं वि सव्वो णेहाणुबन्धेण ॥ ५।७७

अनेक प्रकार के विलासों से सम्पन्न सुरत की शिक्षा में महिलाओं का गुरु कौन होता है ? प्रेम सबको अनसीखी बातें सिखा देता है। इसी भाव की छाया काव्य प्रकाश में उद्धृत इस पंक्ति में है—

उपदिशति यौवनमेव कान्तानां ललितानि ।

'सुन्दरियों को यौवन ही सब विलास सिखा देता है।

बाष्पाम्बुभरे नेत्र प्रियतम को नहीं देख पाते—

तुह विरहुज्जागरओ सिविणे वि ण देइ दंसणसुहाइं ।
वाहेण जहालोअणविणोअणं से हअं तं पि ॥ ५।८७ ॥

'तुम्हारे वियोग में जागते रहने से स्वप्न मे भी दर्शन-सुख सम्भव नही और आँसुओं के कारण दर्शन भी नहीं हो सकता।'

यही भाव महाकवि कालिदास के शब्दों में भी प्रकट हुआ है।

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे ।
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥

अनारूढयौवना किशोरी नायिका को रति-आयास देने वाले अविवेकी नायक को लक्ष्य कर गाथाकार ने भ्रमर और कली विषयक अन्योक्ति द्वारा उसे चेतावनी दी है—

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥ गाथा०, ५।४४

'मालती की कली का कोष विकसित भी न हुआ कि मधु-लोभी भ्रमर ! तुमने उसे मसल डाला।

यही बात गोवर्धनाचार्य ने इन शब्दों में कही है—

पिब मधुप ! बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमात्रमाधाय ।
अधरविलेपसमाप्ये मधुनि मुधा वदनमर्पयसि ॥ आर्या, ३।९७

मधुप ! बकुल-कलिका का रस दूर से ही रसना के अग्र भाग से पीना। ओठ गीले करने में ही समाप्य मधु में व्यर्थ ही मुँह डाल रहे हो।

विकटनितम्बा इसी भाव को यों प्रकट करती है—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग ! लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

भ्रमर ! अभी अन्य चंचल लताओं में अपना मन बहलाओ। नव-मालिका की कली का, जिसमें परागरज नहीं बना है, क्यों व्यर्थ ही कष्ट देते हो।

व्रजभाषा के यशस्वी कवि बिहारी का यह दोहा भी साथ रख लीजिए—

**नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकासु इहि काल ।**
**अली कली ही सों बँध्यो आगें कौन हवाल ॥ बि० स० ३८**

सचमुच असंजात कोश-विकाश कलिका के मकरन्द-पान के लोभी मधुप के समान प्राकृत के रस अमृत-पान लोलुप कवियों का लोभ भी कुछ कम नहीं रहा है। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण अभीष्ट नहीं।

उपर्युक्त तुलना के आधार पर हमारे निष्कर्ष ये हैं—

(१) यद्यपि संस्कृत में शृङ्गारिक रचनाओं का सर्वथा अभाव नहीं था तथापि उन्मुक्त शृंगार वर्णन की प्रवृत्ति, जो संस्कृत की अनेकानेक गीति-रचनाओं के लिए उत्तरदायी है, संस्कृत में प्राकृत से ही आयी। प्राकृत साहित्य में साधारण जन-जीवन की दैनिक प्रेम अनुभूतियों का सुन्दर चित्रण है किन्तु आगे चल कर संस्कृत के काव्य में आभिजात्य का ही बोलबाला रहा। कारण स्पष्ट है प्राकृत भाषा जन जीवन के अधिक निकट थी और संस्कृत शिष्ट लोगों और दरबारों की भाषा होने के कारण उच्चवर्ग का ही अधिक प्रतिनिधित्व करती थी।

(२) प्राकृत गीति काव्य ने भाव, शैली और शिल्प-विधान की दृष्टि से भी संस्कृत-गीति काव्य को पर्याप्त प्रभावित किया है। भर्तृहरि, विज्जका, अमरुक विकटनितम्बा आदि गीतिकारों पर उसका प्रभाव स्पष्ट है। गोवर्धनाचार्य ने तो गाथा सप्तशती के आधार पर संस्कृत मे आर्या-सप्तशती ही लिख डाली।

## ३—अपभ्रंश साहित्य का प्रभाव

जन-भाषा के प्रवाह मे बाँध बाँध कर संस्कृत और प्राकृत की जो कृत्रिम नहरें निकाली जा चुकी थीं उनसे बचा हुआ जल धीरे-धीरे आगे बहता गया जिसमें अनेक धाराएँ आकर मिलती रहीं। बांध का जल भी रिसता रिसता इसमें मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से उसके प्रवाह में तेजी आयी, तूफान आया और उसका अपभ्रंश (नीचे की ओर बिखरना) हुआ।

अपभ्रंश मे देशी शब्दों की प्रधानता थी। विभक्तियाँ घिस गईं, कुछ फिर गईं, एक ही विभक्ति कई-कई काम देने लगी। एक कारक विभक्ति से दूसरे कारक का काम भी चलने लगा। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियों के लोप हो जाने से कई अव्यय अथवा पद लुप्तविभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो स्वयं विभक्तियाँ नहीं हैं। क्रियापदों में मार्जन हुआ। केवल प्राकृत के ही तत्सम और तद्भव पद इसमें नहीं लिये गये अपितु धन-सम्पन्ना अपुत्रा मातृष्वसा (संस्कृत) से भी कई तत्सम पद ले लिये। साहित्य की प्राकृत निर्जीव हो चली थी। वहाँ गत भी गय और गज भी गय; काच, काक, काय

(शरीर) और कार्य सबके लिये काय। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—अर्थबोध का ही व्याघात होने लगा, तो लोगों ने अपभ्रंश में भी काव्य रचना प्रारम्भ कर दी। प्राकृत के ही समान देशभेद से अनेक अपभ्रंश होने पर भी साहित्य की अपभ्रंश एक ही थी। गुलेरी जी ने लिखा है कि जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि भेदों के होते हुए भी प्राकृत एक ही थी वैसे ही शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश, पैशाची अपभ्रंश आदि होकर एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई। हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है।[1]

यह ७वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक साहित्यिक भाषा के पद पर आसीन रही। अपभ्रंश के शैशवकाल में भी कितने ही अद्भुत कवि रहे होंगे और उनकी कविताएँ जनता के सबसे अधिक भाग को रसाप्लुत करती होंगी, किन्तु शिष्ट कहे जाने वाले जन-समाज से, जिसके हाथ में सामाजिक व्यवस्था और शक्ति थी, इन रचनाओं को प्रोत्साहन तथा संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ जिसके कारण वे बालू की रेखा के समान मिट गई। किन्तु इन विस्मृत जन-कवियों ने जनता की जीवित भाषा में सुन्दर रचनाएँ कर संस्कृत और प्राकृत जैसी रूढ़ साहित्यिक भाषाओं को चेलैंज अवश्य दिया जिसका प्रभाव यह हुआ कि अपभ्रंश की किशोरावस्था समाप्त होते होते उसका रूप रंग और स्वभाव निखरे और निर्मल रूप मे सामने आये, सहृदय रसिकों के हृदय में गुदगुदी करने में उसके गुण समर्थ हुए।

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पतञ्जलि से भी पहले मिलता है। वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्यकार के पूर्ववर्ती संग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए अपभ्रंश शब्द का निर्देश किया है।[2] इसके बाद पतञ्जलि ने महाभाष्य में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग शिष्ट-संमत भाषा से विकृत शब्दों के लिये किया है।[3]

छठी शताब्दी में भामह ने स्पष्ट रूप से सर्वप्रथम अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के अर्थ में किया और उसे साहित्योपयोगी भाषा मानते हुए संस्कृत और प्राकृत के ही समकक्ष रखा।[4] दण्डी के अनुसार भाषा शास्त्र (व्याकरण) में

1. पुरानी हिन्दी, पृष्ठ ९।

2. शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥

वार्तिक—'शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः' इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतन्त्रः कश्चिद् विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदालभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्तया प्रमादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोऽपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते। (भर्तृहरि—वाक्यपदीयम्, प्रथमकाण्ड कारिका १४८)

3. एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद् यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। (म० भा० १, १, १)

4. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥ (काव्यालङ्कार १, १६, २८)

अपभ्रंश शब्द का अर्थ है संस्कृत से विकृत रूप भाषा और काव्य में आभीर आदि जातियों की बोली अपभ्रंश कहलाती है।[1] वलभी के राजा धरसेन द्वितीय ने अपने पिता गुहसेन को एक शिलालेख (५५६-५६६ ई०)[2] में संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश का कवि बताया है।[3] आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का अनुमान तो यहाँ तक है कि अपभ्रंश का साहित्य पाँचवी ६ठी शताब्दी में काफी मात्रा में वर्तमान था।[4] बाण की घुमक्कड़ मण्डली में उसका एक परमप्रिय मित्र भाषा[5]-कवि ईशान भी था जिसका उल्लेख उसने अपने हर्ष चरित में किया है। संस्कृत के तत्कालीन सर्व-प्रसिद्ध कवि का मित्र होते हुए भी ईशान की रचनाएँ जीवित रखने योग्य नहीं समझी गई। इसी प्रकार न जाने कितने कवियों की सुन्दर कृतियाँ बेमौत काल के गाल में समा गयी होंगी।

नवीं शताब्दी के अन्त में प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने अपने बाल-रामायण में संस्कृत को श्रव्य, प्राकृत को मधुर और अपभ्रंश को भव्य कहा है। राज-सभा में संस्कृत और प्राकृत कवियों के साथ अपभ्रंश कवियों के बैठने की व्यवस्था का भी उसने काव्यमीमांसा में उल्लेख किया है जिससे प्रमाणित होता है कि उस समय अपभ्रश के कवि और कविता राज सभाओं में आदृत होने लगे थे। उसी प्रकरण मे भिन्न-भिन्न कवियों के बैठने की व्यवस्था का उल्लेख करते हुए राजशेखर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश के कवियों के स्थान का भी उल्लेख किया है।[6]

अपभ्रश के कवियों को जौहरी, चित्रकार, सुनार और बढ़ई आदि समाज के मध्यम श्रेणी के पुरुषों के साथ बैठाने की व्यवस्था थी। इससे दो बातों का पता चलता है। एक तो यह कि सस्कृत और प्राकृत भाषा के कवियों का आदर अब भी अधिक था और दूसरी यह कि संस्कृत जानने वालों का क्षेत्र संकुचित था, प्राकृत जानने वालों का अपेक्षाकृत कुछ विस्तृत और अपभ्रंश जानने वालों का सर्वाधिक विशाल था। उसका सम्बन्ध जन-साधारण से था। राजा के परिचारक वर्ग का अपभ्रंश-भाषा-प्रवण होना भी इसी बात की ओर संकेत करता है। श्रीमुनि

1. आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्।। काव्यादर्श १।६
तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्।। वही १।३२
2. कीथ, हिस्ट्री आफ सं०, पृष्ठ ३२।
3. संस्कृत प्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचना निपुणतरान्तःकरण।
(वलभी के धरसेन द्वितीय का दानपत्र)
इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग १०, अक्तूबर १८८१, पृष्ठ २८४।
4. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ९२।
5. इस समय की उत्तरी भारत की बाणकथित भाषा अपभ्रंश ही हो सकती है (राहुल सांकृत्यायन, अवन्तिका, अंक १, पृष्ठ ७४।
6. काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५४।५५।

जिनविजय द्वारा सम्पादित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अनेक अपभ्रंश पद्य मिलते है। इस ग्रन्थ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनेक राजाओं की सभाओं में अपभ्रंश का चिरकाल तक प्रचार रहा। राजा भोज और उनके पूर्ववर्ती कितने ही राजा अपभ्रंश कविताओ का सम्मान ही नहीं करते थे अपितु स्वयं भी अपभ्रंश मे रचनाएँ करते थे। अपभ्रश के स्वर्ण युग मे स्वयंभू, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनन्दी कनकामर, धाहिल आदि अनेक अपभ्रंश कवि हुए जिन्होंने महापुराण, पुराण और चरित-काव्यों के अतिरिक्त रूपक काव्य, कथात्मक ग्रन्थ, सन्धि काव्य, रासक, स्तोत्र आदि की भी रचना की। संस्कृत और अपभ्रश साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध का पर्यवसान आदान-प्रदान में होना स्वाभाविक ही था। अपभ्रश को संस्कृत साहित्य की अत्यन्त पुष्ट एवं समृद्ध परम्पराएँ अधिगत हुई थीं। जैन कवियों ने संस्कृत के अनुकरण पर ही अपने पुराण, महापुराण और चरितकाव्य अपभ्रंश में लिखे। वे मानो प्रतिज्ञा करके चले थे कि किसी प्रकार के साहित्य के लिये वे परमुखापेक्षी न रहेगे किन्तु इसमे सन्देह नही कि वर्ण्य-विषय, भाव और शैली की दृष्टि से प्राय. सस्कृत साहित्य ही उनका आदर्श रहा, फिर भी संस्कृत साहित्य को—विशेष रूप से संस्कृत के प्रगीत मुक्तकों अथवा गीति-काव्य को—भी अपभ्रंश साहित्य ने प्रभावित किया।

अपभ्रंश में चर्चरी नाम की रचना का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। चर्चरी, चाञ्चरी और चाचरि या चाँचर सब पर्यायवाची शब्द हैं। चर्चरी शब्द ताल एवं नृत्य के साथ विशेष रूप से उत्सव आदि में गायी जाने वाली रचना के बोधक हैं।[1] विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अक में इस प्रकार के बहुत से पद्य दिये गए हैं जिन्हें अधिकतर विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है। श्रीहर्ष की रत्नावली में भी चर्चरी का उल्लेख है—"**अये यथाहमभिहन्यमानमृदुमृदंगानुगतगीतमधुर: पुर: पौराणां समुच्चरति चर्चरीध्वनिस्तथा तर्कयामि।**[2] हरि कवि (१०७६) के 'जम्बसामिचरिउ'[3] में तथा नयनन्दी के 'सुदंसणचरिउ'[4] में भी चर्चरी का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में सोलनकृत चर्चरी का व्याख्यान है। एक 'वेलाउली' राग में गेय ३६ पद्यों की चाचरि स्तुति और गुर्जरी राग में गेय १५ पद्यों की 'गुरुस्तुति चाचरि' का पाटण भण्डार की ग्रन्थ सूची में निर्देश मिलता है। रचना की बानगी लीजिये—

**पहिउ भणइ पहि जंत अमंगलु मह म करिः।**
**कयवि कयवि पुणरत्त बाह संवरिवि घरि।।**

1. हरिवंश कोछड, अपभ्रंशसाटक, सेठ गोविन्ददास अभिनन्दनग्रन्थ, पृष्ठ ६५२।
2. रत्नावली,
3. चच्चरिबंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारु जसु। जम्ब० १।४
4. जिणहरेसु आढक्कि सुचच्चरि, करहि तरुणि सवियारी चच्चरि। सुदंसण चरिउ ७।५

**पहिय ! होउ तुह इच्छ अज्ज सिज्झउ गमण ।।**
**मइ न रुन्नु विरहग्गि धूम लोयण सवण ।।**[1]

प्रस्थान करता हुआ पथिक कहता है—सुन्दरि ! रो रो कर मार्ग में जाते हुए मेरा अमङ्गल न करो, अपने इन आँसुओं को रोके रहो। इस पर विरहिणी उत्तर देती है पथिक तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, तुम्हारा गमन आज सिद्ध हो। मैं रो नहीं रहीं हूँ, हाँ विरहागिन के धूमाधिक्य से आँखों में जल आ गया है।

कहने की आवश्यकता नही कि वर्ण्य विषय और भावपक्ष की दृष्टि से अपभ्रंश की ये रचनाएँ प्राकृत और संस्कृत के साहित्य की परम्पराओं से अत्यन्त निकट का संबंध रखती हैं किन्तु शैली की दृष्टि से ये मौलिक परिवर्तन की सूचना देती हैं। तुक अथवा अन्त्यानुप्रास की परिपाटी के सर्वप्रथम दर्शन अपभ्रंश साहित्य में ही होते हैं। संस्कृत एवं प्राकृत के साहित्य में कहीं अनायास ही अन्त्य तुक आई होगी; जान-बूझ कर संगीत-सौन्दर्य उत्पन्न करने के उद्देश्य से उसके प्रयोग की प्रवृत्ति अपभ्रंश साहित्य की ही देन है जिसका उद्गम लोक-साहित्य के अतिरिक्त अन्य हो नहीं सकता। जिस प्रकार लावनी आदि अनेक हिन्दी छन्दों के जन्मदाता मूलतः लोक-कवि ही रहे है उसी प्रकार इस नयी प्रवृत्ति के प्रवर्तक भी तत्कालीन जन कवि ही रहे होंगे। जब अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के पद पर आरूढ़ हुई तो अपनी इस विशेषता को साथ लेकर ही आगे बढ़ी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत भी यही है। वे लिखते हैं—

"दोहा (दूहा) वह पहला छन्द है, जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी ऐसी अपभ्रंश कविता नही लिखी गई जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश केवल नवीन छन्द लेकर ही नहीं आई, बिल्कुल नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर भी आविर्भूत हुई। ·········छठी सातवीं शताब्दी तक भारतवर्ष में उत्तर-पश्चिम सीमान्त से अनेक नई जातियों का आगमन हुआ और उनके कारण इस देश की भाषा में भी नए-नए तत्त्व प्रविष्ट हुए और कविता भी नवीन कारीगरी से समृद्ध हुई। हो सकता है कि यह तुक मिलाने की नवीन प्रथा भी नवीन जातियों के सम्पर्क का फल हो।"[2] एक दूसरी विशेषता, जिसका इस प्रवृत्ति से बहुत कुछ सम्बन्ध है, राग रागनियों का प्रादुर्भाव है। अपभ्रंश साहित्य के उषःकाल में ही हमें इन दोनों विशेषताओं के दर्शन होते है। पूर्ववर्ती साहित्य में इन परम्पराओं का सर्वथा अभाव इन्हें अपभ्रंश युग की ही विशेषताएँ मानने के लिये बाध्य करता है। छन्द:संगीत के अतिरिक्त मार्गीय और देशी संगीत से भी साहित्य का प्रगाढ़ सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा इस युग में की गई। इन दोनों ही प्रवृत्तियों ने संस्कृत साहित्य को—विशेष रूप से गीतिकाव्य को—बहुत दूर तक प्रभावित किया।

1. पाटण भण्डार की ग्रन्थ सूची, पृष्ठ १६०।
2. हिन्दी साहित्य का आदि काल, पृष्ठ ६३।

ऊपर वलभी के राजा गुहसेन तथा बाण के परम मित्र भाषा कवि ईशान की चर्चा की गयी है जिन की कोई रचना आजकल उपलब्ध नही है। ईशान से लगभग एक शताब्दी बाद के सिद्ध कवि सरहपा की कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं। इसलिये जब तक किसी अन्य प्राचीन कवि अथवा कवियो की रचनाएँ प्राप्त नही हो जाती तब तक सरहपा ही अपभ्रश के सर्वप्रथम कवि ठहरते हैं। सरहपा और उनके प्रधान शिष्य शबरपा राजा धर्मपाल (७६९-८१५ ई०) के समकालीन थे।[1] सरहपा ने ही राग-रागनियो की यह गीति-परम्परा साहित्य मे चलायी जिसका प्रभाव और प्रचार आज तक भी चला आता है। राग गुजरी (गुर्जरी) मे उनका गीत[2] देखिए—

अपणे रचि रचि भवनिब्बाणा, मिच्छें लोअ बँधावइ अपणा।
अम्हें ण जाणहु अचिन्त जोई, जाम मरण भव कइसन होई॥
जइसो जाम मरण वी तइसो, जीवते मइले णाहि विशेषो।
जा एथु जामा मरणे वश का, सो करउ रस रसाने रे कखा॥
जे सचराचर ति अस भमन्ति, जे अजराजर किम्पि न होन्ति।
जामे काम कि कामे जाम, सरह भणइ अचिन्त सो धाम॥

उनका एक अन्य गीत लीजिए जो गुह्य भावना से ओत-प्रोत है—

ऊँचा ऊँचा पावत तहिं वसइ सबरी बाली।
मोरङ्गी पिच्छि पहिरहि सबरी गीवत गुजरी माला॥
ऊमत सवरो पागल सबरो, माकर गुली गुहाडा।
तोहारि णिअ घरणी सहज सुन्दरी॥ ध्रु०
णणा तरुवर मौलिल रे, गअणत लागेलि डाली।
एकली सबरी ए बन हिण्डइ, कर्णकुण्डल वज्रधारी॥

तिअ धाउ खाट पडिला सबरो, महासुह सेज्जि छाइली।
सबरो भुजग णइरामणि दारी, पेक्ख (त) राति पोहाइली।
हिए ताबोला महासुहे कापुर खाई।
सुन निरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाई॥
गुरु बाक पुछआ बिन्ध णिअ मणे वाणें।
एके शरसन्धानें बिन्धह, बिन्धह परम णिवाणें॥
उमर सबेरो गरुआ रोवे।
गिरिवर सिहर सन्धि पइसन्ते, सबरो लोडिब कइसे॥

ऊँचे-ऊँचे पर्वत पर शबर बालिका बैठी है जिसके सिर पर मोर पख और

1. राहुल सांकृत्यायन, अवन्तिका १९५४, अक १, पृष्ठ ७८।
2 वही, पृष्ठ ७८।
1. राहुल सांकृत्यायन द्वारा सपादित दोहाकोश की भूमिका में उद्धृत, पृष्ठ २४।२५।

ग्रीवा में गुंजा की माला है। उसका प्रिय शबर प्रेम में उन्मत्त है। 'ओ शबर ! तू हल्ला-गुल्ला मत कर। तेरी अपनी गृहिणी सहज सुन्दरी है। उस पर्वत पर नाना प्रकार के तरुवर फूले हुए हैं, जिनकी डालियाँ गगन से लगी हुई हैं कान में कुण्डल वज्र धारे शबरी अकेली इस वन में घूम रही है। दौड़ कर खाट पर महासुख सेज पर शबर पड़ गया। शबर भुजग (विट) और नैरात्म्य (शून्यता) वेश्या (दारी) को देखते रात बीत गई। हृदय तांबूल को महासुख रूपी कपूर के साथ खा, शून्य नैरात्म्य को कण्ठ लगा महासुख में रात बीत गई। गुरु-वचन पूछ कर निज मन-रूपी बाण से बेंध एक ही शर-सन्धान में बेध-बेध परम निर्वाण को।

इस प्रकार के पदों को सरहपा ने 'गीति' नाम से ही अभिहित किया है। उन्होंने ने अनेक गीतियों की रचना की थी जिनके नाम हैं—कायकोष, अमृत-वज्र गीति' चित्तकोष, अज वज्र गीति, डाकिनी-गुह्य वज्रगीति, चर्यागीति और सरहपाद गीतिका। उनके गीतों के विषय हैं रहस्यवाद, सहज मार्ग, उपदेश काया-तीर्थ आदि। सरह के ये गीत पद शैली के आरम्भ की सूचना देते हैं। इनमें गीतों के सभी मूल तत्त्व निहित हैं। पद्य छोटे होते है, वर्णनात्मकता का अभाव है, चिन्तनशील साधु की सहज अनुभूतियाँ सरलता के साथ अभिव्यक्त हुई है। गीतों मे रागदेशाख, राग-भैरवी, राग-मालसी, राग गुंजरी आदि का संकेत भी है। सारे पद्य में एक ही भाव मिलता है और अन्तिम पक्ति मे 'सरह भणइ' की छाप भी प्राप्त होती है। पद्य की पंक्तियों में मात्रा आदि का कोई हिसाब नही है। धुन ही पद्य रचना का मूल आधार है, पद्य की पंक्तियाँ छोटी बड़ी हैं। कवि की आत्मा-भिव्यक्ति तीव्र है। सरहपा की इन रचनाओं में अन्त्यानुप्रास और गीत शैली के प्रथम बार दर्शन होते हैं। जैसा कि संकेत किया जा चुका है ये प्रवृत्तियाँ सम्भवतः लोक-साहित्य से ग्रहण की गयीं। सरहपा और उनकी परम्परा के सभी सिद्धों का सम्पर्क निम्न वर्ग के लोगों से ही अधिक था। उच्च वर्ग के व्यक्ति न तो उनके वज्रयानी पन्थ को ही अच्छी दृष्टि से देखते थे और न ही इन सिद्धों को श्रद्धेय समझते थे। जन साधारण में अपने मत का प्रचार करने और अपनी अलौकिकता का आतङ्क जमाने के उद्देश्य से सिद्धों ने जन-भाषा में लोक-शैली के माध्यम से ही अपना अभीष्ट साधन उचित समझा। भगवान् बुद्ध और महावीर के उदाहरण उन के सामने थे। यही कारण है कि सरहपा जैसे संस्कृत के विद्वान् ने भी अपभ्रंश में ही रचनाएँ कीं और उनमें भी सरलता और स्वाभाविकता का ध्यान रखा। उनकी गुह्य भावनामय रचनाएँ ही रहस्यमय होने के कारण कुछ दुरूह है, अन्यत्र सर्वत्र प्रसाद शैली अपनाई गई है। इन कारणों से यही सिद्ध होता है कि साहित्य जगत् में ये नूतन विशेषताएँ (अन्त्यानुप्रास एवं गीत शैली) सरहपाद ने ही लोक-साहित्य से लेकर प्रवर्तित कीं। श्री शङ्कराचार्य के नाम से प्रचलित 'भजगोविन्दम्' स्तोत्र में भी ये विशेषताएँ लक्षित होती हैं—

भज गोविन्द भज गोविन्द गोविन्द भज मूढमते !
दिनमपि रजनी साय प्रात , शिशिरवसन्तौ पुनरायात ।
काल. क्रीडति गच्छत्यायु तदपि न मुञ्चत्याशावायु
भज गोविन्द भज गोविन्दम् ।।
बालस्तावत्क्रीडासक्त , तरुणस्तावत्तरुणीरक्त. ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्न , पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्न ।।
भज गोविन्द भज गोविन्दम् ।

इस स्तोत्र को यदि शङ्कराचार्यकृत ही मान भी लिया जाये तो भी हमारे कथन की सिद्धि मे कोई बाधा नही आती उलटे उस की पुष्टि ही होती है । शकराचार्य और सरहपाद समकालीन ही थे । फिर भी यह सम्भावना नही कि शैली की दृष्टि से एक दूसरे की रचनाएं परस्पर प्रभावित हुई हो । इससे यह सिद्ध होता है कि दोनो ने एक ही उद्गम से इन विशेषताओ को ग्रहण किया होगा और यह उद्गम लोक-साहित्य के अतिरिक्त कुछ नही हो सकता । सस्कृत मे यह अन्त्यानुप्रास की प्रवृत्ति शकराचार्य के पश्चात निरन्तर नही चली । छुट पुट रचनाएँ शायद हुई हो । स्वय शकराचाय जी की रचनाओ म भी इसके प्रति आग्रह नही दिखाया गया । इसके अतिरिक्त उक्त स्तोत्र मे उन्होने जो शैली अपनायी है वह सरहपा द्वारा प्रचलित गीत शैली से सर्वथा भिन्न है । इसलिये क्षमेन्द्र जयदेव आदि उत्तरवर्ती सस्कृत कवियो की रचनाओ मे जिस तुकान्त गीत शैली के दशन होते हैं वह सस्कृत साहित्य म हो विकसित होती हुई उन तक नही पहुची । उसका विकास अपभ्रश मे हुआ । यही स वह इनके द्वारा अपनाई गई क्योकि शकराचाय की शैली की अपेक्षा वह सरहपा की शैली स अधिक सम्बद्ध प्रतीत होती है । लाक साहित्य का प्रभाव भी उन पर लक्षित किया जा सकता है । यह भी ध्यान देने की बात है कि सस्कृत मे तुक का निर्वाह गीत शैली म ही किया गया है । अन्यत्र उसका ध्यान नही रखा गया । यद्यपि घटखर्पर का नाम लेकर सस्कृत साहित्य मे तुकान्त रचनाओ के आविर्भाव का समय शकर अथवा सरहपा से पहले सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा सकता है तथापि दोनो मे एक तात्त्विक अन्तर है । घटखर्पर का तात्पय अन्त्यानुप्रास मे नही है यमक मे है (**जीयय येन कविना यमकै परेण** कह कर उसने स्पष्टतया इमी बात पर बल दिया है) जबकि सरहपा और शकर का लक्ष्य तुक या अन्त्यानुप्रास है ।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य जो सरहपा के उक्त गीत मे दीख पडता है, यह है कि निर्वाण की साधना का लौकिक प्रेम-व्यापारो के साथ रूपक बाँधा गया है । इसके अधिकाश मे मनोहर पर्वत निवास मे शबर बालिका एव उसके तरुण प्रेमी की शृङ्गार चेष्टाएँ ही सुन्दर और स्वाभाविक रूप मे वर्णित हैं, यदि कुछ विशेष साकेतिक शब्दो पर ध्यान न दिया जाये तो यह एक शृङ्गारी कविता है ।

1. देखिये, दोहाकोष भूमिका, पृष्ठ १५ ।

प्रत्येक पाठक इन सांकेतिक शब्दों को न तो समझ ही सकता है और न इन पर ध्यान देने के लिये बाध्य ही है। राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही कहा है कि इनके श्लेष परम-पदपरक होने पर भी साधारण कामुकता को भी प्रकट करते हैं जिसके कारण पीछे वह घोर वामाचार के सहायक बन गए।[1] सरहपा की ही नहीं, सभी सिद्धों की कविताएँ इसी ढंग की हैं। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह निकला कि कालान्तर में संस्कृत में भी लौकिक अलौकिक प्रेम का एकीकरण कर धर्म के नाम पर उन्मुक्त शृङ्गारिक काव्य रचना का प्रचलन हुआ। जिन दिव्य पात्रों—देवी-देवताओं—की रति का वर्णन अनुचित समझा जाता था, जिसके लिये कदाचित् कालिदास की भी आलोचना हुई, वह एक साधारण वर्ण्य विषय के रूप में स्वीकृत हुई। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृत कवियों की इस प्रवृत्ति का एकमात्र कारण इनका ही प्रभाव है। इस प्रकार की रचनाएँ पहले के काव्यों में भी खोजी जा सकती हैं, फिर भी राधा कृष्ण या शिव-पार्वती जैसे उपास्य देवी-देवताओं को साधारण नायक नायिका के रूप में शृङ्गारिक रचनाओं के रंगमञ्च पर अवतरित कराने में इनका बहुत बड़ा हाथ है। सिद्धों के आचार और साधना के विलक्षण स्वरूप ने जिस सामाजिक वातावरण का प्रसार किया था वह भी इस प्रवृत्ति के अंकुरित होने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। इसका विवेचन आगे यथा-स्थान किया जायेगा।

सरहपा की परम्परा को अन्य सिद्ध भी बराबर पुष्ट करते रहे। शबरपा (९वी शती) ने भी सरह की ही भाँति गीतियों की रचना की। उनकी गीतियाँ चित्तगुह्यगीति, गम्भीरार्थगीति, और महामुद्रावज्रगीति के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन की पद्य-रचना में भी छन्द योजना का कोई नियम नहीं। गीतियों में रागों के नाम भी उन्होंने दिये हैं और अन्त में नाम की छाप भी। इसी परम्परा में भसुकपा, लुइपा, विरूपा, डोम्बिपा, दारिकपा, मुंडरिपा, कमरिपा और कन्हपा के गीत मिलते हैं जिनमें नये नये रागों—राग, पट मञ्जरी, मल्लारी, कामोद, राग बंगाल, राग धनसी, राग अरुण, राग देवश्री, राग रामश्री, राग शबरी आदि—का प्रयोग हुआ है। इन रागों का शास्त्रीय विवेचन शार्ङ्गदेव (१३ वीं शताब्दी) ने अपने संगीत रत्नाकर में किया है। तात्पर्य यह है कि जिन रागों का शास्त्रीय विवेचन बाद में हुआ है उनकी रूपरेखा सिद्धों ने ही प्रस्तुत कर दी थी। इस प्रकार उन्हें शास्त्रीय संगीत से आबद्ध गीतों का रचयिता माना जाना चाहिये।

## नाथों का साहित्य

सिद्धों की एक शाखा नाथपंथ के रूप में प्रसिद्ध हुई जिसके आदि गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ माने जाते हैं। गोरखवाणी की भाषा पुरानी हिन्दी कही जा सकती है जब कि सिद्धों की अपभ्रंश प्राकृत के अधिक निकट है। इससे

1. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २४।

स्पष्ट है कि नाथों की रचनाएँ सिद्ध साहित्य के बाद और सन्तों के पहले हुई। गोरख-बाणी में सबदी और पद संगृहीत हैं। सबदी में लोक गीतों की लय है। पद दो-दो पंक्तियों के हैं जिन्हें अपभ्रंश की दोवई (द्विपदी) का विकसित रूप कहा जा सकता है यथा—

बसती सुन्यं सुन्य न बसती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन सिखर महिं बालक बोले ताका नाम धरहुगे कैसा ।[1]

गोरख की पद शैली का भी एक उदाहरण लीजिए—

अवधू ऐसा ग्यान बिचारी ता मैं झिलमिल जोति उजाली । (टेक)
जरा जोग तहाँ रोग न ब्यापै, ऐसा परिस गुरु करनां ।
तन-मन सूं जे परचा नाहीं, तौ काहे को पचिपरनां ।
काल न मिट्या जंजाल न छूट्या, तपकरि हूवा न सूरा।
कुल का नास करै मति कोई जै गुरु मिलै न पूरा ।
कंद्रप रूप काया का मंडण अबिरथा काइ उलीचां ।
गोरख कहै सुणौ रे भौंदू अरड अमी कत सींचां ।[2]

गोरख की यह पद शैली सिद्धों की गीति शैली से भिन्न है। सिद्धों के गीतों की राग-पद्धति का विकास इसमें नहीं है हाँ गीत की टेक नयी वस्तु है। शास्त्रीय स्वर-योजना के स्थान पर इसमें अपनी स्वतन्त्र धुन है। शास्त्रीय गीत में आरोह-अवरोह होता है किन्तु गोरख बानी के गीतो मे टेक के पश्चात् के चरणों में अन्तरा का आरोह-विधान नही है अपितु मनमानी स्वर-योजना है। इससे प्रतीत होता है कि गोरख ने सिद्धों के चर्यागीतों का विकास नये ढंग से किया। गोरख के पद ही परवर्ती सन्त कवियों के गीतों के आदर्श रहे।

अपभ्रंश साहित्य के गीति साहित्य और संस्कृत गीति साहित्य पर उसके प्रभाव का उल्लेख करते समय यदि पुष्पदन्त की चर्चा न की गयी तो बात अधूरी ही रह जायेगी। महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार पुष्पदन्त का रचना-काल ६५६-६७२ ई० है।[3] इसके जसहरि-चरिउ और महापुराण में कृष्ण लीला सम्बन्धी पद मिलते हैं। पद के प्रारम्भ में दोवइ और अन्त में घत्ता प्राकृत के प्रसिद्ध मात्रिक छन्द हैं।[4] कुछ पदों के आदि में दोवइ नहीं मिलती और कुछ में घत्ता भी नहीं मिलता। दोवइ और घत्ता के अतिरिक्त १६ मात्राओं के चरणों वाले भी पद हैं। चरणों की संख्या निश्चित नहीं है। चार से लेकर सोलह पंक्तियाँ तक हैं। प्रत्येक पद स्वतन्त्र और पूर्ण है। शब्द-योजना संगीतात्मक है। विषय और

1. गोरखबानी (पीताम्बरदत्त बडथ्वाल); सबदी १ पृष्ठ १।
2. वही, पृष्ठ ३२।
3. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ११७।
4. प्राकृतपैङ्गल, पद्य ९९,१०१,१५२,१५३।

शैली को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पुष्पदन्त की रचनाओं में गीत-शैली-निबद्ध कृष्ण-चरित विषयक गीति काव्य का प्रारम्भिक स्वरूप मिलता है। जिसका विकसित रूप एक ओर तो संस्कृत के लब्धप्रतिष्ठ गीतकार कवि जयदेव के गीत-गोविन्द में मिलता है और दूसरी ओर भक्ति युग के हिन्दी कवियों में। एक उदाहरण लीजिए—

धूलिधूसरेण वरमुक्कसरेण तिणा मुरारिणा।
कीला-रस-वसेण-गोवालय-गोवी-हियय-हारिणा ॥
रंगंतेण रमंतरमंते। मंथउ धरिउ भमंतु अणंते।
मंदरिउ तोडिवि आवट्टिउं। अद्ध विरोलिउं दहिउं पलोट्टिउं ॥
कावि गोवि गोविन्दहु लग्गी। एण महारी मथाणि भग्गी।
एयहि मोल्लु देउ आलिंगण। णं तो या मेल्लहि में प्रंगण ॥

घत्ता प्रसरिय-कर-यलेंहिसहंतिहि सुइ सुहकारिणिहिं।
भद्दिय णियडिविए वरयम्मुण लग्गइ णारिहिं ॥

प्रथम दो पंक्तियों का संस्कृत रूपान्तर यह होगा—

*धूलि धूसरेण वरमुक्तसरेण तेन मुरारिणा।*
*कीडा-रसवशेन गोपालय-गोपी-हृदय हारिणा॥*

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये पंक्तियाँ गीत गोविन्द की पंक्तियों से मेल खाती हैं। उक्त पद में द्विपदी टेक का कार्य करती है। घत्ता की तुक द्विपदी की तुक से मिल कर संगीतात्मक स्वरैक्य उत्पन्न करती है। गोपियों के कावि गोवि गोविन्दहुलग्गी। एयहि मोल्लु देहु आलिंगन, णं तो या मेल्लह में प्रंगण आदि आत्मोद्गार गीतात्मक अभिव्यक्ति के सुन्दर उदाहरण हैं।

पुष्पदन्त के लीला सम्बन्धी पदों से ज्ञात होता है कि दसवी शताब्दी में कृष्ण लीला विषयक स्फुट गीत उत्तरी भारत में प्रचलित थे। सम्भवतः कृष्ण के लीला क्षेत्र ब्रज भूमि में इन गीतों का प्रचलन विशेष रूप से था। पुष्पदन्त ब्रज प्रान्त के निकट के थे। अतः उनके बाल्यकाल में जो संस्कार उन पर पड़े वे कृष्ण लीला विषयक पदों में प्रस्फुटित हुए। यही कारण है कि जैन होते हुए भी उन्होंने कृष्ण लीलाओं का गान किया है।

इस प्रकार अपभ्रंश साहित्य में अन्त्य तुक और गीति शैली की विशिष्ट परम्पराओं का जो विकास हुआ था उसका संस्कृत-गीति-साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा। गीतगोविन्द की शैली और शिल्प-विधान, जो बाद के अनेक कवियों के लिए आदर्श बने, इसी प्रभाव का परिणाम है जिसकी चर्चा आगे यथा-स्थान की जायेगी।

६

• • •

# शृङ्गारिक-गीत-परम्परा

* * *

## पृष्ठभूमि

पिछले अध्याय मे हम यह सकेत कर आये हैं कि विक्रम सवत के लगभग भारतीय काव्यधारा में एक महत्त्वपूर्ण मोड उपस्थित हुआ जिसके परिणाम स्वरूप कवियो की रुचि बाह्य प्रकृति की ओर से हटकर मानवीय प्रकृति की ओर विशेषतया सचेष्ट होती हुई रसात्मक काव्य की सृष्टि में रमने लगी, परलोक से हटकर कवि की सरस्वती ने इसी लोक मे विचरण करना प्रारम्भ किया साहित्य के क्षेत्र मे नयी गतिविधि, नयी शैली, नये विषय और नयी परम्पराओ ने पदार्पण किया कविता नारायण की ओर से नर की ओर, प्रकृति की ओर से नारी की ओर मुडी राज-घरानो का वैभव उसे अच्छा लगा, ग्राम-वधुओ की लीला भूमि शस्य श्यामला विश्वम्भरा मे उसकी मनोवृत्ति लीन हुई और मानव समाज के बीच मे रहकर गृहिणी का सा जीवन व्यतीत करने को उसका जी चाहा। वीरभावो की अभिव्यक्ति मे अब उसे उतना आकर्षण न रह गया था और वह नवयौवना की भाँति कैशोर्य की सरलता का त्याग कर शृगार के क्षेत्र मे सपुलक प्रविष्ट हुई। रस उसका लक्ष्य बन गया, ललित वचनों से सहृदय-मन को मोहने में और लचीली गति से औत्सुक्य सञ्चार करने मे वह प्रवृत्त हुई। कोमल शब्दो के झीने से कौशेय-अवगुण्ठन मे लिपटी हुई वह कुछ ऐसी ध्वनि में बातें करने लगी जिसमें हृदय को गुदगुदाने की अप्रतिहत शक्ति लक्षित होती है ऐसी शक्ति जिसके समक्ष मनुष्य का सिर झुकता नही झूम उठता हैं। फिर भला 'केषां नैषा कथय कविता-कामिनी कौतुकाय'। आगे चलकर सातवाहन नृप हाल ने इस कामिनी के उस अवस्था में विभिन्न मुद्राओ को, विभिन्न ध्वनियो को, विभिन्न अलङ्कारो को और विविध व्रतियो को स्पष्ट अभिव्यक्त करने वाले जो सात सौ चित्र इकट्ठे किये वे उसके सौन्दर्य का पर्याप्त दर्शन करा देते हैं। इस परिवर्तित परम्परा के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझने के लिये हमे उस काल की झाँकी का अवलोकन करना होगा, इसकी पृष्ठ भूमि को समझने के लिए तत्कालीन भारत भूमि का निरीक्षण करना होगा और इसकी आत्मा को जानने के लिए तत्कालीन समाज से परिचय करना

पड़ेगा। अतएव यहाँ उस समय की राजनैतिक, आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने का प्रयास किया जायेगा।

राजनैतिक स्थिति—भारत एक महान् देश है जो सदा से ही छोटे-छोटे राज्यों में बँटा चला आ रहा था। अपनी-अपनी महत्ता और एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने के प्रयास में इन राज्यों का पारस्परिक संघर्ष ही भारतीय इतिहास का मूलसूत्र है। दूसरी ओर इस सोने की चिड़िया के पर उखाड़ कर ले जाने के लिए या इस पर पूर्णतया अपना अधिकार करने के लिए चिर अतीत से विदेशीय जातियों का मन लालायित होता रहा है किन्तु हमारे आलोच्यकाल में इस प्रकार के अन्त कलह और बाह्य आक्रमणों से जनित विक्षोभ जन-जीवन में प्रायः नहीं दीख पड़ता, छुट-पुट घटनाएँ अवश्य हुईं जिनको इस दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। शक, कुशाण और यूनान के लोगों का आक्रमण एक अतीत की बात हो गई थी और हूणों का आक्रमण अभी कई शताब्दी बाद होने वाला था। शक, कुशाण और यूनानियों ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में छोटे छोटे राज्य अवश्य स्थापित कर लिये थे, पर ये इतने से ही सन्तुष्ट थे। हूण लोग भी भारतीय सीमा तक आ गए थे पर इन्होंने भारत में अभी तक प्रवेश नहीं किया था।[1]

ये आक्रामक जातियाँ किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर भारत नहीं आई थीं, किसी विशेष प्रकार की धार्मिक मनोवृत्ति भी इनकी नहीं थी। सब से मुख्य बात यह थी कि इन जातियों ने भारत में जम जाने के पश्चात् अपने मूल देश से कोई सम्बन्ध नहीं रखा, बाह्य देशों के गीत नहीं गाए, ये लोग पूर्णतया भारतीय बन गए और भारत को ही अपना देश समझते थे। इनके मूल देश वाले भी इनको प्रायः भूल ही गए थे। भारतीय रीति-नीति और आचार-विचार का अनुसरण करने मे ये अपना गौरव समझते थे और भारतीय ज्ञान-विज्ञान तथा कला-कौशल के विकास में योग देना ये अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। इन लोगों की भारतीय मनोवृत्ति का परिचय इसी से स्पष्ट है कि इन्होंने अपनी सतति के नाम भारतीय ही रखने प्रारम्भ कर दिये। भारतीय विद्वानों को इन्होंने आदर दिया। यूनानी शासक मिनेण्डर (१६०–१४० ई० पू०) बौद्ध हो गया था और उसने अपना नाम बदल कर मिलिन्द रख लिया था। तक्षशिला के राजा अन्तलिखित के राजदूत हेलियो पोरस द्वारा दूसरी शती ई० पू० के मध्य में बेसनगर (विदिशा) में स्थापित किया गया गरुडध्वज उसके वैष्णव धर्म को अङ्गीकार करने का प्रमाण है। पश्चिमी भारत के महाक्षत्रप नहपान (लगभग ८२–७७ ई० पू०) का जामाता उषवदात कट्टर हिन्दू था। नासिक के एक गुहा लेख से ज्ञात होता है कि उसने तीन लाख गौएँ और सोलह गाँव ब्राह्मणों को दान किये थे। आठ ब्राह्मण-कन्याओं के विवाह में अपने व्यय से कन्या दान दिया और साल भर तक एक लाख ब्राह्मणों को

१. देखिए, मजूमदार द्वारा लिखित "एंशिएण्ट इण्डिया"

भोजन कराया था। तक्षशिला के शक शासक पतिक के तथा मथुरा के शक क्षत्रप रजुल (लगभग ६०-८५ ई० पू०) की पटरानी के बौद्ध संघारामों और स्तूपों के लिए दान के अभिलेख मिले है। सेलफरण के बेटे हरफरण ने, जो संभवतः पह्लव था—नौ मठों से सुसज्जित गुहा मन्दिर बौद्ध भिक्षुकों को दान दिये।[1] शकों के महाक्षत्रप रुद्रदामन् की पुत्री का विवाह आन्ध्र नरेश वाशिष्ठि के पुत्र सातकर्णी से हुआ था। ये सब तथ्य यह प्रमाणित करते हैं कि ये विदेशी आक्रान्ता अपने विदेशीपन को भूलकर भारतीय बनते जा रहे थे, न तो भारतीय ही इनसे उद्विग्न होते थे और न ये ही अपने आपको भारत मे विदेशी समझते थे। न तो यहाँ के मूल निवासियों को इनसे ही कुछ भय था और न ये ही उन्हे शङ्का की दृष्टि से देखते थे।[2] इन जातियों की सभ्यता और सास्कृतिक परम्पराओ का भारतीय सभ्यता पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। मौर्य युग तक भारत की मुद्राएँ धातु को पीट कर बनाई जाती थी और उन पर सूर्य 'चन्द्र' चक्र आदि के चिह्न ठप्पे मे ठोक कर अंकित किये जाते थे। ये सिक्के पुराण या कार्षापण कहलाते थे। इन पर राजा की मूर्ति या कोई लेख नही होता था। यूनानी शासकों ने सर्वप्रथम राजा की मूर्ति और नाम वाले सिक्के चलाये। प्रारम्भ में इनकी तौल और लिपि यूनानी ही होती थी किन्तु बाद मे इन पर लेख खरोष्ट्री प्राकृत में लिखे जाने लगे। इसके बाद भारतीय सिक्के भी इसी शैली पर बनने लगे। यूनानी सिक्के द्रख्म (Druchm) का नाम सस्कृत में द्रम्म तथा बाद मे दाम के रूप में अपना लिया गया।[3] कुशाणों ने रोम के सोने के सिक्कों के अनुकरण पर अपने सोने के सिक्के चलाये। सस्कृत का स्वर्णमुद्रावाची दीनार शब्द भी मलत: रोमन है। ज्योतिष् के पाँच सिद्धान्त मे से रोमन सिद्धान्त भारत में रोम से ही आया प्रतीत होता है। और जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, ऐहिक जीवन के प्रति झुकाव, बालकृष्ण की पूजा आदि आभीर जाति की देन हैं।

यह तो हुई विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमण, शासन और व्यवहार की बात, देशी नरेशो में भी किसी प्रकार का भारी संघर्ष नही था, बड़े राज्यों में सातवाहन, शक, कुषाण और कलिङ्ग के ही राज्य थे। इनके अतिरिक्त छोटे-छोटे राज्य भी स्थापित थे। इनमें आन्ध्र का राज्य सबसे शक्तिशाली था और यह सातवाहन या शालिवाहन वंश के आधिपत्य में था। यह राज्य सारे दक्षिणा पथ के विस्तृत भू-भाग में फैला हुआ था जिसकी पूर्वी राजधानी प्रतिष्ठान (वर्तमान पैठन) थी और पश्चिम में कृष्णा नदी के तट पर धान्यकटक में दूसरी राजधानी थी। यह एक अत्यन्त शक्तिशाली राज्य था[4] जिसकी शक्ति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि दिग्विजय करने वाले सम्राट् भी आन्ध्र में प्रवेश करने का सहास नहीं

१. हरिदत्त वेदालंकार, भारत का सास्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १२० ।
२. एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १२१-१२२ ।
३. भारत का सांस्कृतिक इतिहास पृष्ठ, १३८-१३९ ।
४. इम्पीरियल गजेटियर, २८६ ।

जुटा पाते थे। अत विशेष रूप से इस भू-भाग मे और सामान्य रूप से समूचे देश मे कोई महत्त्वपूर्ण सघर्ष नहीं हुआ। हां, सातवाहन और शकों मे आपस में छोटे मोटे युद्ध हुए जिनमें जीत कभी एक पक्ष की रहती और कभी दूसरे की, किन्तु इनका प्रभाव इतना व्यापक नही था जो जन-जीवन को आक्रान्त करता। एक बात और थी वह यह कि जिस प्रकार विदेशी आक्रान्ताओ ने स्वविजित प्रदेशों पर आधिपत्य जमा कर भारत से ममता का सम्बन्ध जोड लिया था उसी प्रकार यहाँ के मूल राजाओ ने भी मिथ्याभिमानवश लड बैठने की प्रवृत्ति को त्याग दिया था। यही इस समय के इतिहास की विशेषता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस युग मे युद्ध हुए ही नहीं, युद्ध हुए किन्तु छुट-पुट। महत्वाकाङक्षी सम्राट् भी जब दिग्विजय के लिए प्रस्थान करते थे तो उन्हे विशेष प्रतिरोध का सामना करना नही पडता था क्योंकि उसका मन्तव्य छोटे-छोटे राज्यों को नष्ट करना नही होता था अपितु केवल अश्वमेध यज्ञ के लिए पृष्ठ भूमि तैयार करना था। अतएव राजनैतिक दृष्टि से इस युग को शान्ति और सुव्यवस्था का युग कहा जा सकता है जिसमे साहित्य और कला के विकास की पूरी गुञ्जाइश थी।

**आर्थिक दशा**—जिस प्रकार राजनैतिक दशा ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला-कौशल आदि के लिए उपयुक्त थी उसी प्रकार आर्थिक स्थिति भी सतोषजनक थी जिसका मूल कारण था भारतीय उद्योग-धन्धो का पर्याप्त विकास और प्रसार जिससे जन-जीवन आर्थिक चिन्ताओ से प्राय मुक्त था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे राज-सत्ता के जिन विभागो का वर्णन मिलता है वे इस बात के प्रमाण हैं। उद्योग-धन्धो की दृष्टि से भारत एक सुसम्पन्न देश था और व्यापार की दृष्टि से सबसे अधिक समृद्ध। भारत की समृद्धि विदेशो मे लोकोक्ति का बाना पहन कर लोगो के ओठो पर विद्यमान थी। अनेक प्राचीन अलकारो के आधार पर प्राचीन भारतीय सम्पत्ति का अनुमान किया जा सकता है।

जैन साहित्य के एक कथानक मे आनन्द नामक एक व्यक्ति द्वारा जैन धर्म अङ्गीकार करने की घटना का वर्णन आया है। इस अवसर पर उसने चार करोड स्वर्ण भार एक सुरक्षित स्थान पर, चार करोड ब्याज पर इतने ही मूल्य की एक समृद्ध सम्पत्ति तथा पशुओं का समूह, जिनमे प्रत्येक में दस-दस सहस्र पशु विद्यमान थे, छोडे थे। हो सकता है कि इन कथानकों मे अत्युक्ति से काम लिया गया हो किन्तु इनसे तत्कालीन भारतीय सम्पत्ति का अनुमान तो लगाया ही जा सकता है।

समुद्री व्यापार के कारण भारत की आय उन दिनो बहुत बढ़ गई थी। हाथी दाँत का सामान, कई प्रकार के गन्ध, मोती, वैदूर्य आदि रत्न, काली मिर्च, लौंग, मसाले, सूती और रेशमी कपड़े के निर्यात से भारत को प्रचुर धन प्राप्त होता था। रोम में भारतीय काली मिर्चों और मलमल की बडी माँग थी। काली मिर्चें दो अशर्फियों की एक सेर बिकती थीं। रोमन सुन्दरियाँ भारतीय मलमल पहनने की शौकीन थीं। पेत्रोनी नामक रोमन लेखक ने इन सुन्दरियों की बेपर्दगी की शिकायत करते

हुए लिखा है कि वे 'बुनी हुई हवा के जाले पहन कर अपना सौन्दर्य दिखाती हैं।'[1] ई० पू० प्रथम शती मे पेरिप्लस ने गङ्गा की घाटी में बनी हुई मलमल को सर्वश्रेष्ठ बताया था। सन् ७७ ई० में प्लीनी ने यह रोना रोया था कि देश से भारत को बहुत सा धन चला जाता है।[2] उसका कथन था कि भारतीय माल रोम में आकर सौगुनी कीमत पर बिकता है जिससे भारत रोम से प्रतिवर्ष साढ़े पाँच करोड़ सेस्टर्स का सोना खींच लेता है और यह कीमत हमें अपनी विलासिता और अपनी स्त्रियों के कारण देनी पड़ती है। व्यापारियों के गिल्ड्स (श्रेणियाँ) बने हुए थे। जिनकी आर्थिक दशा बड़ी अच्छी थी। ये गिल्ड्स बैंक का कार्य भी करते थे। उषवदात ने नासिक के बौद्ध भिक्षुओं के लिए जो अतुल धनराशि दान में दी थी वह 'अक्षयनीवी' जुलाहों की दो श्रेणियों के पास धरोहर के रूप में रखी थी।[3] इससे ज्ञात होता है कि देश में धन-धान्य की कमी नहीं थी। विदेशों में भारतीय सम्पत्ति की चर्चा तथा उसके लिये विदेशियों के मुँह मे पानी भर आने की बात सभी इतिहास ग्रन्थ एक स्वर से कह रहे हैं। इस प्रकार एक ओर तो राजनैतिक सुव्यवस्था के कारण किसी प्रकार के बाह्य अथवा आन्तरिक संघर्षों की हलचल का प्रायः अभाव था और दूसरी ओर उद्योग धन्धों एवं विदेशीय-व्यापार द्वारा अतुल सम्पत्ति भारत में चली आ रही थी जिसकी प्रचुरता में लोगों में विविध प्रकार के उपभोगों को एकत्र कर उनका आस्वादन करने की ओर प्रेरित कर दिया था। बाद में भर्तृहरि ने जो धन की तीन गति—दान, भोग और विनाश बताई हैं उनमें से दान और भोग दोनों ही तत्कालीन समाज के यथेष्ट अभीष्ट रहे।

## सामाजिक स्थिति

**रहन-सहन**—राजनैतिक तथा आर्थिक उत्थान-पतन किसी भी देश के समाज के अभ्युदय-अवनय के द्योतक होते हैं। अतः उपर्युक्त परिस्थितियों में समाज का उत्कर्ष अवश्यम्भावी था। किसी प्रकार का संघर्ष न होने के कारण उसकी रुचि विलास की ओर बढ़ रही थी। मेगास्थनीज़ ने अपने भारतीय विवरण में लिखा है कि भारतीय जन सौन्दर्य तथा आभूषणों के प्रेमी होते हैं, उनके वस्त्र स्वर्ण-खचित तथा रत्नों से जड़े हुए होते हैं, इनकी पोशाक भड़कीली और रेशमी होती है। यहाँ के निवासियों के पास जीवनयापन के साधन आवश्यकता से अधिक हैं जिसके कारण जीवन-यापन की सर्वसाधारण सीमा का अतिक्रमण कर ये विलास की प्रतियोगिता में उतर पड़ते हैं। इनके व्यवहार में इसी कारण एक विशिष्ट प्रकार के आभिजात्य की झलक व्याप्त रहती है। ये कलाओं में पूर्णतया निपुण होते हैं, श्रेष्ठतम जलवायु

१. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १३०–१३१।

२. मजूमदार, एन् एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ १३७।

३. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १३१

का सेवन करने वालों से इस प्रकार की ही आशा की जाती है।[1] विलास के साधनों का विदेश से पर्याप्त मात्रा में आयात होता था। ई० पू० तीसरी शती का एक मौर्य राजा रोम से सुरा और सूखे अंजीर मंगाया करता था। ईसा की प्रथम शती में आयात की अन्य वस्तुएँ थीं; गाने वाले लड़के, चांदी के बर्तन और राजाओं के अन्त पुरों के लिए रूपवती दासियां।[2]

**धार्मिक स्थिति**—सातवाहन युग की एक महत्वपूर्ण विशेषता है हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान जिसे समझने के लिए पिछली शताब्दियों में हुए धार्मिक परिवर्तनों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में एक जबरदस्त धार्मिक क्रान्ति हुई थी। आडम्बर-प्रधान जटिल यज्ञों और उनमें होने वाली प्राणी-हिंसा के विरुद्ध बौद्ध तथा जैन धर्म की प्रतिष्ठा हुई, यद्यपि उपनिषदों में ही पुराने यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म के विरोध में निर्गुण ब्रह्म, मुक्ति, कर्मवाद आदि सिद्धान्तों का विकास (evolution) तथा ज्ञान मार्ग की स्थापना हो चुकी थी किन्तु उसके पात्र बुद्धिजीवी व्यक्ति ही हो सकते थे। ज्ञान की गूढ़ बातों को समझना स्थूल बुद्धि साधारण मनुष्य के बस की बात नहीं थी। इसलिए यह पन्थ इने-गिने लोगों को ही आकृष्ट कर सका।

इस धार्मिक क्रान्ति के मूल में निम्नलिखित विचार प्रमुख थे :—

१. ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित यज्ञों का विरोध।

२. पशु बलि का विरोध और अहिंसा का प्रचार।

३. आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी गूढ़ प्रश्नों की उपेक्षा, शम, दम, इन्द्रियनिग्रह, आचार-शुद्धि पर बल और आध्यात्मिक की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण की प्रधानता।

बौद्ध और जैन धर्म इन्हीं विचारों को लेकर प्रवृत्त हुए। ये निरीश्वरवादी होने के कारण नास्तिक कहलाए। इनके अतिरिक्त एक आस्तिक आन्दोलन भी हुआ जो उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त निराकार ब्रह्म के स्थान पर भक्तिपूर्वक सगुण ईश्वर की उपासना में भी विश्वास रखता था। बाद में यह भक्ति-आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आज नास्तिक पन्थों के उद्भव और प्रवर्तकों का इतिहास तो भली प्रकार ज्ञात है किन्तु आस्तिक आन्दोलन के आरम्भ की अस्पष्ट सी झलक उपनिषदों में मिलती है छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार घोर आंगिरस ने अपने शिष्य देवकी-पुत्र कृष्ण को एक नये आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी। इस यज्ञ की दक्षिणा थी तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा और सत्यवचन[3]। ये ही देवकी पुत्र कृष्ण भागवत सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे जाते हैं। इसी धर्म के एक अन्य प्रतिष्ठापक राजा वसु ने यज्ञों में

१. 'मेगास्थनीज का भारत' पृष्ठ ३२–३५।

२. मजूमदार, एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ १३७।

३. छान्दोग्योपनिषद् ३/१७/४–६।

पशु-बलि का निषेध कर हरि की उपासना पर बल दिया। भागवतो के अतिरिक्त ईश्वरवादी शैव सम्प्रदायों का संकेत भी श्वेताश्वतर उपनिषद् मे मिलता है।[1]

श्री रामकृष्ण भण्डारकर इसे प्राचीन अनार्य जाति का प्रभाव मानते हैं। इस प्रकार उपनिषदो के अव्यक्त ब्रह्म के साथ साकार ईश्वर की भक्ति-प्रधान पूजा का भी श्रीगणेश हुआ। प्रचार के लिए लोक-भाषा का आश्रय, जाति-पाँति के बन्धन का अभाव, संघ-व्यवस्था आदि कारणो के साथ-साथ राजाओ का भी आश्रय पहले पाने के कारण शुरू मे बौद्ध और जैन धर्म की उन्नति अधिक हुई। मौर्य राजाओ से इन धर्मों को प्रोत्साहन मिला। नास्तिक धर्मों की सफलता से हिन्दू धर्म के समर्थकों ने भी बहुत कुछ सीखा। विरोधियो के प्रबल होने पर इन्होने अपने घर की व्यवस्था करना उचित समझा और उनके आक्षेपो के उत्तर देने के लिए अपने मन्तव्यो को तर्क-सगत रूप दिया, धर्म एव दर्शन विषयक विचारो को स्मृतियो, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों मे व्यवस्थित रूप से उपनिबद्ध किया। इसके दो परिणाम हुए —

१ दर्शनो के मूलभूत प्राचीन सिद्धान्तो को शास्त्र का रूप दिया गया।

२ हिन्दू धर्म को बौद्ध धर्म से भी अधिक जन-धर्म बनाने के प्रयत्न किये गए।

यद्यपि पुष्यमित्र आदि राजाओ ने अश्वमेध आदि यज्ञो को पुनर्जीवित किया तथापि वैदिक धर्म अपने प्राचीन रूप मे प्रतिष्ठित नही हो सकता था क्योकि अब समाज की स्थिति बदल चुकी थी और वैदिक समाज वापिस नही लाया जा सकता था। बुद्ध ने जनता को धर्म-ज्योति का दर्शन कराते हुए कहा था कि सदाचार और सम्यक् जीवन ही वास्तविक धर्म है। इससे जनता मे जो जागृति हुई थी उसी के प्रकाश मे हिन्दू धर्म का पुन सगठन आवश्यक हो उठा था।

आर्यों के निम्न वर्ग तथा अनार्य जाति मे प्रचलित यक्ष, भूत-प्रेत और देवी-देवताओं को भी हिन्दू धर्म ने अपना लिया। मथुरा मे वासुदेव की पूजा प्रचलित थी उसे वैदिक देवता विष्णु के साथ मिलाकर कट्टर वेदानुयायियो के लिए भी ग्राह्य बना दिया। वैदिक धर्म के पुनराहरण की लहर ने उस समय पूजे जाने वाले प्रत्येक जड और मनुष्य देवता मे किसी न किसी वैदिक देवता की आत्मा प्रतिष्ठित कर दी। समूचे भारतवर्ष के देवता शिव, विष्णु, सूर्य, स्कन्द आदि देवताओं की विभिन्न शक्तियों के सूचक बने। प्रत्येक वर्ग मे पूज्य पदार्थ को किसी न किसी देव शक्ति का प्रतीक बना डाला गया और कालान्तर मे स्वय बुद्ध को भी भगवान् का अवतार मान कर पूजा जाने लगा। इस पुनरुत्थान ने देवज्योति को मानो ऊँचे स्वर्ग से और वैदिक ऋषियो के कल्पना जगत् से उतार कर भारतवर्ष के कोने-कोने में पहुँचा दिया जिससे जनसाधारण की सभी पूजाओं में आर्य-जीवन का संचार होने लगा और उनके जड देवता भी वैदिक देवताओं की भावमय आत्माओं से अनुप्राणित हो उठे।

1. श्वेताश्वतर ३/२/४/१६–१७।

मौर्यों के पतन के साथ भारत में बौद्ध धर्म का भी पतन होने लगा। अन्तिम मौर्य शासक यवनों के आक्रमणों से देश की रक्षा न कर सके। जनता ने उनकी अहिंसा-पोषित दुर्बलता को इसका कारण समझा और बौद्ध तथा जैन धर्म कम से कम उस समय उसकी दृष्टि से गिर गए। ई० पू० दूसरी शताब्दी के अन्तिम चरण में पुन: प्रतिष्ठा के प्रयत्न किये गए। वैदिक धर्म को राज-धर्म बनाया गया और बौद्ध धर्म का दमन किया गया। इस समय में लिखी गई मनुस्मृति में बौद्धों और जैनों के निर्वासन का भी उपदेश है।

आगे चलकर हिन्दू धर्म के इस नये रूप में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुतियों के स्वरूप विशाल स्तोत्र साहित्य की सृष्टि के लिए अवसर मिला बौद्ध और जैन कवियों ने भी स्तोत्र लिखे जिनकी चर्चा आगे यथास्थान की जायेगी।

**स्त्रियों की स्थिति**—कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्ययुग में स्त्रियों की स्थिति बड़ी अच्छी थी। घर में उन्हें पूरा अधिकार था। कुछ अवस्था में वे तलाक भी दे सकती थीं और पुनर्विवाह कर सकती थीं। विधवाओं को भी पुनर्विवाह करने का अधिकार था। पति यदि स्त्री को तीन बार से अधिक पीटे तो वह उसके विरुद्ध अभियोग चला सकती थी। सातवाहन युग में मनु ने पिछली व्यवस्थाओं मे कुछ परिष्कार किया। मौर्ययुग तक विवाह एक समझौता-मात्र था। मनु ने उसे पवित्र संस्कार द्वारा अविच्छेद्य बनाया। विधवा-विवाह का निषेध किया और स्त्री-स्वतन्त्रता का विरोध किया फिर भी उन्होंने स्त्रियों को सम्मान देते हुए कहा है—यत्र स्त्रियस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। बहुविवाह प्रथा अब भी प्रचलित थी। प्रतीत होता है कि सामाजिक जीवन में स्त्रियों की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता को देखकर ही मनु ने 'न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति' की व्यवस्था दी, फिर भी क्रियात्मक रूप में स्त्रियों को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। राजवंश की महिलाओं द्वारा अपने अल्पवयस्क बालकों की ओर से शासन करने के उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं।[1]

संक्षेप में कालिदास और हाल के आविर्भाव से पहले भारत मे राजनैतिक संघर्ष अधिक नहीं था। देश का व्यापार बढ़ा-चढ़ा था। जनता की आर्थिक दशा बहुत अच्छी थी। विदेशी आक्रान्ता अपनी अनेक परम्पराओं और प्रवृत्तियों के साथ यहाँ के समाज में घुल-मिल गये थे। हिन्दू धर्म और समाज में समन्वय की भावना को प्रोत्साहन मिल रहा था तथा भक्ति-भाव-प्रधान पद्धति प्रचलित हो चुकी थी। तात्पर्य यह है कि समाज में एक ओर तो सुख-शान्ति के साधन मौजूद थे जिससे जनता उपभोग-वृत्ति अपना रही थी और हिन्दू-धर्म का नया स्वरूप हृदय की वृत्तियों को उदात्त बनाने और समन्वय का पाठ पढ़ाने की ओर अग्रसर हो रहा था। कालिदास की रचनाओं में भी ये विशेषताएँ 'पानी में का लौनु' बन कर समाविष्ट हो गई हैं। संस्कृत-गीति-काव्य को धर्म-निरपेक्ष और धार्मिक भेद से दो बड़े भागों

1. मजूमदार, एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ ३३।

में विभक्त किया जा सकता है। धर्म-निरपेक्ष गीतिकाव्य में शृङ्गारिक रचनाएँ बहुत अधिक मात्रा में हैं। वैराग्यपरक शान्त रस की रचनाएँ भी इसी के अन्तर्गत हैं। नीतिविषयक शुष्क कथनों को, चाहे वे गेय छन्दों में निबद्ध पद्य ही क्यों न हों, हम गीति नहीं मानते क्योंकि अनुभूति की सघनता उनमें प्रायः नहीं होती, जिनमें होती है वे अवश्य ही गीति-काव्य की परिधि में आ सकते हैं। शृङ्गारिक रचनाओं का प्राधान्य होने के कारण इस अध्याय में शृङ्गारिक गीति-काव्य के विकास पर ही प्रकाश डाला गया है।

कालिदास से जयदेव तक संस्कृत गीति साहित्य में विकास के तीन स्तर स्पष्ट दीख पड़ते हैं। हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्ध के कवि का लक्ष्य मानवीय भावों की गम्भीरता और व्यापकता को प्रकृति के व्यापक पटल पर चित्रित करना था दूसरे स्तर पर व्यापकता जाती रही परन्तु गम्भीरता बहुत कुछ बनी रही। आठवीं शताब्दी के पश्चात् गम्भीरता का भी ह्रास होने लगा। प्रथम उन्मेष में कवियों पर प्रकृति का प्रभाव अधिक था, दूसरे में कामशास्त्र का और तीसरे में अलङ्कारशास्त्र का।

## प्रथम उन्मेष

**कालिदास और हाल**—कालिदास के अनेक काव्य प्रचलित हैं। किन्तु उनमें से केवल ऋतुसंहार और मेघदूत को ही हम "महाकवि कालिदास की रचना मानते हैं। ऋतुसंहार का प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु से हुआ है। अभिज्ञान शकुन्तल का आरम्भ भी नटी द्वारा ग्रीष्म विषयक गायन से हुआ है। ऋतुसंहार के एक श्लोक का पूरा-पूरा भाव परिष्कृत करके अभिज्ञान शाकुन्तल में ग्रहण किया है।[1] अन्य कारणों के साथ-साथ उपर्युक्त साम्य ऋतुसंहार को कविकुल गुरु कालिदास की ही रचना प्रमाणित करता है।

**कालिदास के गीतिकाव्य**—आदि कवि वाल्मीकि ने लौकिक संस्कृत में काव्य की अवतारणा करते समय जिन आदर्शों की प्रतिष्ठा की थी, कालिदास की रचनाओं में उनका विकसित रूप दृग्गोचर होता है। तीसरे अध्याय में रामायण में गीतितत्त्व की चर्चा करते हुए वाल्मीकि-काव्य की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है—१ प्रकृति के प्रति आकर्षण जो वैदिक युग से ही चला आ रहा था। २ मनोभावों को काव्य का प्रवृत्तिनिमित्त बनाना और ३ स्वाभाविक सरस प्रसाद पूर्ण शैली। उन्हीं पृष्ठों में यह भी अभिव्यक्त किया गया है कि वाल्मीकि ने ही कदाचित् सर्वप्रथम जान-बूझ कर मानवीय भावों को काव्य का प्रमुख लक्ष्य बनाया और प्रकृति के साथ उनका सामञ्जस्य स्थापित किया। प्रकृति को उन्होंने वैदिक ऋषियों के समान स्वतन्त्ररूप में भी चित्रित किया है किन्तु मानवभावों की पृष्ठभूमि के रूप में उसका उपयोग करने की प्रणाली का सूत्रपात भी उन्होंने किया। काममोहित क्रौञ्च के दारुण अवसान से उद्बुद्ध शोक ही वाल्मीकि की काव्यवाणी के विलास का

१. एम० आर० काले, ऋतु संहार की भूमिका।

प्रेरक बना और, जैसा कि हम कह आये हैं, उनके समूचे काव्य में करुणा की धारा कहीं सूखने नहीं पाई है। कविवर भवभूति रामायण को पूर्णतया हृदयङ्गम करके ही "एको रसः करुण एव" के निष्कर्ष पर पहुँचे थे। कालिदास प्रमुखतया शृङ्गार के कवि माने जाते हैं किन्तु उनका करुणरस भी कुछ कम मार्मिक नहीं है। सत्य तो यह है कि उनका संयोग शृङ्गार जितना सम्पन्न है विप्रलम्भ भी उतना ही हृदय-द्रावक है जिसमें करुणा की छाया पूर्णतया छाई रहती है।

वाल्मीकि जिस रसमय शैली के जन्मदाता हैं कालिदास उसके उदात्त उत्कर्ष-मय रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन दोनों महाकवियों की मध्यवर्ती रचनाएँ लुप्त अवश्य हो गई हैं किन्तु जो कुछ भी सूत्र यत्र तत्र बिखरे हुए अधिगत होते हैं, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय का विषय रहा है, उनसे आदि कवि द्वारा प्रवर्तित सुकुमार मार्ग की लम्बी परम्परा का पता तो चलता ही है साथ ही उसे किन्हीं अंशों में परिष्कृत और अलङ्कृत करने की प्रवृत्ति का भी भान होता है। सारांश यह है कि कालिदास को एक पुष्ट परम्परा का अवलम्ब मिला था। वाल्मीकि की कला से उन्होंने स्फूर्ति और प्रेरणा ग्रहण की थी। यह कहना असंगत नहीं होगा कि वाल्मीकि के अध्ययन के बिना कालिदास का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। कालिदास के काव्य मे वाल्मीकि की मनोरम पदावली और मञ्जुल भाव भरे पड़े हैं जो एक पृथक् निबन्ध का विषय है।

विश्वकवि कालिदास ने बाह्य प्रकृति एवं अन्तःप्रकृति का इतना सुन्दर समन्वय किया कि वे कविकुल गुरु की उपाधि से विभूषित हुए। यदि वाल्मीकि संस्कृत के आदि कवि हैं तो कालिदास आदि गीतिकार। कालिदास के नाम से प्रसिद्ध अनेक रचनाएँ आज उपलब्ध हैं। परम्परा के आधार पर उनके तीन नाटकों, दो महाकाव्यों और दो गीतिकाव्यों (ऋतुसंहार और मेघदूत) के अतिरिक्त निम्न-लिखित पुस्तकें भी कालिदास के द्वारा रचित बताई जाती हैं।

अम्बास्तव, कालीस्तोत्र, काव्यनाटकालकार, गङ्गाष्टक, घटकर्पर, चण्डि-कादण्डकस्तोत्र, ज्योतिर्विदाभरण, दुर्घटकाव्य, नलोदय, नवरत्नमाला, पुष्पबाणविलास मङ्गलाष्टक रत्नकोश, राक्षसकाव्य, लघुस्तव, विद्वद्विनोद काव्य, वृन्दावन काव्य, शृङ्गारतिलक, शृङ्गारसार, श्यामलादण्डक, श्रुतबोध, सेतुबन्ध और रावणवध। किन्तु विद्वानों का मत है कि ये पुस्तकें रघुवंश के यशस्वी प्रणेता कालिदास से भिन्न किसी कालिदास नामक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के द्वारा प्रणीत हुईं। राजशेखर ने कालिदास नाम के तीन कवियों का उल्लेख किया है और ये तीनों ही शृङ्गारिक कवि थे—

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

'एकः' से राजशेखर का तात्पर्य रघुवंश प्रणेता कालिदास से है। संभवतः उपर्युक्त पुस्तकें अन्य कालिदासों की रचनाएँ हैं।

१. एस. आर. काले ऋतुसंहार की भूमिका

**ऋतुसंहार**—ऋतुसंहार के प्रणयन के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। उसके कालिदास द्वारा प्रणीत न होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित बताए जाते हैं:—

१–इसमें कालिदास की प्रौढ़कला के दर्शन नहीं होते। स्थान-स्थान पर भावों और शब्दों की पुनरुक्ति हुई है।[1]

२–मल्लिनाथ ने कालिदास के अन्य तीन काव्यों पर तो टीकाएँ की हैं ऋतुसंहार पर नहीं, उन्होंने स्वयं लिखा है—

> मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दारमानुजिघृक्षया ।
> व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥

(३) वर्ष की ऋतुओं के वर्णन का प्रारम्भ ग्रीष्म से किया है जबकि वर्ष बसन्त से प्रारम्भ होता है।

(४) हंसों की गति को सुन्दरियों की गति से श्रेष्ठ बताना और इसी प्रकार लताओं द्वारा उनके बाहुसौन्दर्य का हरना भी परम्परा के विरुद्ध बात है। कालिदास के अन्य ग्रन्थों में यह बात नहीं मिलती।[1]

(५) काव्य शास्त्रियों ने ऋतुसंहार से कहीं कोई उदाहरण नहीं दिये। इन युक्तियों के विरुद्ध कहा जा सकता है कि:—

(१) ऋतुसंहार में कालिदास की प्रौढ़कला के दर्शन इसलिये नहीं होते कि यह संभवतः उनकी प्रारम्भिक रचना है। भाव और भाषा की यत्र-तत्र पुनरुक्ति का कारण भी यही है।

(२) ऋतुसंहार जैसी सरल कृति की व्याख्या की आवश्यकता भी मल्लिनाथ ने नहीं समझी।

(३) कालिदास लकीर के फकीर न थे। इसलिए ऋतुवर्णन उन्होंने ग्रीष्म से ही प्रारम्भ किया। शायद वे ग्रीष्म ऋतु से अधिक प्रभावित भी थे। अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रारम्भ में भी जब नटी सूत्रधार से पूछती है कि किस ऋतु का गान किया जाये? तो सूत्रधार कहता है कि इसी ग्रीष्म ऋतु को लेकर। इसके पश्चात् नटी ग्रीष्म ऋतु के विषय में ही गीति प्रस्तुत करती है।

(४) हंसों द्वारा अङ्गनाओं की गति के जीतने का और प्रियङ्गु-लताओं द्वारा उनकी बाहुकान्ति हरने आदि का उल्लेख कवि ने शरद् ऋतु के वर्णन में किया है। हंस और प्रियङ्गुलता के उत्कर्ष द्वारा शरद् ऋतु का महत्त्व स्थापित करना कवि का लक्ष्य है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इन पद्यों मे कवि ने प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित किया है नारी को नहीं। इस श्लोक के भ्रूविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तरङ्गैः की तुलना मेघदूत के 'उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु

१. तुलना कीजिए ऋतुसंहार १–१, १–१० । १–४, १६ । १–७, ६–४ । २–२८, ४–१८ । ५–१७, ६–२२ आदि ।

'भ्रूविलासम्' से की सकती है ।'

(५) जैसा कि कीथ महोदय ने कहा है काव्यशास्त्रियों की प्रवृत्ति सीधी सरल रचनाओं को उदाहृत करने की ओर नहीं थी ।[२]

प्रो० कीथ के अनुसार वत्सभट्टि ने ऋतुसंहार के दो श्लोकों की छाया ग्रहण की है तथा कुछ प्रयोग भी अपनाए हैं जिससे इस कृति की प्राचीनता और कालिदास द्वारा रचित होने की संभावना सबसे अधिक है । वत्सभट्टि में ही क्यों ऋतुसंहार एक श्लोक का परिष्कृ अनुवाद अभिज्ञान शाकुन्तल के भी एक पद्य में मिलता है । तुलना कीजिए :—

निपातयन्त्य: परितस्तटद्रुमान्
प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः ।
स्त्रियः सुदुष्टा इव जातिविभ्रमाः
प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ।। ऋतु २/७

व्यपदेशमाविलयितुं किमीहसे जनमिमं च पातयितुम् ।
कूलंकषेव सिन्धुः प्रसन्नमम्भस्तटतरुं च ।। अभिज्ञान शाकु० ५/२१

दोनों श्लोकों में मात्र एक ही हैं केवल अभिव्यक्ति का अन्तर है । प्रथम श्लोक में कला का प्रारम्भिक और दूसरे में परिपुष्ट रूप द्रष्टव्य है । प्रतीत होता है कि द्वितीय पद प्रथम का ही प्रसङ्गानुसार संगृहीत सुसंस्कृत रूप है । अतः प्रो० कीथ के उक्त मत से हम सर्वथा सहमत हैं । वाल्टर[४], हिलेब्राण्ड[५], कीलहार्न, ब्लूलर, वान श्रोडर आदि का भी मत यही है ।[६]

ऋतुसंहार छः सर्गों और १४४ पद्यों में निबन्धात्मक शैली में लिखा हुआ एक काव्य है । इसका प्रत्येक सर्ग वर्ष की किसी ऋतुविशेष का संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत करता है । बहुत से श्लोक स्वतःपूर्ण हैं किन्तु पूरे सर्ग के श्लोक मिलकर एक पूर्ण इकाई के रूप में दीख पड़ते हैं । प्रकृति के प्रति कवि की सहानुभूति और सूक्ष्म निरीक्षण आद्योपान्त प्रतिबिंबित है[7] । और इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृतिविषयक

१. हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः ।
नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि भ्रूविभ्रमाश्च रुचिरास्तनुभिस्तरङ्गैः,
श्यामालताः कुसुमभारनतप्रवालाः स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम् ।
दन्तावभासविशदस्मितचन्द्रकान्तिं कंकेलिपुष्परुचिरा नवमालिका च ऋतुसंहार ३--१७-१८।

१. मेघदूत श्लोक, १०६

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८३ ।

३. वही, पृ० ८३, तुलना वत्सभट्टि ५।३-१ और ऋतु० सं० ५।२-३ ।

४. इण्डिका, ३, पृष्ठ ६ ।

५. कालिदास, पृष्ठ ६६ ।

. जेन्द्रगदकर द्वारा संपादित ऋतुसंहार की भूमिका ।

७. देखिये प्रथम सर्ग श्लोक १, १३, १४, १५, १६, १७, १८ ।

द्वतीय सर्ग, ३, ५, ६, आदि ।

:तृतीय सर्ग, १२, १३, १४, १५, १६ आदि ।

रागात्मकता की दृष्टि से इसके बहुत से पद्य ऋग्वेद की अनेक कथाओं और आदि कवि के ऋतुवर्णन से टक्कर ले सकते हैं।

किन्तु ऋतुसंहार ऋतुओं का केवल विवरणात्मक वर्णन हीं नहीं है। कवि की प्रकृतिविषयक रति ही इसमें प्रस्फुटित नहीं हुई अपितु भारतीय प्रेमभाव को भी स्थान मिला है और कवि ने दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत किया है। विभिन्न ऋतुओं में प्रकृति के विविध रूप-परिवर्तन की दाम्पत्य रति पर क्या क्या प्रतिक्रियायें होती हैं इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण ऋतुसंहार की विशेषता है। प्राकृतिक वातावरण से आन्दोलित मानव-हृदय के शृङ्गारिक व्यापारों का इसमें मनोरम चित्रण हुआ है जिसके झिलमिले आवरण में कालिदास के यौवनमत्त हृदय की भावनाएँ झांकती प्रतीत होती हैं। तभी तो डा० कीथ ने राइडर के 'ऋतुसंहार कालिदास की प्रतिष्ठा में न तो वृद्धि करता है और न कमी ही' कथन से सहमत न होते हुये लिखा है कि यदि कालिदास को इसके प्रणेतृत्व से वञ्चित कर दिया गया तो उसकी प्रतिष्ठा को वास्तविक धक्का लगेगा।[1] और मैक्डानल ने कहा है कि शायद कालिदास की अन्य कोई रचना प्रकृति के प्रति उसकी गहरी तन्मयता, तीव्र निरीक्षण-शक्ति और भारतीय प्राकृतिक दृश्यों के रंगीन चित्रण का इतना मार्मिक उद्घाटन नहीं करती।"[2]

## मेघदूत

जैसा कि कहा जा चुका है, कालिदास ने वाल्मीकि से प्रेरणा ग्रहण की। मेघदूत का थीम उन्होंने वाल्मीकि से ही लिया है। वियोगी यक्ष की व्यथा सीताहरण से दुःखी राम की व्यथा की स्मृति दिलाती है। पूर्वमेघ ने वर्षाऋतु का वर्णन रामायण के अरण्यकाण्ड में २८ वें सर्ग में आये हुये वर्षा-वर्णन से बहुत कुछ मिलता जुलता है। मेघ को दूत बनाकर भेजना भी कदाचित् हनुमान को सीता के पास भेजने के उल्लेख से प्रभावित हो। उन्होंने स्वयं यक्षपत्नी की उपमा सीता से और मेघ की उपमा हनुमान से दी है—

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा (उत्तर मेघ, ३७)

हनुमान् को राम ने सीता के प्रत्ययहेतु अपनी मुद्रिका चिन्ह स्वरूप दी थी। कालिदास के यक्ष ने मेघ को कोई ऐसा मूर्त पदार्थ तो नहीं दिया जिसे देखकर यक्षिणी विश्वास कर लेती कि वह उसके प्रियतम का ही प्रेषित दूत है, किन्तु उसे अपने अनन्य-ज्ञात रति-विलास-रहस्य अवश्य बताए जिन्हें कह कर मेघ अपनी संदेशवाहकता का प्रमाण दे सके। इस प्रकार कथावस्तु का थीम रामायण से लेकर भी कालिदास ने उसमें अपनी निजी छाप लगाकर सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत किया है।

यह कहा जा चुका है कि कालिदास की सबसे बड़ी विशेषता है उनका प्रकृति के प्रति अनुराग जिसकी छाया हमें उनकी किसी भी रचना में दिखाई दे सकती है।

१· हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८३।
२. काले द्वारा संपादित ऋतुसंहार की भूमिका, पृष्ठ ९।

मेघदूत के विषय में तो यह बात और भी बल के साथ कही जा सकती है। पूर्व मेघ प्रकृति के एक से एक सुन्दर चित्रों से भरा पड़ा है। उनका नायक यक्ष अपनी प्रेयसी तक संदेश पहुंचाने के लिये दूत का चयन भी प्रकृति से ही करता है जो भले ही किसी वैज्ञानिक के लिए धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः हो किन्तु कालिदास की सूक्ष्मदर्शिनी मनीषा तो उसके विषय में यही घोषणा करती है कि "जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।" प्रकृति में उन्होंने बाल्मीकि के ही समान चैतन्य का अनुभव किया है और उसके साथ चेतन मानव का तादात्म्य स्थापित किया है। चेतन और अचेतन के भेद को वियोगी यक्ष सर्वथा भूल जाता है।

कालिदास प्रकृति की चेतनता में विश्वास रखते थे तभी तो उनकी कविता में प्रकृति के प्रति सच्चा प्रेम पाया जाता है। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के प्रति जिस अनुभूति का परिचय दिया है वह कालिदास के लिये अपरिचित नहीं थी। वैदिक ऋषि को उषा शोभन शाटिका में लिपटी हुई युवति के समान प्रतीत होती है तो कालिदास को मेघ इन्द्र धनुष की सतरङ्गी आभा में मोरशिखाधारी श्यामवर्ण कृष्ण के सदृश प्रतीत होता है—

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्
वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः। पूर्व मेघ ४१॥

वर्षा प्रारम्भ होते ही अधपके हरे-पीले कदम्ब के फूलों पर भौंरे मँडराने लगते हैं, कछारों में नयी फूटी हुई कदली की कोपलों को चरते हुए हरिण और जगल की धरती की तीखी सुगन्ध को सूँघते हुए हाथी उस मार्ग से मेघ के गुजरने की सूचना देते हैं—

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभि गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्॥ २१॥

वन के कुञ्जों पर घहराए हुए मेघ का बरसना स्वाभाविक ही है और बरसने के पश्चात् हलका होने के कारण उसकी गति में तीव्रता का आ जाना भी उतना ही स्वाभाविक है। इस प्राकृतिक तथ्य की अभिव्यक्ति के साथ-साथ विन्ध्य पर्वत के ऊबड़-खाबड़ भू भाग पर फैली हुई रेवा का चित्र निम्नलिखित श्लोक में कितने सौन्दर्य के साथ अंकित हुआ है :—

स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तम्।
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥ १९॥

पके हुए फलों से लदे हुए आम के जंगलों से शोभित तल प्रदेश वाले आम्रकूट पर्वत के ऊपर जब काला बादल छा जाता है तो उसकी शोभा कैसी हो जाती है ? यह इस श्लोक में देखिए—

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥ १८ ॥

स्फटिक-निर्मल जल मे पड़ते हुए तिरछे झुके हुए मेघ के प्रतिबिम्ब से गंगा की जो शोभा हो जाती है वह भी निरख लीजिए—

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी ।
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययासौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमेवाभिरामा ॥ ५१ ॥

एक अन्य उदाहरण लीजिए—

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसंपर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः ।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ॥ पू० मे० ४२ ॥

अर्थात् जब तुम देवगिरि पहाड़ की ओर चलोगे तब वहां धीरे-धीरे बहता हुआ वह शीतल पवन तुम्हारी सेवा करेगा जिसमे तुम्हारे बरसाए हुए जल से आनन्द की साँस लेती हुई धरती की गंध भरी होगी और जिसे गर्जन करते हुए हाथी अपनी सूँडो से पी रहे होंगे तथा जिसके चलने से बन के गूलर पकने लगेंगे ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि "शीतो वायु. परिणमयिता काननोदुम्बराणाम् ।" कवि के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण का साक्षी है । सचमुच कालिदास का प्रकृति चित्रण प्रकृति की मौलिक ताजगी से ओत-प्रोत है । परम्पराभुक्तता की बासी गन्ध उसमे है ही नही ।[1]

मेघदूत के इस पहलू को छोड़कर यदि स्थूल रूप से समग्र वस्तु को देखा जाये तो प्रतीत होता है कि वह आदि से अन्त तक यौवन के विलासों की कल्पना से रञ्जित है । पश्चावावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं निर्वेक्ष्यावः परिणत-शरच्चन्द्रिकासु क्षपासु' की मधुर आशा के सहारे ही वियोग के लम्बे लम्बे महीने 'लोचने मीलयित्वा' काटे जा सकते हैं । मानववृत्ति का यही शाश्वत आधार मेघदूत की चिरस्थायिता का कारण है । केवल शृङ्गारी रूप ही उसे सहृदयों का सर्वस्व बनाने की क्षमता रखता है किन्तु भारतीय धरा पर अवतीर्ण विश्वकवि मानव जाति

1. He never allowed his love for nature to descend to the level of the conventional but retained it in all its original freshness (*Prof. M. Hiriyanna, n his article on Kalidass, the Maha raja's college Magazine Mysore, septt. 1913*).

के लिये यही उपभोग-प्रधान संदेश लेकर नहीं आया था। वैदिक ऋषियों की गरिमा-मयी भावनाओं का संस्कार उसके हृदय मे रमा हुआ था और प्रकृति के विशाल आंगन मे प्रतिदिन होने वाले परिवर्तन और प्रतिक्षण होने वाले स्पन्दन उसके हृदय की धड़कन के साथ बोलते थे। अत मानवीय भावो की अभिव्यक्ति को प्रमुख ध्येय बनाकर भी चिरयौवना प्रकृति की इस सनातन रमणीयता की झलक को भी शब्दो मे बांधने का अमोघ प्रयास उसने किया है। ऊपर उद्धृत कतिपय श्लोक इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह सत्य है कि उसमें भी स्थान स्थान पर शृङ्गार की उदात्त रंगीनी अपनी आभा छिटकाये हुए हैं। विद्युत् को मेघ की प्रिया के रूप मे देखा गया है और अन्त मे यक्ष उसके चिरमिलन की शुभकामना करता हुआ उसे आशीर्वाद देता है—'मा भूदेव क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोग, किन्तु महाकवि की यह कल्पना वैदिक ऋषियो की 'जायेव पत्य उशती सुवासा.'' और सूर्यो देवीमुषस रोचमानामर्यो न योषामभ्येति पश्चात्, जैसी उक्तियो की परम्परा के अनुकूल ही तो है। इसी प्रकार नदी के रोधोनितम्ब से प्रवाहवसन का खिसकना "उषा निरणीते वक्ष." मे व्यक्त भावना का ही विकसित रूप है। मानव हृदय की छाया मे प्रकृति के अवलोकन की जो परिपाटी आदि कवि ने चलाई थी उसका उदात्त विकास मेघदूत मे लक्षित होता है। प्रकृति और मानव का यह चेतन सामञ्जस्य—उनके व्यापारो की बिम्ब प्रति-बिम्ब रूप मे स्थिति—अभूतपूर्व ही नही अद्वितीय भी है। कालिदास के बाद के कवियो का प्रकृति चित्रण प्राय यान्त्रिक प्रवृत्ति जैसा है, उसमें चेतनता का अभाव है।

आवर्त रूप नाभि का सविलास प्रदर्शन करने वाली निर्विन्ध्या नदी के प्रणय-निवेदन को स्वीकार कर उसका रस ग्रहण करने की मित्रोचित मन्त्रणा देता हुआ यक्ष मेघ से कहता है—

> वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चनगुणाया
> संसर्पन्त्या स्खलितसुभग दर्शितावर्तनाभे।
> निर्विन्ध्याया पथि भव रसाभ्यन्तर सन्निपत्य
> स्त्रीणामाद्य प्रणयवचन विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ पू० मे० २८॥

अर्थात् मार्ग मे रुक कर लहरो के विक्षोभ से (उत्तेजित होकर) कूजती हुई विहगालि रूपी स्वर्णकाञ्ची से अलकृत एव सुघराई के साथ स्खलित गति से मन्द मन्द चलते हुए अपनी आवर्त-नाभि का प्रदर्शन करती हुई निर्विन्ध्या का रस ग्रहण करना। रमणियों का हाव-भाव ही प्रिय के प्रति उनका प्रथम प्रणय-वचन होता है।

यहाँ नदी और मेघ पर नायिका और नायक का आरोप कर मानवीकरण किया गया है। यक्ष के हृदय के विरहगुणित अभिलाष की छाया इसमे स्पष्ट अभि-व्यक्त हुई है। यक्षवर्णित विरहिणी निर्विन्ध्या की दशा भी देखिये।

> वेणीभूतप्रतनुसलिलाऽसावतीतस्य सिन्धु
> पाण्डुच्छायातटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णै ॥ पू० मे० २९॥

अपनी प्रियतमा की दशा भी वह ऐसी ही बतलाता है।

आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः। उ० मे० २६॥

निर्विन्ध्या की यह दशा यक्ष की दृष्टि में मेघनायक के सौभाग्य का चिन्ह है—

सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती

यक्षिणी की विरहविधुरता से वह अपने आपको भी सुभग मानता है—

वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः करोति
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत् ॥ उ० मे० ३१ ॥

विद्युत्प्रियतमा के साथ उज्जयिनी के किसी महल की अटारी मे रात्रि बिताने के पश्चात् जिसमें वह चिरविलास के कारण थक भी जायेगी[1], मेघ से आगे बढ़ने और मार्ग में मछलियो के उद्वर्तनरूप गम्भीरा नदी के कटाक्षों को सार्थक करने का आग्रह किया है।[2] शिथिलनितम्बवसना नायिका की मादकता का क्या कहना ! विश्वामित्र भी उसके वश मे आ सकते हैं तो और की तो बात ही क्या, विशेषतया काम रूप पुरुष की उसका आकर्षण किसी को भी विस्मृतकर्त्तव्य ही नहीं आत्मविस्मृत भी कर सकता है। यक्ष स्वय इसका भुक्तभोगी है। प्रेम ही की रतिमादकता के कारण वह अपने दैनिक नियोग के अनुष्ठान में शिथिलता कर गया जिसके कारण उसे सुदीर्घ वर्षभोग्य शापविरह का शिकार होना पड़ा। इसीलिये वह मेघ को सावधान करता है कि गम्भीरा के सलिल रूपी नीलवसन को जिसे वह अपने तट रूपी नितम्ब से खिसकता देखकर बेत के शाखा रूपी हाथों से सम्भालती ही दीख पड़ेगी, हटाकर बिलम्ब से ही वह आगे जा सकेगा। भला कौन रसज्ञ निर्वसन-जघना कामिनी को छोड़ सकता है ?

तस्याः किञ्चित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
नीत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥ पू० मे० ५०

गङ्गा का यह स्वाधीनपतिका का रूप भी देखिये जो अपने फेन के रूप में हँसकर गौरी के भ्रूभङ्ग की परवाह न करती हुई लहरों के हाथों से शम्भु के केश पकड़े हुए है—

---

१. तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः॥

२. गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या—
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि पू० मे ४०

तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपंक्तिम् ।
गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः
शम्भोः केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥ पू० मे० ५०

कैलास की गोद में पड़ी हुई अलका का यह कामिनी-रूप भी कुछ कम दर्शनीय नहीं—

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥

'कैलाश रूपी प्रेमी की गोद में पड़ी हुई अलका को, जिसका गङ्गा रूपी दुपट्टा खिसका हुआ होगा और जो वर्षा ऋतु मे सलिल बरसाते मेघवृन्द को वैसे ही धारण करती है जैसे कामिनी मोतियों के जालों से ग्रथित अपने अलकों को, तुम देखते ही पहचान लोगे।

मानवीय भावों और प्राकृतिक व्यापारों का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव इस श्लोक में कितनी सुन्दरता से व्यक्त हुआ है—

तस्मिन् काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानाम्
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु ।
प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥ पू० मे० ३९ ॥

उस समय प्रेमियों को खण्डिता नारियों के अश्रु शान्त करने होंगे। अतः तुम तत्काल सूर्य के मार्ग से हट जाना क्योंकि वह भी (रात्रि में कहीं अन्यत्र रह कर) लौटने पर नलिनी के कमलमुख में ओसरूपी आँसुओं को पोंछता हुआ तुमसे अपने करों (किरणों) का अवरोध पाकर अत्यन्त कुपित हो जायेगा।

इस प्रकार कालिदास के प्रकृति-चित्रण में एक ओर प्रकृति का स्वतन्त्र रूप में वर्णन मिलता है जो ऋग्वेद के वर्णनों के समान ही शुद्ध एवं स्वतः पूर्ण है और दूसरी ओर वाल्मीकि द्वारा प्रकृति को प्रदत्त मानवीय मनोभावों की अभिव्यक्ति के साधन-रूप का भी निखार प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, एक अन्य विलक्षणता यह है कि प्राकृतिक पदार्थों का प्रतीकरूप में जैसा सशक्त और सुव्यवस्थित रूप कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है वैसा वाल्मीकि की रामायण में नहीं है। परवर्ती साहित्य में इन प्रतीकों का रूढ़िरूप में बहुत प्रयोग हुआ है। यह कहना कठिन ही नहीं असंभव है कि कालिदास ने ही इनका प्रचलन किया। संभव है यह कालिदास के उन पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव हो जिनके नाम और रचनाएँ आज लुप्त हो चुके हैं। कालिदास की शैली के सभी तत्त्व उनकीप्रतिभा और अभ्यास से ही प्रसूत हैं यह कहना असंभव

है। पूर्ववर्ती[1] सूरियों द्वारा प्रचालित परम्पराओं का बल भी उन्हें अवश्य प्राप्त था। इन प्रतीकों का एक उदाहरण लीजिए।

> श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
> वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
> उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
> हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥ उ० मे० ४१ ॥

अपनी पत्नी को संदेश भेजता हुआ यक्ष कहता है—मैं तुम्हारे अंग का प्रियङ्गु लताओं मे, चितवन का चकित हिरनियों के दृष्टिपात में, मुख की कान्ति का चन्द्रमा में, केशों का मोर के पिच्छ मे और भ्रूविलास का सरिता की लघु लहरियों मे दर्शन करता हूँ। ओह! मानिनि! किसी एक में तुम्हारी समूची समता नही दिखती।

नायक-नायिका के हृदय में काम का सञ्चार करने के लिये प्रकृति का उद्दीपन रूप कालिदास के चित्रण मे बड़े ही सयत रूप में चित्रित हुआ है। उत्तरवर्ती कवियों ने तो इसकी अति ही कर दी है। कालिदास ने उद्दीपन के अतिरिक्त सुरतजन्य क्लान्ति को शान्त करने के लिये भी प्रकृति को साधन बनाया है।[2] इसी प्रकार मनोभावो की अभिव्यक्ति में भी कालिदास वाल्मीकि द्वारा प्रदर्शित दिशा मे बहुत दूर तक चले गए हैं। यहाँ हम प्रसङ्ग के अनुसार दोनों के केवल प्रेमपक्ष पर विचार करेगे। वाल्मीकि ने प्रेम का एक अत्यन्त उदात्त स्वरूप सामने रखा है जिसमें आदर्श और कर्तव्य-भावना का ही उत्कर्ष है। सभोग पक्ष को उन्होने उसका चरम उद्देश्य नही माना है इसीलिये रामायण के राम आदर्श और कर्तव्य की वेदी पर प्रेम की बलि देकर सीता का त्याग करते हुए दिखाई देते हैं। कालिदास ने भी आसक्तिरहित भोग का संकेत रघुवंश में **प्रजायै गृहमेधिनाम्** कह कर किया है, फिर भी उन्होंने संभोग शृङ्गार का भी पर्याप्त वर्णन किया है जिससे विलासिता की गन्ध आ सकती है। किन्तु इस मार्ग का प्रदर्शन भी आदिकवि बालि-वध के पश्चात् सुग्रीव और तारा के विलास का संकेत देते हुए कर चुके थे। यह कोई नयी बात नहीं थी। वैदिक ऋषि की "**मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्**" उक्ति भी कुछ कुछ ऐसी ही व्यञ्जना प्रस्तुत करती है। धीरे धीरे कवियों ने भोगप्रधान प्रेम को काव्य का लक्ष्य बनाना प्रारम्भ किया। कालिदास के परवर्ती कवियों में तो शारीरिक भूख का उद्दाम रूप दिखाई पड़ता है किन्तु कालिदास प्रेम और शृङ्गार के कवि होते हुए भी भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। शृङ्गार का सभोग-प्रधान स्वरूप उन्होंने चित्रित अवश्य किया है किन्तु उसे आदर्श अथवा कर्तव्य-भावना के ऊपर मान्यता कभी नहीं दी। जैसाकि कहा गया है मेघदूत में सभोगपक्ष के अनेक ऐसे चित्र हैं जिन्हें देखकर कालिदास के हृदय में भी शारीरिक भूख की भ्रान्ति लोगों को हो गई है। इसीलिए एक किंवदन्ती

---

१ अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः; रघुवंश: प्रथम सर्ग।

२ पूर्वमेघ ३।

के अनुसार उन्हें निरंकुश विलासी और कुम्भीपाक से न डरने वाला भी बताया गया है। ऊपर संभोगव्यञ्जक प्राकृतिक व्यापारों का चित्रण उपस्थित करने वाले कतिपय श्लोक उद्धृत किये गये हैं। उज्जयिनी के नागरों की संभोगप्रवणता देखिए—

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतोः
त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः ।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ पू० मे० २५

यक्ष मेघ से कहता है कि 'वहाँ विश्राम के लिये तुम 'नीचे' नाम के पर्वत पर रुकना जो अपने पूर्णतया विकसित कदम्बों के कारण तुम्हारे सपर्क-जन्य हर्ष से पुलकित-सा लगेगा। यह शैल सुगन्ध उड़ाते हुए अपने शिला-सदनों से उज्जयिनी वासियों के उद्दाम यौवन की सूचना देता रहता है। और अलकापुरी की ये लोकोत्तर रंगरेलियाँ जहाँ नक्षत्रों की कान्ति के फूलों से अलकृत महलों की स्फटिक निर्मित स्थली पर अपनी अलबेली कामिनियों के साथ बैठे हुए यक्ष लोग धीरे-धीरे बजते हुए मृदंग जैसे गम्भीर मेघ-गर्जन मे कल्प-वृक्ष से प्रसूत रति-सर्वस्व मधु का पान किया करते हैं—

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः
आसेवन्ते मधुरतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु उ० मे० ३ ॥

कालिदास ने मधु को 'रतिफल' कहा है। मधुपान के पश्चात् रागाधिक्य से शिथिलबन्ध कौशेय अधोवस्त्र को प्रियतम के चञ्चल हाथों की लपेट में पाकर लज्जा-मूढ रमणियाँ सुगन्धित द्रव्यों का चूर्ण मणि-प्रदीपों पर व्यर्थ ही फेंकती हैं।

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ उ० मे० ५ ॥

सुरतग्लानि के अपसारण के संभार भी देखिये—

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिंगनोच्छ्वासितानां
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥ उ० मे ७ ॥

वहाँ, मेघों का अवरोध हट जाने से चन्द्रमा की निर्मल किरणों का स्पर्श पाकर जलकण टपकाती हुई चन्द्रकान्त मणियों की झालरें, निशीथ-समय में, प्रियतम के गाढ-आलिंगन के कारण हाँफती हुई अंगनाओं की सुरत-जनित ग्लानि को दूर किया

करती हैं। जिनके घरों में अक्षय्य निधि मौजूद हों उनका सदा विलासरत रहना स्वाभाविक ही है—

अक्षय्यान्तर्भवननिधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम् ।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्याः सहाया
बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति ।। ८०।।

तभी तो अभिसारिकाओं के अभिसरण मार्ग की यह दशा है—

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै—
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ।।

जहाँ अभिसारिकाओं के अलकों से गिरे हुए मन्दार के पुष्पों, कानों से गिरे हुए स्वर्णकमलों और उरोजों से टकरा कर टूटे हुए हारों के बिखरे हुए मोतियों से सूर्योदय के बाद उनके रात के मार्ग का पता चलता है। इस प्रकार के वर्णनों पर दृष्टिपात करने से मेघदूत भोग-प्रधान काव्य प्रतीत होता है किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर उसके मूल में संयम का जो सूत्र आरम्भ से अन्त तक फैला हुआ है वह भारतीय अध्यात्मवाद और साधना के प्रति कवि की पूर्ण सजगता का द्योतक है। संसार मे सबसे महनीय वस्तु है आत्म-नियोग अथवा स्वकर्त्तव्य। यक्ष ने प्रेमभाव में अधिक आसक्त होने के कारण उसमें शिथिलता दिखाई। विषयासक्तिजन्य प्रमाद का फल उसे भोगना पड़ा और जिसके कारण वह कर्त्तव्यच्युत हुआ आकर्षण के उस केन्द्र-बिन्दु से बहुत दूर रहकर उसे एक वर्ष त्याग और तपस्या का जीवन बिताने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस एक वर्ष में उसने बहुत कुछ सीखा, उसका जीवन-दर्शन ही बदल गया। सबसे बड़ी बात जो उसने सीखी वह यह थी कि जीवन में काम का स्थान क्या है? वह आत्म-कल्याण का साधन किस रूप में बन सकता है। निश्चित सीमा से अधिक बढ़ने पर वह मनुष्य को नीचे गिरा देता है। अलका के वासी को भी रामगिरि पर ला पटकता है। इस एक वर्ष मे उसने यह भी देखा कि काम भी सृष्टि का एक अनिवार्य तत्त्व है। उसकी नितान्त उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। उसने रामगिरि पर रहते हुए चारों ओर की प्रकृति को देखा जिसमें सर्वत्र द्वैत था, किन्तु इस द्वैत को अभिभूत कर एकत्व और सान्निध्य की लालसा का पारस्परिक आकर्षण भी कुछ कम नहीं था। इसके बिना प्रकृति का काम चल भी नहीं सकता था। यही आकर्षण साहित्यिक क्षेत्र में कामपद से अभिधेय है और इसके चित्रों से सारा पूर्वमेघ भरा पड़ा है जिसके कुछ उदाहरण हम ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं। किन्तु काम स्वयं साध्य नहीं है वह शिव से संगत होने पर ही स्पृहणीय है। शिव (कल्याण) का प्रतिद्वन्द्वी होने पर तो उसका जलकर खाक हो जाना ही श्रेयस्कर है और शिव के अनुकूल बनकर वह विलक्षण जीवन धारण कर लेता है। यक्ष ने

शिव के अनुकूल न पड़ने वाले काम के वश में होकर एक वर्ष का कठिन प्रवास भोग कर यह सीखा था और इसीलिए वह अपने कामरूप प्रकृतिपुरुष को उसकी उत्तर-यात्रा में सर्वत्र शिव के सामने नत होने का उपदेश देता है। काम कालिदास का इष्ट अवश्य है किन्तु स्वच्छन्द अथवा धर्मव्यतिरिक्त एवं साधनाहीन काम उनकी दृष्टि में हेय है। 'इष्टं धर्मेण योजयेत्' के अनुसार उन्होंने अपने काम को धर्म से युक्त ही रखा है जो उन्हें भोगप्रधान उत्तरवर्ती कवियों की श्रेणी से उठाकर वाल्मीकि द्वारा अधिष्ठित प्रथमकोण कविपंक्ति के अन्तिम छोर पर बैठा देता है। सयोग में खोये हुए सन्तुलन को यक्ष ने विरहावस्था में पाया तभी तो वह सरित्प्रेयसियों का रस-ग्रहण करने और विद्युत् के साथ चिरविलास करने का उपदेश देता हुआ भी मेघ से स्पष्ट शब्दों में देव-सेना के रक्षक शिव के तेजःस्वरूप स्कन्द पर आकाशगङ्गा के जल से आर्द्र पुष्पों की वर्षा करने के लिए कहता है।[1] शिव के तेज-स्वरूप स्कन्द की ही पूजा नहीं अपितु स्कन्द के मोर को भी, जिसका बर्ह भवानी भी पुत्र-प्रेम के कारण अपने नीलकमल से सुशोभित कान में धारण करती हैं[2]; प्रसन्न करना आवश्यक है।

मेघ के गर्जन का चरम फल धरती को उपजाऊ बनाने[3] अथवा स्तनितसुभग वेत्रवती के मुखरस का पान[4] करने में ही नहीं है अपितु स्कन्द के मोर को नृत्य-सुख-प्रदान करने और शिव की आरती के वाद्यों में सहयोग देने में है[5] और उसके शरीर का चरम उपयोग शिव की इच्छापूर्ति में है—

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या: ।। ३६ ।।

शिव के चरणचिह्न की भक्तिपूर्वक परिक्रमा भी उतनी ही आवश्यक है —

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले:
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः ।। ५५ ।।

किन्नरियों द्वारा गीयमान त्रिपुरविजय-गीतों में अपने गर्जन से गिरि-कन्दराओं को मृदंग के समान गुंजाता हुआ मेघ संगीत को पूर्णता प्रदान करे तो अच्छा है —

निर्ह्रादिस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्या-
त्संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्र. ।। ५६ ।।

इस कामरूप पुरुष की कृतार्थता इसमें है कि अपने अन्तस् की समूची

1. पूर्वमेघ ४३।
2. ,, ४४।
3. पूर्वमेघ ११।
4. ,, २४।
5. ,, ३४।

रसमयता और चपलता को स्तम्भित कर शिव-पार्वती के चरणो मे जा पड़े —

हित्वा तस्मिन् भुजगवलय शभुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी ।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुस्तम्भितान्तर्जलौघ
सोपानत्व कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ।। पू० मे० ६० ।।

इन सब वातो मे अध्यात्मभाव की स्पष्ट झलक मिलती है जो काम के कल्मष को जलाती हुई उसके सुवर्णरूप को सामने रखती है। कालिदास के कामरूप मेघ की यात्रा का लक्ष्य अलकापुरी है जहाँ एक ओर तो कामी जन मुख्य अप्सराओ के साथ वार्तालाप करत हुए 'वैभ्राज' नाम के बहिःस्थित उपवन मे प्रवेश करते हैं [1] और दूसरी ओर भगवान् शिव को वहाँ साक्षात वसते देखकर कामदेव अपना धनुष ही धारण नही करता।[2] शिव के मस्तक के चन्द्र की चाँदनी इस भोगपुरी अलका के भवनो को धवलित करती रहती है और यह अलका शिव के निवास कैलाम के उत्सङ्ग मे ही तो विद्यमान है। जैसा कि डा० वासुदेव शरण ने मेघदूत के अपने अनुवाद की भूमिका मे दिखाया है, शिव के स्वरूप का पूरा पूरा सन्निवेश कालिदास ने इस रचना में कर दिया है। उज्जयिनी मे महाकाल शिव के पवित्र धाम का उल्लेख, उनके गणो का कण्ठ के नीले होने का, नृत्य का और गजासुर के चर्म-परिधान का उल्लेख है।[3] शूली कह कर उनके त्रिशूल की ओर भी सकेत किया गया है, चण्डी भवानी और गौरी के नाम, शिव के अट्टहास[4], उनके वृषभ[5], जटाओ मे बहती हुई गङ्गा और पार्वती के साथ उसके सपत्नीभाव का वर्णन भी है।[6] पार्वती के साथ उनके विहार का[5] उनके सर्पवलयो का, कुबेर के साथ मैत्री का, त्रिपुरविजय और किन्नरियो द्वारा उसके गान का उल्लेख भी किया गया है। शिवजी त्रिनयन (१/५६) हैं, उनके ललाट पर स्थित द्वितीयाचन्द्र (१/५६) मदन-दहन, कैलास-निवास १/६०, और पशुपति (१/६०) होने का भी वर्णन है। शिव के चरणन्यास की परिक्रमा स्थिर पद प्रदान करने वाली है। स्कन्द के जन्म का और उनके मोर का भी वर्णन है। शिव का तेज सूर्य से भी अधिक तेजस्वी है जो अग्नि के मुख मे सचित होकर कुमार के जन्म का कारण बना —अत्यादित्यं हुतवहमुखे सभृत तद्धि तेजः। (पू० मे० ४७।) मेघदूत के अध्ययन से प्रसूत उक्त निष्कर्षों की छाया मे प्रो० हिरियन्ना का

1 वैभ्राजाख्य विबुधवनितावारमुख्यासहाया
बद्धालापा बहिरुपवन कामिनो निर्विशन्ति ।। उ० मे० ८ ।।
2 मत्वा देव धनपतिसख यत्र साक्षाद्वसन्त
प्रायश्चाप न वहति भयान्मन्मथ षट्पदज्यम् ।। उ० मे० १० ।।
3. पृ० मेघ ४० ।
4 वही, ६० ।
5. ,, ।
6. ,, ५४ ।
7. ,, ६४ ।

यह कथन कुछ विरुद्ध सा प्रतीत होता है कि— Here the poet describes the frustrated love between a yaksha and his consort and his thoughts are so much engrossed with that feeling that he ignores almost everything else.[1]

किन्तु बात वास्तव मे ऐसी है नहीं, उनके इस कथन का तात्पर्य यही है कि प्रेमभाव की अनुभूति कवि मे इतनी सघन हो उठी है कि अन्य अनुभूतियाँ उसमें विलीन हुई सी प्रतीत होती हैं। भारतीय आदर्श, विश्वास और मान्यताएं—एक शब्द में भारतीय संस्कृति—उनके विचार और भावों में रमी हुई है। वहाँ द्वैत भावना का प्रश्न ही नही। इसलिए वह उनके प्रेमतत्त्व के परमाणुओं मे अनायास ही समाविष्ट है जिनके कारण उनका प्रेमविषयक आदर्श अपने वर्तमान रूप को पा सका। अस्तु, संभोग और साधना का, श्रेय और प्रेय का, आदर्श और यथार्थ का जैसा सुन्दर समन्वय कालिदास ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। वे वाल्मीकि की आध्यात्मिकता और आदर्श तथा परवर्ती कवियों के उद्दाम-शृङ्गार वर्णन की प्रवृत्ति के बीचों बीच खड़े हैं। शृङ्गार का उन्मुक्त स्वरूप—प्रेमपथ पर अविचारित पदन्यास—उन्हें पसन्द नही था और उसके लिये यक्ष से, शकुन्तला से और पुरुरवा से उन्होंने पूरा-पूरा प्रायश्चित कराया है। इस क्षेत्र मे असावधानी का फल मनुष्य को भोगना पड़ता ही है यह एक प्राकृतिक व्यवस्था है और कालिदास ने मानवजाति के सामने ऐसे पात्रों की अवतारणा कर इस ओर से सजग रहने का सन्देश दिया है। प्रायश्चित के रूप में विप्रलम्भ की जो योजना कालिदास करते हैं वह भी अभूतपूर्व है। वियोग का कारण इतना बलिष्ठ होता है कि उससे बचकर निकला ही नही जा सकता। यह कारण किसी दैवी विभूति के शाप के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शाप-विप्रलम्भ की अवश्य-भोक्तव्यता के कारण ही भरत ने उसे करुण के ही अन्तर्गत माना है।[2] यक्ष-यक्षिणी कुबेर के शाप के कारण, दुष्यन्त-शकुन्तला दुर्वासा के शाप के कारण और पुरुरवा-उर्वशी स्कन्द के शाप के कारण वियुक्त होते हैं। शापहेतुक विप्रलम्भ की यह योजना कालिदास का अपना आविष्कार है जिसे परवर्ती कवियों ने भी अपनाया और आचार्यों को काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसे स्वतन्त्र स्थान देना पड़ा। शाप के कारण वियोग की बात आज के आलोचक की रुचि के अनुकूल चाहे न बैठे किन्तु उसके मूल में जो भावना निहित है वह सब को मान्य है। उसे नया आलोचक चाहे (Poetic Justice) कह ले और चाहे आदर्शवाद। अलौकिकता का यह समावेश लौकिक व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान करने के लिए ही है। इसी को आप चाहें तो स्वर्ग और मर्त्यलोक का एकत्र मिलाप भी कह लीजिये। इस प्रसंग में एक बात और है, वह यह कि कालिदास का प्रेमदर्शन सवासोलह आने अपना है; आर्य-मार्ग

1. संस्कृत स्टडीज, पृष्ठ ८।

2. करुणस्तु शापक्लेशविनिपातेनेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधबन्धनसमुत्थो निरपेक्षभाव औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः। नाट्यशास्त्र अ० ६, पृष्ठ ७३।

पर अवधारित है। वह वाल्मीकि द्वारा चित्रित सीता-राम के प्रेम का स्वतः सिद्ध विकास है। उस पर आभीर जाति के उन्मुक्त जीवन-दर्शन और प्रेम-विधान की छाप नहीं है। इसके लिये अलग प्रमाण की आवश्यकता प्रतीत नही होती जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उसी से यह भली-भाँति समर्थित हो जाता है।

कालिदास की एक अन्य विशेषता, जो परवर्ती संस्कृत गीतिकारों और कवियों में प्रायः नही मिलती है अथवा अपवाद रूप में ही मिलती है, यह है कि उनकी दृष्टि सर्वदा जीवन के विस्तृत क्षेत्र मे विचरण करती रही है। नागर जीवन का कृत्रिम चाकचक्य उसके प्रसार को आगे बढने से कही नहीं रोक सका है। लोक-निरीक्षण और विविध जीवन व्यापारों के वे धनी हैं। प्रकृति से उनका अव्यवछिन्न लगाव है। इसलिये उनके इस छोटे से गीतिकाव्य में वे सभी गुण समाविष्ट हो गए हैं जिनके कारण गाथासप्तशती का आज भी इतना आदर है। उत्तरी भारत के समग्र प्रसार में पड़ने वाले नदी-नद, वन-पर्वत, वृक्ष-लताएँ, पशु-पक्षी, ग्राम-नगर, जल-वायु, आदि के स्वभाव और व्यापारों की बानगी इसमें संगृहीत है। अलका की मणिमय-भवनविहारिणी दिव्य नायिकाओं से लेकर कुञ्जविहारिणी वनचरवधूओं तक के विहार का वर्णन मेघदूत में मिलता है। आकाश में उड़ते हुए मेघ को देखकर प्रोषितपतिकाएँ प्रियतम के आने की आशा से टकटकी लगा कर देखने लगती हैं।[1] वही पर्वत के ऊपर उड़ता हुआ मुग्ध सिद्धाङ्गनाओं को विस्मय में डाल देना है उन्हें ऐसा लगता है जैसे पहाड की चोटियों को पवन उड़ा ले जा रहा है।[2] भ्रूसंचालन के रहस्य को न जानने वाली ग्रामीण वधूटियाँ उसे कृषि-सर्वस्व मानकर प्रेमभरे नयनों मे भर लेना चाहती हैं।[3] पर्वतीय कुञ्जों में रमण करने[4] वाली वनचरवधुएँ, पुष्प-चयन करती हुई मालिनें, जिनके कानों के फूल कपोल के स्वेद को पोंछने में रगड़ खाने से कुम्हला गए हैं।[5] विद्युत्-प्रभा से चकाचौंध नारियों की चंचल चितवन, जल-विहाररत आवन्तिकाएं,[6] चरणों की ठुमक से रुनझुन करती हुई मेखला वाली तथा चामर-संचालन से शिथिल हाथों वाली कटाक्ष-निपुण वेश्याएँ[7] भ्रूविभ्रमों से परिचित दशपुर की स्त्रियाँ जिनके ऊपर उठते हुए श्वेत श्यामल नेत्र सघन और दीर्घ बरूनियों के कारण वायु से दोलायमान कुन्द पुष्पों से पीछे हट जाने वाले भ्रमरों की शोभा को चुराते से प्रतीत होते हैं।[8] अपने कंकणों के रत्नों के आघात से मेघ को भेद कर फव्वारा बना लेने वाली केलि-चपल सुर-ललनाएँ[9] और तिरछी भौंहों के कटाक्षों से काम के धनुष-बाण का कार्य करने वाली अलका की यक्षिणियाँ, सभी उस अमर कवि के प्रतिभा-पीयूष से शब्दचित्रों में भी मानो सजीव हो उठी हैं। मेघदूत के कथानक जैसे

1. मेघदूत १-१० ।
2. ,, १-१४ ।
3. ,, १-१६ ।
4. ,, १-१६ ।
5. ,, १-२३ ।
6. वही १-३३ ।
7. ,, १-३५ ।
8. ,, १-४७ ।
9. ,, १-६१ ।

छोटे से कैनवैस पर चित्रों का यह विचित्र वैविध्य सचमुच काव्य-कला के असाधारण उत्कर्ष का परिचायक है।

कालिदास की एक अन्य विशेषता, जिसके कारण वे दूसरे कवियों से ऊपर उठे दिखाई देते है, यह है कि रूढियों के प्रति उनके मन में मोह नहीं है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। यक्षपत्नी के वर्णन में उनका एक श्लोक है जिसके अनुसार वह तन्वी, श्यामा, शिखर युक्त दाँतों वाली, पके हुऐ बिम्बफल जैसे अधर वाली तथा कृशोदरी है। उसकी चितवन हरिणी जैसी है और नाभि गहरी जघन-स्थल के भारी होने के कारण वह मन्द-मन्द चलती है और उरोजों के भार से कुछ झुकी-सी लगती है।[1]

इस पद्य में स्थूल रूप से नख-शिख वर्णन किया गया प्रतीत होता है किन्तु कवि का उद्देश्य नखशिख वर्णन ही नहीं है। उसका प्रमुख लक्ष्य है सन्देश वाहक को उसकी पहिचान बताना जिससे उसे चीन्ह कर वह सन्देश कह सके। यक्ष ने अपनी प्रेयसी का नाम तो बताया ही नही है। धर्मशास्त्र के अनुसार अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को अपना, गुरु का, अत्ययन्त कृपण का, ज्येष्ठ सन्तान का और पत्नी का नाम नहीं लेना चाहिए।[2] इसलिए वह उसके आकार-प्रकार से ही उसे मेघ के लिये सहज अभिज्ञेय बना देना चाहता है। उसके अङ्गों की विशेषताओं द्वारा मेघ उसे पहिचान लेगा, किन्तु सहसा यक्ष को ध्यान आया कि ये विशेषताएँ अलका की अन्य युवतियों मे भी हो सकती हैं। अतः वह उसके अनिर्वचनीय लावण्य को ही उसकी सहज पहिचान का चिह्न बतलाता हुआ कहता है—

'या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः'

हमारे कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि कालिदास की रचना में श्रृङ्गार–जगत् की कविसिद्ध प्रौढियों का सर्वथा अभाव है। अपने घर की पहिचान के लिये यक्ष कहता है कि उसके उपवन में एक बावड़ी होगी जिसमें मरकत की सीढ़ियाँ बनी हुई होंगीं और चिकने वैदूर्य के मृणाल वाले कमल खिल रहे होंगे। उसके विमल जल में रहने वाले हंस वर्षा में भी मानसरोवर की ओर जाने की बात नहीं सोचते। उसके किनारे पर इन्द्रनील मणियों से बना हुआ कृत्रिम क्रीड़ा शैल है जो सुनहली कदलियों से घिरा है। उस केलिशैल पर कुरुवक के वृक्षों से घिरा माधवी लताओं का कुञ्ज है जिसके समीप एक लाल अशोक का और एक मौलसिरी का वृक्ष है।[3] यहाँ तक तो कोई विशेष बात नहीं कुछ अतिरञ्जन के साथ सम्पन्न वर्ग के ऐश्वर्य का यह चित्रण तत्कालीन सामाजिक दशा पर प्रकाश डालता है। सामाजिक राजनैतिक और आर्थिक ह्रास में पिछले खेवे के कवियों ने कुछ तो परम्परा-पालन के आग्रहवश

1. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ १६॥

२. आत्मनाम गुरो र्नाम नामाति कृपणस्य च
श्रेयस्कामो न गृह्णीयाज्ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥

३. उत्तर मेघ, १३, १४, १५।

और कुछ अपनी कुंठित वासनाओं की सन्तुष्टि के लिये भले ही यह अपनाया हो किन्तु कालिदास के समृद्ध युग में यह वर्णन स्वाभाविक ही था, परन्तु आगे चलकर जब कालिदास कहते हैं कि उन रक्ताशोक और मौलसिरी के वृक्षों में एक तो तुम्हारी सखी के वामपाद का तथा दूसरा उसकी मुखमदिरा का इच्छुक है।

(एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनाऽस्याः) ॥ उ० मे० १५ ॥

तो रूढिपालन के अतिरिक्त इसका कोई अन्य उद्देश्य दीख नहीं पड़ता। इसी प्रकार कैलाश की गोद में पड़ी स्रस्तगङ्गादुकूला अलका[1] में स्वाधीनपतिका के रूप का आधान चाहे कवि का इष्ट न रहा हो और वह मल्लिनाथ आदि टीकाकारों की प्रतिभा का ही परिणाम हो किन्तु अभिसारिकाओं[2] का विशद वर्णन और खण्डिता[3] का स्पष्ट उल्लेख जान-बूझकर उनके समावेश का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इस से यह पता चलता है कि कालिदास से पहले से ही एक पर्याप्त पुष्ट नायिका-भेद-वर्णन-परम्परा चली आ रही थी और कालिदास ने परम्परा-प्राप्त कतिपय रूढियों का पालन करने के अतिरिक्त कुछ ऐसी मौलिक कल्पनाओं का वर्णन भी है जो स्वयं आगेके कवियों और आचार्यों को रूढ़ि के रूप में आकृष्ट कर सकी।

मेघदूत का भावपक्ष बड़ा है प्रबल और इस बात का स्वयं साक्षी है कि वह वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत मार्ग का अत्यन्त परिमार्जित रूप है। उनकी सभी रचनाओं में भावनाओं की गहराई में इतिवृत्त प्रायः डूब सा गया है। इसीलिए उनके प्रबन्धकाव्य भी गीति काव्य के अधिक निकट आ गये हैं। विरहिणी यक्षपत्नी का यह स्वरूप कितना मार्मिक है—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥ उ० मे० २२ ॥
उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥ २३ ॥

मित्र मेघ! ज्यों ही तुम्हारी दृष्टि पड़ेगी तुम उसे मान-मनौती करती हुई पाओगे या फिर वह अपनी कल्पना से मेरा विरह-क्षीण चित्र बनाती हुई मिलेगी अथवा पिंजरे में स्थित मधुर-वचना सारिका से पूछ रही होगी कि क्या तुम स्वामी का स्मरण करती हो? तुम तो उन्हें बहुत प्यारी हो। यह भी हो सकता है कि वह मेरे नाम से अंकित गीतबद्ध पदावली के गान की इच्छा से अपनी मलिन गोद में

1. पू० मे०, ६३।
2. वही, ३७।
3. वही, ३९।

वीणा को डाल कर आसुओं से भीगे हुए तारों पर जैसे-तैसे मिजराब लगाकर बार-बार स्वयं ही उठायी हुई मूर्च्छना को भूलती हुई दीख पड़े ?

और यक्ष की यह विवशता जो दैन्य, स्मृति, विषाद और जड़ता के साथ कृतान्त के प्रति असूया के पञ्चामृत से अनुप्राणित हो उठी है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥उ० मे०॥

शिला पर गेरू आदि से तुम्हारा प्रणय-मान की अवस्था का चित्र बनाकर मैं ज्यों ही तुम्हारे चरणों में गिरना चाहता हूं मेरी दृष्टि फिर उमड़ते हुए आँसुओं मे लुप्त हो जाती है। हाय ! क्रूर काल को उसमें भी हमारा मिलन नहीं सुहाता।

वियोग की प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय दशाएँ, मेघदूत में मिल जाती हैं। यक्षपत्नी मधुपान आदि बाह्यभोगों से विरक्त होकर अन्तर्मुखी हो उठी है। अभिलाष और चिन्ता से वह अभिभूत है। मत्संगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती[1] मे गिने चुने शब्दो द्वारा इन दोनों भावों की व्यञ्जना हुई है। 'संगमेच्छा अभिलाषः' के अनुसार संगम का हृदयनिहित होना अभिलाषा का सूचक है और मिलनरात्रि के सयोग की कल्पना करके उसका आनन्दास्वादन करना चिन्ता[2] है। 'कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रिया, में स्मरण की व्यञ्जना है।" 'मद्गोत्राङ्कं विरचित-पदं गेयमुद्गातुकामा मे गुणकथन का संकेत है। वह प्रियतम के गुणगान से मन को बहलाना चाहती है किन्तु आँसुओं की व्याधि उसे यह भी नहीं करने देती। जड़ता उसे घेर लेती है और वह मूर्च्छना के स्थान में मूर्च्छा ही पाती है।[3]

ये उदाहरण इस तथ्य के साक्षी हैं कि एक-एक पंक्ति में भावों का अथाह सागर भर देने की शक्ति कालिदास में है। मेघदूत के इस भाव सागर में कथानक दीख ही नहीं पड़ता। प्रो० हिरियन्ना का यह मत समीचीन ही है—

The plot all but reaches the vanishing point. There is only the faintest allusion to the incidents that leap upto the bitter disappointment, and the poet does not care even mention the names of the hero and heroine.

(Sasnkrit studies pp. 8)

डा० रामखेलावन पाण्डेय का यह कथन कि "इसके आधार रूप में आख्यान का आग्रह भी कम नही इस कारण इसमें गीतिकाव्य और आख्यानकाव्य के तत्त्वों का सम्मिश्रण है" ठीक नहीं जँचता। आख्यान काव्य में कथा का प्रवाह प्रमुख लक्ष्य

1. मेघदूत २/५४
2. दर्शनसंभोगयोः प्रकारभावना चिन्ता।
3. विस्मरणं यत्र दयितगुणस्मृतिजनितमूर्च्छावशादेव, मल्लिनाथ, उत्तर मेघ २३।

रहता है। भाव के लिए उसका बलिदान करना अभीष्ट नहीं होता जबकि गीति-काव्य में इसके विपरीत कथानक का आग्रह नहीं होता और वह भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र समझा जाता है। यदि मेघदूत में कथानक का आग्रह होता तो उसके प्रवाह को बनाये रखने के लिए कवि सर्वत्र प्रयत्नशील रहता किन्तु उस ओर से वह पूर्णतया उदासीन है। पाण्डेय जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि "मन्दाक्रान्ता में एक ओर विषाद की जहाँ गम्भीर व्यञ्जना हुई वहाँ कथानक के विकास में विरोधी भी उत्पन्न हुआ" इस आधार पर उनका कहना है कि इसमें प्रगीतगाथा का आग्रह अधिक है किन्तु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि "मेघदूत का गीतिकाव्यत्व देखने योग्य है"। (गीतिकाव्य, पृष्ठ ७)

मैक्डानल ने इसे गीतिरत्न[1] तथा प्रो० हिरियन्ना ने महत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्यों में से एक बताया[2] है।

वियोग-दशाओं का यह चित्रण परिपाटी का पालन करने के लिए ही नहीं है। इसकी स्वाभाविकता इन अनुभूतियों के प्रति कवि के हृदय की सचाई का प्रमाण है। परम्परा के पालन की प्रवृत्ति ही जहाँ प्रमुख बन जाती है वहाँ वर्णन ऊपर से थोपा हुआ सा प्रतीत होता है। कवि के मानस का मुक्तानिर्मल मधुर रस उसमें आ नहीं पाता। मेघदूत में व्यक्त स्वतः उच्छ्वसित भावनाओं के कारण ही विद्वानों का अनुमान है कि यह कालिदास की वैयक्तिक अनुभूतियों तथा उनके द्वारा स्वयंभुक्त प्रणय-अनुभवों से अनुप्राणित है। कीथ का कथन है कि कदाचित् अपना ही अनुभव उनकी इस रचना में व्यक्त हुआ है क्योंकि यक्ष के निवास का जैसा वर्णन उन्होंने किया है वह वास्तविक जीवन से लिया गया प्रतीत होता है।[3] डा० रामखेलावन पाण्डेय का कहना है कि कालिदास ने वैयक्तिक हर्ष शोक व्यञ्जना की है।[4] किन्तु किसी रचना में उसके प्रणेता की जीवन-घटनाओं का समावेश केवल इसलिये मान लेना कि वह जीवन के यथार्थ एवं स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करती है, असमीचीन और भ्रामक दृष्टिकोण का परिचायक है। कवि का दृष्टिकोण किन्हीं अंशों में व्यापक होता है उसकी अनुभूति जगत् की अनुभूति होती है। और जगत् की अनुभूति उसकी अनुभूति होती है। वैयक्तिकता की यह खोज गीतिकाव्य में कवि की वैयक्तिक अनुभूति को अनिवार्य मानने वाले पाश्चात्य दृष्टिकोण के आग्रह स्वरूप ही है। इस सम्बन्ध में साधारणीकरण का भारतीय सिद्धान्त ही हमें माननीय है जिसके अनुसार काव्य-गत भाव व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से व्यवच्छिन्न रहता है और प्रत्येक व्यक्ति से

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३३५।

2. 'मेघ संदेशपदावली' की भूमिका।

3. Perhaps Kalidasa had some experience of his own which the poet indicates for the vivid colours in which he describes the Yaksa's abode seem to be drawn from real life (*Hist. of sans. Lit.*, p. 86).

4. गीतिकाव्य, पृष्ठ ७।

सम्बन्धित भी हो सकता है, अतः लोक का कोई भी अनुभव सच्चे कवि का अपना अनुभव भी होता है। उसकी अभिव्यक्ति में भी वही मार्मिकता स्वत समाहित हो जाती है जो उसकी व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यञ्जना में होती।

जैसा कि कहा जा चुका है, रस की समाहिति सर्वप्रथम नाटक में ही मानी गई थी। बहुत दिनों तक काव्य का सम्बन्ध रस से अविच्छिन्न रहा। बाद में जब काव्य शास्त्र के व्यवस्थापकों के सम्मुख काव्य के अन्य अङ्ग भी रसास्वादन कराने में सक्षम पाए गए तो रस का सम्बन्ध काव्य से भी जोड़ने के प्रयत्न हुए। इससे पूर्व काव्य में अलङ्कार अथवा वाग्वैदग्ध्य को ही प्रमुखता प्राप्त थी। जब कुछ आचार्यों के प्रयत्नों से रस ने भी काव्य के क्षेत्र में मान्यता प्राप्त करनी चाही तो पहले से ही अखाड़ा जमाए हुए अलङ्कारवाद एव उसके समर्थकों ने इस नवागन्तुक का विरोध किया। कुछ खींच तान चलती रही तो अग्निपुराण के रचयिता मुनि ने समन्वय किया कि "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्"। रस की यह विजय कालिदास के काव्य की विजय थी जो उसे वाल्मीकि द्वारा प्रदर्शित भावप्रधान सुकुमार मार्ग पर चल कर प्राप्त हुई। इस रस-क्रान्ति का सूत्रपात अप्रत्यक्ष रूप से कालिदास ने ही किया और इसकी सफलता का अधिकांश श्रेय भी इन्हीं को है।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी कालिदास का अपना विशिष्ट स्थान है। वे वैदर्भी रीति के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। शैली की दृष्टि से जो सबसे बड़ी विशेषता उनमें पाई जाती है वह है उसकी ध्वन्यात्मकता। थोड़ा कहकर बहुत कुछ छिपा लेना, और इस ढग से छिपा लेना कि सहृदय-हृदय के अतिरिक्त अन्यत्र उसकी छाया भी न पड़े, कालिदास का सबसे बड़ा गुण है। वे बहुत थोड़ा कहते हैं फिर भी सब कुछ व्यक्त हो जाता है। वाल्मीकि मे सब कुछ कह डालने की—एक समग्रतापूर्ण मूर्त चित्र उतार देने की प्रवृत्ति है। कालिदास की कला में नवोढा के समान कुछ शब्दों में ही बात समाप्त कर देने और एक झलक भर दिखा देने का विलास-विभ्रम है जो अधिक कारगर है। एक उदाहरण लीजिए, यक्षपत्नी का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ॥उ० मे० २६॥

विरह-जनित कृशता सूचित करने के लिए आधिक्षामा शब्द का प्रयोग किया गया है अत "तनुमिवकलामात्रशेषां हिमांशो" का प्रयोग केवल कृशता-बोधन करने के लिए नहीं है। कवि का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा की एक कला (१६वाँ अंश) धुँधली सी आभा लिये होती है उसी प्रकार यक्षपत्नी भी विरह-जनित मलिनता से युक्त है। विरह-शयन शब्द का अर्थ मल्लिनाथ ने विरहावस्था में उपयुक्त शीतल पद्मादिनिर्मित शयन बताया है, किन्तु इस कवि को छोड़कर हम विरह-शयन का अर्थ (विरह-प्रधानं शयनम्) विरह-प्रधान शयन लेते हैं। यह पलंग वही है जिस पर वह संयोगावस्था में अपने पति के साथ शयन करती थी। अब [illegible] में विरह [illegible] और [illegible]
[illegible]

के बढ़ जाने के कारण वह और भी सबल (प्रधान) हो जाता है। इससे आधि (मानसिक व्यथा) भी बढ़ जाती है और आधिक्षामा विशेषण की उपयोगिता स्पष्ट दीख जाती है। यक्षपत्नी एक करवट (सन्निषण्णैकपार्श्वा) लेटी हुई बताई गई है जिससे उसके समक्ष शयन का दूसरा पार्श्व जो प्रियतम द्वारा अधिष्ठित रहा करता था, खाली पड़ा हुआ वेदना को और भी असह्य बना रहा है। कलामात्रशेषा मे शेष शब्द विशेषतया लक्ष्य करने योग्य है जो इस बात का सूचक है कि यक्ष पत्नी की तुलना अमावस्या के पश्चात् दिखाई पड़ने वाली चन्द्रकला से नही की गई है अपितु कृष्णपक्ष की चतुर्दशी म दीखने वाली कला से। कारण स्पष्ट है शुक्लपक्ष मे अकेली दीख पड़ने वाली कला उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है किन्तु कृष्णपक्ष मे घटते-घटते वह (चतुर्दशी को) एकाकिनी रह जाती है और दूसरे दिन बिलकुल लुप्त हो जाती है। यक्षपत्नी भी कृश होता होती इतनी दुबली हो गई है कि उसका अनिष्ट कभी भी हो सकता है। इसे विरह की कौन-सी दशा माना जाये? मूर्छा तो यह है ही नही। आप चाहे तो प्रकारान्तर से मरण दशा की अभिव्यक्ति मान लीजिए। पर वस्तुत यह मरणासन्नता है। गिने-चुने शब्दों मे कवि न न जाने क्या-क्या कह दिया। कालिदास के शब्द अभ्रकशिलाखण्ड के समान व्यङ्ग्यार्थों की तह जमाए हुए मिलते हैं। जितनी गौर से उन्हे देखें, जितना अधिक देखे, वे उतना ही सौन्दर्य प्रकट करते है। क्षण-क्षण मे नवता को प्राप्त होती हुई यह कविता-कामिनी सचमुच "कविकुलगुरु. कालिदासो विलास" उक्ति को चरितार्थ करती है—"ज्यो ज्यो नीके देखिये रूप अगाधु अपारु"।

कालिदास की शैली मे स्वाभाविकता और सरसता है। वह सरल एव प्रसाद पूर्ण है, परन्तु रामायण अथवा महाभारत की प्रासादिकता से मेघदूत की प्रासादिकता भिन्न कोटि का है। रामायण की प्रासादिकता मे कथा-प्रवाह को बनाये रखने का आग्रह भी बहुत कुछ कारण रहा है। अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। वास्तव मे विवरण मात्र देने वाली शैली की प्रासादिकता और एक कलाकृति की प्रासादिकता मे जो अन्तर हो सकता है वही इन रचनाओं मे भी है। दोनो की शैली मूलत: एक सी ही हैं। लम्बे-लम्बे समास, क्लिष्ट कल्पना और दुरूह शब्दों के प्रयोग से दोनो को बचाया गया है, फिर भी दोनों के 'फिनिश' मे अन्तर है। वाल्मीकि की शैली मे जो वन की लताओ जैसा स्वच्छन्द विलास दिखाई देता है वह कालिदास मे व्यवस्थित एवं सुसम्बद्ध रूप मे परिणत हो गया है। खुरदरेपन के स्थान में एक प्रकार की स्निग्धता उसमे व्याप्त हो गई है। शब्दों के कौशलपूर्ण विन्यास के कारण कालिदास की शैली में व्यञ्जकता और लालित्य दोनों चरम उत्कर्ष पर है। अलङ्करण की प्रवृत्ति कालिदास मे वाल्मीकि की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक है फिर भी उनके अलङ्करण-उपकरण कृत्रिमता का आभास नही देते। उनकी सादगी अभिव्यक्ति को एक विशेष सौन्दर्य प्रदान करती है। एक शब्द में हम कह सकते हैं कि कालिदास की शैली अधिक 'साहित्यिक' है। उसमें वाल्मीकि की शैली के मूल तत्त्वों—स्वाभाविकता और सरलता—की पूर्ण रक्षा

करते हुए सुकुमारता, सरसता और रमणीयता का समावेश कर दिया गया है किशोरावस्था के उन्मुक्त हास्य और चपलता के स्थान में उसमें यौवन-प्रेरित मन्द स्मिति और तरलता की प्रतिष्ठा हो गई है। मेघदूत के शैली-सौन्दर्य पर प्रकाश डालते हुए प्रो० हिरियन्ना ने कहा है :—

"There is nothing that is archaic or abstruse in it, and it is also singularly free from out of the way derivations and ponderous compounds, which may easily disfigure the composition of a poet writing in a learned language like sanskrit. It shows, by the way, that the highest form of poetry can be fashioned out of the simplest words. The range of the vocabulary again is surprisingly wide, considering the short compass of the poem. To mention only the other striking feature . very few words and phrases are used in the work mere than twice, and several only once."[1]

छन्दः प्रयोग की दृष्टि से भी मेघदूत एक आदर्श गीतिकाव्य कहा जा सकता है। परवर्ती गीतिकारों ने—विशेषतया मेघदूत के अनुकरण पर ही संदेशकाव्यों के रचयिताओं ने—इस छन्द को ही आदर्श मान कर अपनाया भी है। मन्दाकान्ता की मन्द एव तरल गति भावों के साथ मानवीय हृदय में भी स्पन्दन करने में सहायक होती है। प्रत्येक चरण के प्रारम्भ में चार गुरु अक्षरों के उच्चारण से स्वर का जो मन्द चढाव देखा जाता है वह भाव के धीरे-धीरे उठते हुए उफान का श्रवण-ग्राह्य चित्र उपस्थित करता है। इसके पश्चात् एक साथ छँ लघु अक्षरों का विन्यास, जिनका उच्चारण अपेक्षाकृत शीघ्र होता है, भाव के प्रभाव का स्वच्छन्द सचरण प्रकट करता हुआ अन्त में गुरु लघु अक्षरों के संयोग द्वारा तान के साथ भाव को भी उतारता हुआ सम पर ले आता है। स्वर के इस आरोह-अवरोह की प्रक्रिया में अमूर्त अनुभूति मूर्त रूप धारण कर लेती है। क्षेमेन्द्र ने कालिदास का मन्दाक्रान्ता पर असाधारण अधिकार स्वीकार किया है जिसे वे अपने भावों के अनुरूप प्रयोग में लाते हैं :—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना॥

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं :—

१. मेघदूत में प्रकृति के स्वतः-संवेद्य चित्र मिलते है जो ऋग्वेद अथवा रामायण के प्रकृति-वर्णन की तुलना में रखे जा सकते है।

२. मानव भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए साधन रूप मे प्रकृति का प्रयोग करने की जो प्रवृत्ति सर्व प्रथम वाल्मीकि ने दिखाई थी उसका भी अत्यन्त

1. Forward to Padawali of Meghsandesh by Yatiraj Sampat Kumar Ramanujam.

विकसित रूप इस रचना में मिलता है।

३. कथानक का अस्तित्व इसमें अनुभूति की अभिव्यक्ति का आधार मात्र है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि वाल्मीकि ने मानव-भावों को ही काव्य का प्रवृत्तिनिमित्त मानने का श्री गणेश किया था तो कालिदास ने उसमें सक्रिय योग देकर पूर्णता की प्रतिष्ठा की।

४. वाल्मीकि ने शृंगार का गम्भीर एवं संयत रूप प्रस्तुत किया है जो भारतीय संस्कृति के नितान्त अनुकूल है। भावना के ऊपर उन्होंने कर्त्तव्य की विजय दिखाई है और भारतीय आदर्श की रक्षा करते हुए प्रेम के गम्भीर सागर में विक्षोभ की स्थिति का चित्रण भी किया है। अर्थात् मूलतः एक-प्रकृतिक होता हुआ भी कालिदास का प्रेम वाल्मीकि के प्रेम की अपेक्षा कुछ तरल अवश्य है।

५. शैली के क्षेत्र मे कालिदास एकदम क्रान्तिकारी सिद्ध होते हैं। अभिधा तथा व्यास शैली के प्रचलित मार्ग को त्याग कर उन्होंने व्यञ्जना और समास-शैली को अपनाया है जो स्वयं गीतिकाव्य की एक विशेषता है।

६. शब्दों का कौशलपूर्ण चयन और कलात्मक प्रयोग कर उन्होंने भाषा को अधिकाधिक माधुर्य, लालित्य और भावप्रेषणीयता प्रदान की तथा छन्दः कौशल द्वारा गेयता का ऐसा पुट दिया जो अभिव्यक्ति को तीव्र करने मे अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ।

ये तथ्य वाल्मीकि से कालिदास तक आने में सभूत विकास के परिचायक है: और मेघदूत मे गीतिकाव्य के प्रायः सभी गुणो का समावेश सिद्ध करते हैं। एक वाक्य में हम यह कह सकते है कि कालिदास प्रकृति-चित्रण, भाव-सान्द्रता, शैलीगत चारुता, माधुर्य तथा गेयता आदि की दृष्टि से काव्य-हिमाचल के उस स्थान पर खड़े है जहाँ चढाई का अवसान और उतराई का प्रारम्भ दोनों मिले हुए हैं। अतः हम मैक्डानल के स्वर मे स्वर मिलाते हुए मेघदूत को गीतिरत्न मानने का लोभ सवरण नही कर पाते।

## घटकर्पर

कालिदास ने सस्कृत-गीति-काव्य को एक नया मोड़ दिया। बहुत से कवियों ने कथावस्तु, वर्ण्य-विषय, भाषा-शैली, छन्द आदि की दृष्टि से उनका सर्वाङ्गीण अनुकरण किया और सन्देशकाव्य की एक दीर्घ परम्परा का सूत्रपात हुआ। सबसे पहले घटकर्पर सामने आए। घटकर्पर काव्य २१ पद्यों का एक छोटा सा सन्देश-काव्य है। वर्षाकाल के प्रारम्भ में एक वियोगिनी द्वारा अपने प्रियतम के पास भेजे गए संदेश का इसमे वर्णन है। जाकोबी का अनुमान है कि यह मेघदूत से पहले लिखा गया होगा क्योंकि यदि बाद मे लिखा गया होता तो लेखक को गर्वोक्ति करने का साहस नही होता, परन्तु यह कथन सर्वथा निराधार है। शैली की कृत्रिमता और शाब्दिक आडम्बर का आग्रह इसे कालिदास के बाद की ही रचना सिद्ध करते हैं। जहाँ तक गर्वोक्ति का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में यह लक्ष्य करने की बात है कि कवि ने केवल यमक के विषय में गर्वोक्ति की है—जीयेय येन कविना यमकैः

परेण तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण। यमक के चमत्कार के अतिरिक्त घटकर्पर एक साधारण कोटि की रचना है। निःसन्देह यमक की योजना में रचयिता पर्याप्त दक्ष है, फिर भी अच्छा ही हुआ कि जगद्धर भट्ट उसके समकालीन नहीं थे अन्यथा सम्भव था उसे अपनी शर्त के अनुसार घटकर्पर से ही पानी भरना पड जाता। जगद्धर भट्ट १४ वीं शताब्दी के कवि हैं। इनकी स्तुति-कुसुमाञ्जली में यमक का अत्यन्त प्रौढ एवं उत्कृष्ट रूप पाया जाता है। एक उदाहरण लीजिए:—

स यस्य पादद्वयभिद्धशासनः
सदा नमभ्यर्चति पाकशासनः।
प्रभुः प्रसादामलया दृशा स नः
क्रियाद् विपद्भङ्गमनङ्गशासनः[1]॥
अहो कृतार्थोऽस्मि मनोभिरामया,
गिरा गुणाङ्कुलतयेह रामया।
तनुः स्थिरेयं क्रियतां निरामया,
भवे च यद्भक्तिरसङ्कुरा मया[2]॥

सारांश यह है कि घटखर्पर न तो कालिदास से पूर्व ही लिखा गया था और न कालिदास ही इसके रचयिता थे। यह कालिदास के बाद की ही रचना है जिसके लेखक ने सम्भवतः कालिदास के मेघदूत से ही प्रेरणा पाई है।

आठवीं शताब्दी के जैनकवि जिनसेन ने मेघदूत की एक एक पंक्ति को समस्या पंक्ति मानकर समस्यापूर्ति के ढंग पर पार्श्वनाथ का जीवन-चरित लिखा जिसका एक तिब्बती तथा एक सिंहली रूपान्तर आज भी तंजौर के पुस्तकालय में सुरक्षित है[3]। चरित्र सुन्दर का शीलदूत भी इसी प्रकार का काव्य है और अपभ्रंश-कवि अब्दुल रहमान का संदेश-रासक भी सभवत. मेघदूत से प्रभावित है। किन्तु मेघदूत के सर्वाङ्गीण अनुकरण पर प्रणीत सर्वप्रथम रचना, जो आज उपलब्ध है, जयदेव के समसामयिक कवि धोयी का पवनदूत है जिसमें मेघदूत के वर्ण्यविषय, कथानक भाषाशैली, छन्द आदि का अनुकरण पूरी तरह किया गया है। इस रचना पर आगे यथास्थान विचार किया जायगा। पवनदूत के पश्चात् तो सदेशकाव्यों की बाढ़ सी ही आ गई और ४–५ शताब्दियों के भीतर भीतर इसी ढंग के बहुत से संदेशकाव्य लिखे गये जिनमें कम से कम पैंतीस आज भी उपलब्ध हैं[4]। इनमे काव्यकला की दृष्टि से नेमिदूत का विशेष महत्त्व है। यह भी समस्यापूर्ति के ढंग पर ही लिखा गया है। नेमि आचार्य जैनों के तीर्थङ्कर थे। सर्वसाधारण हिन्दू को आकृष्ट करने के लिए जैनियों ने इनका सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से जोड़ा है और उन्हें भगवान् कृष्ण का बड़ा भाई बताया है। वे वैराग्य हो जाने के कारण घर-बार छोड़कर चित्रकूट पर चले जाते हैं। इनकी विरहिता पत्नी भी वहीं पहुँचती है और उन्हें लौटा लाने

1. स्तुति-कुसुमाञ्जली, ७।५।
2. वही, ६–९८।
3. कीथ का इतिहास, पृष्ठ ८६।
4. चिन्ताहरण चक्रवर्ती, मेघदूत की भूमिका।

का प्रयत्न करती है। वह अपनी व्यथा का वर्णन करती है और मेघदूत के समान ही प्रियतम को घर का मार्ग निर्दिष्ट करती है। कवि ने कालिदास की कला में अपनी कला को ऐसा मिला दिया है कि सहसा अन्तर का ज्ञान ही नही होता। इन सभी सदेश-काव्यों मे मेघदूत के आधार पर ही नायिका की विरह-व्यथा और नायक के प्रवासस्थान तक के मार्ग का वर्णन है जिसमें प्राकृतिक चित्रण को पर्याप्त स्थान मिला है। पिछले काल के कुछ कवियों ने शान्तरसपरक दूत-काव्य का भी प्रणयन किया। 'मनोदूत' एक ऐसा ही काव्य है। ये रचनाएं हमारे आलोच्य युग की परिधि से बाहर है तथा स्वय एक पृथक निवन्ध का विषय है। अत इनका विस्तृत परिचय न तो यहाँ सम्भव ही है और न अपेक्षित ही। इस सक्षिप्त उल्लेख से कालिदास के प्रभाव की व्यापकता का अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव मे वे युगप्रवर्तक ही नहीं अनेक युगो की प्रवृत्तियो मे से धड़ाके के साथ अपना जलस ले जाने वाली शैली के प्रवर्त्तक भी थे। यह लक्ष्य करने की बात है कि कालिदास के व्यापक अनुकरण पर आधृत रचनाओं का प्रादुर्भाव प्रायः १२ वी शताब्दी के पश्चात् ही हुआ। ऊपर घटकर्पर और पार्श्वाभ्युदय का उल्लेख अवश्य किया गया है किन्तु उन पर मेघदूत का प्रभाव अपेक्षाकृत आंशिक है। क्या यह आश्चर्य की बात नही कि अपने क्षेत्र में किसी अद्वितीय और सर्वप्रिय रचना का अनुकरण उसके प्रणयन के लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात तो धड़ाधड़ी से और उससे पहले नहीं के बराबर हो? कौन जानता है कि इस सहस्राब्दी के समय मे भी पवनदूत जैसी अनेक रचनाओं का प्रणयन मेघदूत के अनुकरण पर हुआ हो।[1]

## गाथा सप्तशती[2]

कालिदास के पश्चात् शृगारिक गीति-रचनाओं की मूलभावना मे भारी परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे प्रेम के क्षेत्र मे सयम तथा आदर्श के स्थान मे उद्दामता और व्यभिचार के कदम बढने लगे, आत्मिक अंश का ह्रास और भौतिक अंश का विकास प्रारम्भ हुआ। प्रेमभाव विशेष मे विरत सा होकर सामान्य की दिशा में उन्मुख होता दीख पडा और उसका चैतन्य उत्तरोत्तर भोग की जडता से अभिभूत होता चला गया। ये लक्षण हाल की गाथासप्तशती में ही प्रकट होने लगे थे। मेघदूत और गाथासप्तशती ही उत्तरवर्ती संस्कृत गीतिकारों के उपजीव्य रहे। मेघदूत सर्वप्रथम प्रबन्ध-गीति है तो गाथासप्तशती मुक्तक गीतियों का सर्वप्रथम सग्रह। और जिस प्रकार प्रबन्ध शैली पर लिखे गए गीति काव्यो का नेतृत्व मेघदूत ने किया है उसी प्रकार मुक्तक गीतिकाव्यों का गाथासप्तशती ने।

गाथाओं मे चित्रित प्राकृतिक सुषमा, ग्रामवधुओं की स्वाभाविक प्रणयकेलियाँ

1. चिन्ताहरण चक्रवर्ती पवनदूत की भूमिका।

2. यद्यपि गाथासप्तशती प्राकृत भाषा का गीतिकाव्य है तथापि संस्कृत गीतिकाव्य के विकास में उसका बड़ा भारी योग है क्योंकि संस्कृत साहित्य को इस रचना ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। अतएव यहां उसका भी संक्षिप्त विवेचन परम आवश्यक प्रतीत होता है।

और मार्मिक अभिव्यक्ति हाल के काल मे ही सहृदय आलोचकों के आकर्षण और प्रशसा का केन्द्र रही हैं। स्वय हाल ने उसे अमृतकाव्य कहा है। विदेशी और स्वदेशी विद्वान् उसका गुणगान करते नही थकते और उत्तरवर्ती काव्यों के प्रेमचित्रण को उसकी तुलना मे इसीलिए प्रश्रय नहीं देते कि वह अपेक्षाकृत असंयत, अस्वाभाविक और रूढिग्रस्त है। यह सच भी है किन्तु यह भी असत्य नही कि यह अमृत भी विष का सहोदर है। अन्यान्य विशेषताओं के साथ परवर्ती शृंगारभावना और प्रेमचित्रण के स्वरूप-निर्धारण में भी इसका बडा भारी योग है। जिन प्रवृत्तियों के कारण बाद की रचनाओं की कटु आलोचना की जाती है उनका सूत्रपात गाथासप्तशती में ही स्पष्ट दिखाई देता है। परकीया-प्रेम का, जिसे आधुनिक समाजशास्त्रीय शब्दावली मे अनुचित यौन सम्बन्ध कह सकते हैं और जो मध्यकालीन कवियो का प्रमुख विषय रहा, गाथासप्तशती के अन्तर्गत चित्रण देखिए। यह ठीक है कि इस प्रकार की उक्तियाँ उसमें बहुत कम है किन्तु अपने उपजीवियो के लिए आदर्श स्थापित करने मे तो समर्थ है ही। देवर-प्रेम का चित्रण लीजिए —

**सच्चं साहसु देअर तह तह चडुआरएण सुणएण।**
**णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहत्तणं सिक्खिअं कत्तो॥ गाथा० ७८८॥**

देवर! सच कहो उस चाटुकार कुत्ते ने अपना उल्लू सीधा हो जाने पर आँखें चुराना किससे सीखा ?

यहाँ नाना प्रकार की चाटुकारी करने वाले देवर द्वारा दीर्घकाल तक भुक्त होने के पश्चात् उपेक्षिता नायिका ने अन्योक्ति द्वारा अपनी खीझ प्रकट की है।

गोवर्धनाचार्य ने इस व्यञ्जित देवरप्रेम का नग्न चित्र ही खड़ा कर दिया:—

**दलिते पलालपुञ्जे वृषभं परिभवति गृहपतौ कुपिते।**
**निभृतनिभालितवदनौ हलिकवधूदेवरौ हसतः॥ आर्या० ३०२॥**

पुआल का ढेर रौंदा हुआ पाकर गृहपति बैल को पीटने लगा तो हलिकवधू और उसका देवर चुप मुँह फेर कर हँसने लगे।

आर्याकार ने स्वर्गोत्तर आनन्ददायी सुरत की जो परिभाषा दी है—

**श्रोणी भूमावङ्के प्रियो भय मनसि पतिभुजे मौलिः।**
**गूढश्वासो वदने सुरतमिदं चेत्तृणं त्रिदिवम्॥ आर्या० ५६८॥**

क्या उसका बीज इस गाथा मे छिपा हुआ नही है ?

**पइपुरओ व्विअ णिज्जइ विच्छुअडट्ठेत्ति जारवेज्जहरं।**
**णिउणसहीकरधारिअभुअजुअलन्दोलिणी बाला॥ गाथा० ३।३७॥**

अर्थात् निपुण सखिया 'इसे बिच्छु ने काट लिया है' यह बहाना कर के दोनों बाहुओं को झटकती हुई बाला को उसके पति के समक्ष ही जार वैद्य के घर ले जा रही हैं।

आर्याकार ने तो अपनी नायिका को मन के लड्डू ही खिलाये है किन्तु गाथाकार ने कितनी सफाई का अभिनय उसे सिखाया है जो सबकी आंखों में धूल

झोंककर उसके काम-वृश्चिक-दंश के चिकित्सक तक पहुँचाने में सहायक बना और स्त्रियों के प्रति इस धारणा का भी कि 'एता रुदन्ति च हसन्ति च कार्यहेतोः।

आर्या में पति की भुजा पर सिर रखकर उपपति के साथ सुरत की कल्पना का आनन्द लिया गया है किन्तु गाथा में चौर्यरत को छिपाने के लिये नायिका ने कितना वैदग्ध्यपूर्ण अभिनय किया है। उसने न केवल वर्तमान को ही बनाया अपितु भविष्य के लिये भी रास्ता साफ़ कर लिया—

**अह अम्ह आअवो अज्ज कुलहराओ त्ति छेम्छई जारं।**

**सहसागअस्स तुरिअं पइणो कण्ठं मिलावेइ ॥ गाथा० ४।१ ॥**

'यह मेरे मायके से आया है' कह कर कुलटा ने अपने जार को अकस्मात् आगत पति से गले मिलवा दिया।

आचार का परित्याग कर पुष्पवती से रति की प्रार्थना का मार्ग भी गाथाकार ने ही दिखाया—

**लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होउ होउ त णाम।**

**एहि णिमज्जसु पासे पुप्फवइ ण एइ मे णिद्दा ॥ गाथा० ६।२९ ॥**

लोग तमतमाते हैं तो तमतमाया करें, निन्दा होती है तो हो। पुष्पवती! तुम मेरे पास सो जाओ, मुझे नींद नहीं आ रही है।

आर्याकार ने इसका अनुसरण यों किया है—

**मा स्पृश मामिति सकुपितमिव भणितं व्यञ्जिता न च व्रीडा।**

**आलिङ्गितया सस्मितमुक्तमनाचार किं कुरुषे ॥ आर्या ४२८ ॥**

'मुझे मत छुओ' उसने कुपित सी होकर कहा किन्तु लज्जा व्यक्त नहीं की। जब मैंने आलिङ्गन किया तो बोली 'अनाचार! यह क्या करते हो?'

गाथा से अधिक मर्यादित और सरस तो अमरुक का यह श्लोक है—

**पुष्पोद्गमवाप्य केलिशयनाद् रस्थया चुम्बने।**

**कान्तेन स्फुरिताधरेण निभृतं भ्रूसंज्ञया याचिते।**

**आच्छाद्य स्मितपूर्णगण्डफलकं चेलाञ्चलेनाननं।**

**मन्दान्दोलितकुण्डलस्तबकया तन्व्यावधूतं शिरः। १०८ ॥**

रजो-दर्शन के कारण तन्वी नायिका केलि-शयन से दूर स्थित थी। प्रियतम ने ओष्ठों को फड़काते हुए चुपचाप भ्रू-संकेत से चुम्बन की याचना की तो उसने अपने मुसकाते हुए कपोलों से युक्त मुख को आँचल से ढककर धीरे से हिलते हुए कुण्डलों के साथ सिर हिला दिया।

देव-पात्रों को कामान्ध जन के समान रत्यासक्त चित्रित करने की परिपाटी भी गाथाकार ने ही चलाई—

**विवरीअरए लच्छी बह्मं दट्ठूण णाहिकमलट्ठम्।**

**हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केति ॥ गाथा ५।५५ ॥**

अर्थात् विपरीत रति के समय काम-रसाकुल लक्ष्मी ने नाभि-कमल में स्थित ब्रह्मा को देखकर अविलम्ब हरि का दाहिना नेत्र ढक दिया। (सूर्य विष्णु का दक्षिण नयन कहा गया है। उसके ढक जाने से सूर्य का अस्त होना, उससे कमलों का मुकुलित होना और इस प्रकार नाभिकमल के भी मुकुलित हो जाने पर ब्रह्मा का न दीख पड़ना व्यञ्जित है )

इसी पथ का अनुसरण करते हुए आर्याकार ने तो बेचारे ब्रह्मा को दो पाटों के बीच पिसवा ही दिया—

**तल्पीकृताहिरगणितगरुडो हाराभिहतविधिर्जयति ।**
**फणशतपीतश्वासो रागान्धाया: श्रिय: केलि: ॥ आर्या २४ ॥**

अर्थात् कामान्ध लक्ष्मी की काम-क्रीड़ा का कोई जवाब नही जिसमें शेषनाग को शय्या बनाया गया, गरुड की परवाह न की गयी, श्रमजन्य श्वास की वायु को शेषनाग के फनों ने पी लिया और ब्रह्मा पर हार की मार पड़ी।

कामसूत्र के अनुसार विविध प्रकार के रतिबन्धों का बड़ी रुचि के साथ परवर्ती कवियों ने वर्णन किया है। अमरुक का एक श्लोक लीजिये—

**क्वचित्ताम्बूलाक्त: क्वचिदगरुपङ्काङ्कमलिन:**
**क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपद:**
**वलीभङ्गाभोगैरलकपतितै: शीर्णकुसुमै:**
**स्त्रियो नानावस्थं प्रथयति रतं प्रच्छदपट: ॥ १०७ ॥**

ताम्बूलासक्त द्वारा 'मार्जारकरण' अगरुपङ्कमलिन से 'करिपद' चूर्णोद्गारी से 'धेनुक' और सालक्तकपद से 'पुरुषायित' बन्धों की अभिव्यक्ति हुई है इस दृष्टि से गाथा सप्तशती की १।५२, ४।६१, ५।८३, ७।१४ आदि गाथाएँ भी द्रष्टव्य है।

इसीलिए कीथ ने कहा है कि—

Much is from the life of the village, but we have also of the demi monde of the towns, whose presence Pischel found in the Rigveda and which certainly has marked Indian Literature since vedic age.

इन उद्धरणों का तात्पर्य सहृदयों के कण्ठहार गाथासप्तशती मे छिद्रान्वेषण का प्रयास कदापि नही है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि कालिदास के पश्चात् समय के तकाजे के अनुसार प्रेम भावना के स्वरूप मे पर्याप्त परिवर्तन हो गया जिसका प्रथम दर्शन गाथासप्तशती में होता है। इस कोश में उत्तमोत्तम रत्नों के साथ कवि ने समाज से गृहीत नकली रत्नों में से भी कुछ संगृहीत कर लिये। उत्तरवर्ती कवि इन्हीं की चमक-दमक से चकित हो गए। असली और नकली की परवाह वे इसलिये भी नहीं कर सके कि समाज उनसे भड़कीली चीज माँग रहा था।

फिर भी सब कुछ मिलाकर 'सत्तसई' अपने ढंग की बिलकुल नवीन रचना

है। इसमें जिस प्रकार की लौकिक रस-प्रधान कविता का दर्शन होता है वह संस्कृत साहित्य मे अपरिचित सी थी। छोटे-मोटे नित्य घटने वाले जीवन-व्यापारों के साथ इसमे एक ऐसा निकट सम्पर्क पाया जाता है जो आमुष्मिकता के आतंक से त्रस्त पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य में बिल्कुल नही मिलता। प्रेम और करुणा के चुभने वाले भाव, प्रेमियों की सरस क्रीड़ाओ का बोलता हुआ चित्र और प्रेम के घात-प्रतिघात के मनोहर दृश्य इस ग्रन्थ में सजीव रूप मे प्रकट हुए हैं। अहीर और अहीरनियो की प्रेमगाथाएँ, ग्रामवधूटियों की शृङ्गार चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई या पौधे सींचती हुई ग्राम-ललनाओं के नयनाभिराम चित्र, विभिन्न ऋतुओं के भावोद्दीपक व्यापार इस ग्रन्थ मे बहुत ही मनोरम रूप में चित्रित हैं। लोकजीवन की उसमे गहरी छाया मिलती है, लोककाव्य से भी वह अनुप्राणित है फिर भी 'इन प्राकृत गाथाओं को लोक-साहित्य नही कहा जा सकता। सतर्कता और सावधानी जो संस्कृत काव्य की जान है, इसमें भी है। अग्राम्य मनोहर भावों का चुनाव रुचि के साथ किया गया है[2]' इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि ये गाथाएँ अपनी व्यङ्ग्यप्रधानता के कारण उत्तम काव्य के सुन्दर उदाहरण है। ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से इनका स्थान बहुत ऊँचा है। शैली की सरलता इनकी स्वाभाविकता की पोषक है जिसके कारण ये गीतिकाव्य का उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करती है। अपनी इन विशेषताओं के कारण ये संस्कृत के प्रायः सभी काव्यशास्त्रियो के आकर्षण का विषय रही हैं और उन्होंने ध्वनि के विविध भेदो के उदाहरण रूप मे सैकड़ों गाथायें उद्धृत की है। अकेले भोजदेव ने ही लगभग डेढ सौ गाथाओ की अवतारणा की है।

गाथासप्तशती में प्रकृति के भी अत्यन्त मनोरम चित्र भरे पड़े हैं। वर्षा ऋतु मे गिरिग्रामो (पर्वतीय गाँवो) का वर्णन देखिए—

**पप्फुल्ल-घण-कलम्बा णिद्धोअसिलअला मुइअ-मोरा।**
**पसरन्तोज्झरमुहला ओसाहन्ते गिरिग्गामाः॥ गाथा ७।३६॥**

फूले हुए सघन कदम्ब वृक्षों मे शोभित, धुले हुए शिला तल वाले, मुदित मोरो से युक्त तथा निर्झर-समूह से मुखरित पर्वतीय गाँव बड़े उत्कण्ठावर्धक होते है।

वर्षा ऋतु में खेत के चारो ओर लगाई हुई वाड़ (कँटीली लकड़ियो के घेरे) पर बैठे हुए कौओ का स्वाभाविक वर्णन भी लीजिए—

**धाराधुव्वन्तमुहा लम्बिअपक्खा णिउञ्चिअग्गीवा।**
**वइवेढनेसु काआ सूलाहिण्णा व्व दीसन्ति॥ गाथा० ६।६३॥**

गोदावरी के कछार और विन्ध्य पर्वतमालाओं का सुन्दर चित्रण यत्र-तत्र मिलता है। पशु-पक्षियों के स्वभाव, चेष्टाओं आदि का भी अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण हुआ है। आकाश से उतरती हुई शुक-पंक्ति नभ के कण्ठ से गिरती हुई कण्ठी के समान प्रतीत होती है[3]। मयूरनृत्य[4] और तृणाग्रवर्ती वर्षा-जल-बिन्दुओ का मयूरो

1. कीथ, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २२५।
2. देखिये हिन्दी साहित्य का आदिकाल (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ ९०।
3. गाथासप्तशती, १।७५।
4. वही, ६।५९।

द्वारा आचमन[1] प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के प्रमाण हैं। शरद् ऋतु के मेघों की शोभा धुले हुए सैन्धवपर्वत तथा धुली हुई रूई के ढेर के समान होती है[2]। कमल-वन की स्वाभाविक शोभा[3], कमलों पर बैठे हुए भ्रमरो की छटा, शारद जल की स्वच्छता आदि का हृदयग्राही चित्रण है। सायकाल में आवास-वक्ष पर आकर बैठते हुए पक्षियों की शोभा देखिए—

**भरणमिग्रणीलसाहग्गखलिग्रचलणद्ध विहुग्रपक्खउडा**
**तरुसिहरेसु विहंगा कह कह पि लहन्ति संठाणं ॥ गाथा० ७।६० ॥**

अपने भार से झुकी हुई हरी शाखाओं के अग्रभाग से पंजों के अर्धभाग के स्खलित होने से पँखो को फडफड़ाते हुए विहग कठिनाई से वृक्षो के शिखरों पर बैठ पाते है।

ऊपर से उडकर उतरते हुए पक्षी वृक्ष की लघुशाखा के अग्रभाग पर बैठते हैं परन्तु चरण रखते ही भार पडने के कारण वह नीचे झुक जाती है। अतः वे पूर्णतया पैरों के न जमने के कारण पखों को फड़फड़ाते हुए जैसे तैसे बैठ पाते हैं।

कहने की आवश्यकता नही कि प्रकृति-चित्रण का यह स्वरूप परवर्ती काव्य मे प्रायः नही है। धीरे धीरे प्रकृति को कवियों ने उपवनों के प्राचीर में ही बन्द कर लिया। उसके उन्मुक्त और व्यापक सौन्दर्य को निहारने का प्रयत्न नहीं किया। गाथासप्तशती के नभोमण्डल में पंक्तिबद्ध उडते हुए शुक अब अमरुक के समय तक आते आते 'पञ्जर-शुक' रह गए। पर्वत बौने बनकर क्रीडाशैल के रूप मे स्थित हुए। नदियाँ और जलाशय उपवन-वापी के रूप मे बदल गए। वन में स्वतन्त्रतापूर्वक फैलने वाली लताएँ उपवनों की रानी बनकर सिमटती सकुचती हुई सी स्थित हुई। अर्थात् कवि की दुनियाँ का घेरा छोटा हो गया। यह सब कुछ कालिदास की रचना मे भी है। यक्षपत्नी के यहाँ पली हुई सारिका हम देख चुके हैं। हस्तवलय की झनझनाहट से युक्त करताल के साथ उसके मोर को नाचते हुए हमने सुना है। क्रीडा-शैल, वापी, लता-कुञ्ज, हंस आदि सब वहां हैं, फिर भी हम कालिदास के प्रकृति चित्रण की प्रशंसा करते है क्योंकि वहाँ इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है और वही कालिदास के महत्त्व का कारण है। मध्यकालीन कवियो की रचना में जो कुछ है वह यही है। इसलिये उसका महत्त्व नही। गाथासप्तशती में प्रकृति का नागर रूप न होकर ग्रामीण और जंगली रूप ही चित्रित हुआ है। इसका कारण यह है कि वह प्राकृतिक मानवों की प्रणयचेष्टाओं का चित्रण करती है जिन के साथ प्रकृति अपने घर की तरह सम्बद्ध है। वही उनकी क्रीडाभूमि है। उत्तरकालीन साहित्य में आभिजात्य का आधिपत्य हो गया। नागरता के आग्रह के साथ प्रकृति के भी ग्राम्य रूप का संस्कार कर लिया गया और वह विलासी मानव की चेरी बना ली गई जो उपेक्षित रह कर भी उसकी भावना को उद्दीप्त करने का कार्य

1. गातासप्तशती, ४।१४।
2. ,, ७।७१।
3. ,, ५।१५, ७।४।

करती थी। इस प्रकार गाथा-सप्तशती के भले-बुरे गुणों का परवर्ती साहित्यकारों पर कम-बेशी प्रभाव पड़ा जिससे संस्कृत के गीतिसाहित्य के स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन अवश्यम्भावी हो उठा। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

१— गाथासप्तशती से पूर्व शृङ्गार का मर्यादित रूप ही चित्रित हुआ है। इस गाथाकोश ने उन्मुक्त प्रेम का वर्णन प्रस्तुत कर एक नवीन परम्परा को जन्म दिया जिसका संस्कृत के मुक्तक-गीतिकारों ने विशेष रूप से अनुकरण किया।

२— देवस्तुति के साथ में शृङ्गारिक भावना का समावेश कर आगे के कवियों को एक नूतन दिशा मे चलने की प्रेरणा भी दी जिसका चरम पर्यवसान राधाकृष्णविषयक गीतिकाव्यों के नग्न शृङ्गार-वर्णन में हुआ।

३— प्रकृति के अन्यान्य रूपो के साथ उद्दीपन रूप का भी सुरुचिपूर्ण चित्रण गाथाओ में मिलता है। ऊपर प्रकृति-चित्रण के उदाहरण स्वरूप जिन गाथाओं का उल्लेख किया गया है वे भी वक्तृ-बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से विविध प्रकार की शृङ्गारिक भावनाओ की व्यञ्जना करती हैं। गाथाकोशकार ने प्रारम्भ में ही 'कामतत्त्वचिन्ता' का उल्लेख किया भी है।

४— यद्यपि हाल ने इन गाथाओ के लिये 'सालङ्कार' विशेषण का प्रयोग किया है किन्तु अलङ्कारों के प्रति आग्रह कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। स्वाभाविक उक्ति की लपेट में अलङ्कार यत्र-तत्र आ जरूर गए है। प्रायः सभी गाथाएँ रस एव भावध्वनि से ओत-प्रोत हैं।

५— नायिकाओं की दृष्टि से, यदि कोई चाहे तो, अनेक प्रकार की नायिकाओ के चित्र इस कोश में खोज सकता है किन्तु भावना का प्रवाह तथा अभिव्यक्ति का भोलापन इस बात के प्रमाण है कि नायिका-भेद के अनुसरण के प्रति रचयिताओं का अभिनिवेश नहीं रहा है फिर भी नागरता की छाप भी स्पष्ट दीख पड़ती है।

६— बाह्य चेष्टाओ, व्यापारों और मुद्राओं के चित्रण अथवा नखशिख-वर्णन की प्रवृत्ति गाथाओं में उतनी नहीं देखी जाती जितनी गिने-चुने शब्दों में भाव की गहरी अभिव्यञ्जना की। इसलिये यह बेखटके कहा जा सकता है कि गाथाकार 'रस एवात्र जीवितम्' को मानकर भी व्यापक रूप में 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' के सिद्धान्त को ही व्यावहारिक मानते हैं। वस्तु ध्वनि के उत्तमोत्तम उदाहरण गाथाओं में भरे पड़े हैं। कालिदास भी मूलतः ध्वनि को ही लक्ष्य मानते हैं किन्तु उनकी रचनाओं में रसध्वनि के प्रति अत्यन्त मोह पाया जाता है।

## द्वितीय उन्मेष
## (भर्तृहरि, मयूर, अमरुक)

### पृष्ठभूमि

पीछे कहा जा चुका है कि सातवाहन काल में भारतवर्ष की व्यापारिक उन्नति के कारण आर्थिक दशा अच्छी थी, समाज मे सुख-शान्ति थी। विदेशी शासक भी भारतीय समाज में घुल मिल गए थे। १०० ई० के लगभग उत्तरी भारत में उत्तर प्रदेश तक और पश्चिमी भारत में उत्तरी महाराष्ट्र, काठियावाड़, गुजरात और अधिकांश राजपूताने में कुशाण और शकों का शासन था। सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय रंग मे रंग जाने पर भी जातीय दृष्टि से ये विदेशी ही समझे जाते थे। अतः उत्तर प्रदेश से मल्ल और नाग राजाओं ने तथा पूर्वी पञ्जाब से यौधेयों और कुणिन्दों ने कुशाणों को खदेड़ा। शकों की शक्ति को महाराष्ट्र में सातवाहनों ने और राजपूताने मे मालवों ने उच्छिन्न कर दिया और तीसरी शताब्दी के अन्त तक समूचा भारत विदेशी दासता से मुक्त हो गया। किन्तु वह छोटे छोटे राज्यों मे बँट गया था। चौथी और पाँचवी शताब्दी मे गुप्तों ने देश के एक बड़े भूभाग पर एकच्छत्र शासन स्थापित किया।

### सामाजिक स्थिति

**आर्थिक स्थिति और रहन-सहन**—गुप्त युग को इतिहासकार हिन्दू काल का स्वर्णयुग कहते है। इस युग मे भारतवर्ष की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। व्यापार चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था। खुदाई में गुप्त युग के बहुत से सोने के सिक्के मिले हैं जिनसे प्रतीत होता है देश मे धन की कमी नही थी[1]। शासन-व्यवस्था और साधन-सम्पन्नता जहाँ कला कौशल की उन्नति का कारण होती है वहाँ आमोद-प्रमोद और विलासिता की पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत करती है। गुप्तयुग भी इसका अपवाद नहीं था। चीनी यात्री फाह्यान, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल मे भारत आया था, लिखता है कि लोग सुखी थे, उन्हें न तो मकानों का पञ्जीकरण (रजिस्ट्रेशन) कराना पड़ता था और न ही न्यायाधीश के समक्ष जाने की आवश्यकता पड़ती थी। विभिन्न सम्प्रदायों के लोगो ने यात्रियों के लिए धर्मशालायें बनवा रखीं थी जहाँ यात्रियों के लिए खाट, बिस्तर और खाने-पीने का भी प्रबन्ध रहता था। धनी लोगों ने स्थान स्थान पर दान-क्षेत्र (सदाबर्त) और अस्पताल खुलवा रखे थे[2]। फ़ाह्यान के दो शताब्दी बाद ह्वेनसाग ने भारतीय लोगों के विषय में लिखा है कि वे किसी भी वस्तु को गलत ढग से नहीं सोचते। वे उससे कहीं अधिक अच्छा व्यवहार करते हैं जितना भले आदमी से अपेक्षित है, धोखा नही देते और अपने वचनों को पूरा करते हैं[3]।

नगर निवासी लोगों की सुख समृद्धि और विलास-प्रियता का पता वात्स्यायन के कामसूत्र से भी चलता है जिसमें नागरक की दैनिक चर्याओं और रहन-सहन का

1. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १४०, १४१।
2. मजूमदार, एन्शियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १९७।
3. वही, पृष्ठ १९८-१९९।

विस्तृत विवरण दिया गया है। प्रायः प्रत्येक भवन से लगी हुई एक केलि-वाटिका हुआ करती थी जिसमें यथास्थान लताकुञ्जो और शीतगृहो की व्यवस्था रहती थी। भवन में विविध कार्यों के लिए पृथक् पृथक् तदनुरूप कक्षों का निर्माण किया जाता था। यहाँ तक कि केलिभवन और शयनागार भी पृथक् पृथक् होते थे। केलिभवन में शय्या के शिरोभाग की ओर काष्ठवेदिका पर इष्टदेव की मूर्ति और एक पार्श्व मे एक काष्ठपीठ पर सुरतोचित सामग्री—सुमन-माला, सुगन्धित लेप, अगराग लाक्षारस आदि—के पात्र सजाकर रखे जाते थे। शयनागार के समीप ही एक छोटे से प्रकोष्ठ मे काष्ठकला सम्बन्धी उपकरण प्रस्तुत रहते थे ताकि वीणा आदि में कुछ खराबी हो जाने पर तत्काल ठीक की जा सके। मनोरञ्जन के अनेक साधन जुटाए गये थे। चित्रकला मनोरञ्जन का एक प्रमुख उपकरण था। भवन-भित्तियो पर चित्रित चित्रों के अतिरिक्त भवन के एक भाग मे चित्रशाला भी होती थी जिसमे रग, कूची, पात्र, चित्रपटल आदि की यथास्थान व्यवस्था थी। भवन-वाटिका मे पालतू हस, सारस, मयूर आदि विचरण करते रहते थे। लटकते हुए पिजरों मे तोता-मैना चहकते रहते थे। लता-कुञ्जों के समीप ही सघन वृक्षो के एक झुरमुट मे झूला भी पड़ा रहता था[1]।

विलासिता के इन साधनो के साथ साथ कामशास्त्र का विकास पहले से ही चला आ रहा था। वात्स्यायन ने अपने पूर्ववर्ती बृहस्पति, श्वेतकेतु, बाभ्रव्य, दत्तक आदि आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख किया है[2]; किन्तु कामशास्त्रीय अध्ययन को व्यवस्थित रूप वात्स्यायन ने ही दिया। यह श्रीसम्पन्न और उपभोगोन्मुख युग की माँग के सर्वथा अनुरूप भी था। काम को अब धर्म और अर्थ के ही समान महत्त्व दिया जाने लगा था[3] और नवयुवकों तथा नवयुवतियों को कामशास्त्र की शिक्षा देना आवश्यक समझा जाने लगा था[4]।

वात्स्यायन ने नागरक की दिनचर्या की विस्तार से चर्चा की है जिसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि स्त्री पुरुषों का दैनिक जीवन आमोद-प्रमोद से ओत-प्रोत था। भोजन के पश्चात् शुक, सारिकाओं को पढ़ाने के अतिरिक्त तीतर, कुक्कुट और मेढों का युद्ध देखना, गोष्ठी करना और सायंकाल सगीत, नृत्य, नाट्य आदि का आयोजन करना दैनिक चर्या मे सम्मिलित थे। दैनिक चर्या के अतिरिक्त विशिष्ट पर्वों और उत्सवो की विलास-क्रीडाओं का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् रात्रि में अभिसारिकाओं की प्रतीक्षा, दूती-प्रेषण काम-क्रीड़ा आदि का

1. कामसूत्र, अधिकरण १ अध्याय ४।
2. वही, अधिकर १, अध्याय १, सूत्र ७-११।
3. परस्परस्यानुपघातक त्रिवर्गं सेवेत, कामसूत्र १।२।१।
4. कामसूत्रं तदङ्गविद्याश्च पुरुषोऽधीयीत, ,, १।३।१।
   प्राग्यौवनात् स्त्री, ,, १।३।२।

आयोजन बताया गया है। देव-मन्दिरों की यात्रा और धार्मिक समारोहों में प्रेमी-युगल के मिलन की युक्ति भी बताई गयी है[1]।

स्त्रियों की स्थिति

यद्यपि वेदाध्ययन का अधिकार स्त्रियों से छीन लिया गया था तथापि अन्य क्षेत्रों में उनकी शिक्षा-दीक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। उच्च शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें ६४ कलाओं में दक्ष होना पड़ता था जिनमें गायन, वादन, आलेख्य (चित्रकला), प्रसाधन-विधि आदि पर अधिक बल दिया जाता था। वे प्रसाधन-कला में अत्यन्त निपुण होती थीं और शरीर के विभिन्न अंगों को भाँति-भाँति से सजाना जानती थीं। ओठों और चरणों को रंगने के अतिरिक्त वे कपोलों और उरोजों पर सुगन्धित पदार्थों के गाढ़े रस से पत्ररचना कर सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती थीं। कर्पूर आदि पदार्थों से वस्त्रों को सुगन्धित रखती थीं। प्रसाधन आदि की कला में पुरुष वर्ग भी सर्वथा वञ्चित नहीं था। उक्त कलाओं के अतिरिक्त स्त्रियों को जल-विहार, ऋतु अनुकूल दैनिक चर्या, द्यूत-क्रीड़ा, पक्षि-विज्ञान, पाक-शास्त्र आदि की जानकारी भी प्राप्त करनी पड़ती थी[2]।

देश के कुछ भागों में स्त्रियाँ शासन में भी महत्त्वपूर्ण भाग लेती थीं। गुप्त युग में सम्राज्ञी का पद बड़ा महत्त्वपूर्ण था। गुप्तों के बाद भी काश्मीर, उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेशों में अल्पवयस्क राजाओं की ओर से राज्य-प्रबन्ध करने वाली राजमाताओं के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। एक चीनी यात्री ने एक बहिन के अपने भाई के साथ-साथ शासन प्रबन्ध करने का उल्लेख किया है। हर्ष के साथ राज्यश्री भी दरबार में बैठती थीं और कन्नड़ प्रान्त में तो स्त्रियाँ प्रान्त-शासक और ग्रामणी का कार्य भी करती थीं। दक्षिण की कुछ राजमहिलाओं का न केवल गीत, नृत्य आदि कलाओं में दक्ष होने का उल्लेख ही समसामयिक उत्कीर्ण लेखों में मिला है अपितु उनके द्वारा जनता में अपनी कला का प्रदर्शन किये जाने का उल्लेख भी मिलता है। ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि स्त्रियों में पर्दा-प्रथा नहीं थी और उन्हें उदारता पूर्वक शिक्षा दी जाती थी तथा वे सांस्कृतिक समारोहों में सक्रिय भाग लेती थीं और उन्हें एक सीमा तक पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी[3]। स्त्रियों की उचित शिक्षा व्यवस्था ने ही शीलाभट्टारिका और विज्जका जैसी कवयित्रियों को जन्म दिया।

समाज में वेश्याओं का एक विशिष्ट स्थान था। वे राजाओं द्वारा सम्मानित होती थीं। गुणज्ञ उनकी प्रशंसा करते थे और उन्हें प्राप्त करना चाहते थे[4]। यह सम्मान उन्हीं वेश्याओं को प्राप्त था जो चौंसठ कलाओं में निपुण होती थीं[4]।

1. कामसूत्र, अधिकरण १, अध्याय ४।
2. कामसूत्र, १-३-१६।
3. मजूमदार, एनशिएण्ट इण्डिया, पृष्ठ १९६।१९७।
4. पूजिता सा सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च संस्तुता।
प्रार्थनीयाभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते। कामसूत्र १-३-२१।

ललितविस्तर मे शुद्धोदन सिद्धार्थ के लिए ऐसी पत्नी की इच्छा करते हैं जो गणिका के समान कलाओं में निपुण हो[1]। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में गणिका के बहुत से गुण गिनाए हैं और उच्च पात्रों के समान नाटक में उसे भी सस्कृत-भाषी पात्र माना है[2]। मृच्छकटिक मे वसन्तसेना वेश्या से चारुदत्त जैसे चरित्रवान् ब्राह्मण के सम्बन्ध की प्रशंसा ही की गयी है, निन्दा नहो। बाण की कादम्बरी मे वेश्याओं का राजा की सेवा मे रहने का अनेक स्थलो पर वर्णन है।

साहित्य पर इन सब परिस्थितियो का प्रभाव स्वाभाविक ही था। कामसूत्र के अनुसार मनुष्य को यौवनकाल मे काम का उपार्जन करना चाहिए और नगर, पत्तन अथवा अन्य विशाल स्थान मे रह कर नागरक का आचरण करना चाहिए। इसके बाद तो सस्कृत कवियो के नायक मानो कामसूत्र के इस उपदेश को गांठ बाँध कर चले है। डा० एस० एन० दास गुप्त ने ठीक ही कहा है कि बाण के हर्षचरित के अध्ययन से पता चलता है कि इस समय तक नागरिक जीवन ग्रामीण जीवन से अलग हो चुका था और कवियों की गतिविधि का क्षेत्र प्रायः नगर और राजसभाएँ ही रह गई थी[3]। फलत. कविता का क्षेत्र भी सकुचित होने लगा। धीरे धीरे प्रकृति से उसका साथ छूटता गया। मानवीय भावनाओ मे से रतिभाव की ओर ही वह अधिक झुकी। कवियों को नगर का वातावरण ऐसा भाया कि कविता कामिनी के स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए उन्होंने उसके व्यापारो को प्रकृति की रमणीय गोद से उठाकर प्रासादों और उद्यानो तक ही सीमित कर दिया। प्रेमभाव के प्राकृतिक स्वरूप को उन्होने कलात्मक रूप देना प्रारम्भ किया जिसके कारण एक ओर तो रूप-चित्रण और अनुभावों के वर्णन मे बारीकी आयी और दूसरी ओर अभिव्यक्ति मे सरलता का स्थान विदग्धता ने ले लिया। कविता गाँव से आकर नगर मे ही बस गई तो नये वातावरण में उसका आवरण ही नही, आदर्श, उद्देश्य, और स्वभाव भी बदल गया। उसने कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया, विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ सीखीं, सुरत के नये नये ढगो से परिचय प्राप्त किया और वाग्विदग्धता तथा अलङ्करण की ओर अभिरुचि प्रकट की। नागरता का प्रभाव स्वभाव की अपेक्षा आच्छादन और बोलचाल पर पहले पड़ा, यह स्वाभाविक भी था। भर्तृहरि की रचनाओं मे ही यह खुलकर दिखाई पड़ने लगा था। उनके शृङ्गारशतक मे प्रकृति-चित्रण के नाम पर षड्ऋतु वर्णन के ११–१२ श्लोक है[4]। वे सभी प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण करते हैं। भोगप्रधान दिनचर्या अथवा उपभोग-गणना—जिसके कारण हिन्दी के रीतिकालीन कवि बहुत बदनाम रहे और पद्माकर का गुलगुली

1. ललित विस्तार १२।१३९।
2. नाट्य शास्त्र २४।१०६-११३।
3. *Hist. of Sans. Lit.* p. IX.
4. दामोदर कोशाम्बी द्वारा सम्पादित शतकत्रयादि सुभाषित, श्लोक ६८, ६६, १११, १३७, १४० से १४५।

गिलमें-गलीचा' वाला कवित्त आलोचकों को फूटी आँख न सुहाया—इनमे पूर्णतया देखी जा सकती है—

परिमलभृतो वाताः शाखा नवांकुरकोटयो।
मधुपविरुतोत्कण्ठाभाजः प्रियाः पिकपक्षिणाम्।
विरलसुरतस्वेदोद्गारा वधूवदनेन्दवः।
प्रसरति धनाढ्यानां ग्रीष्मे कुतोऽपि गुणोदय.।[1]

धनाढ्य लोगो के लिये तो ग्रीष्म ऋतु अद्भुत आनन्द का समय है जिसमें सुगन्धित वायु बहती है, शाखाओं में कोपलें फूटती है, भौरों की मादक गुञ्जार और उत्कण्ठित कोकिलो की कूक सुन पड़ती है और वधूजन के मुखचन्द्र सुरत-जन्य श्रम-जल से व्याप्त हो जाते है।

हेमन्त ऋतु के उपभोग भी धनियों के ही हिस्से में आये है—

हेमन्ते दधिदुग्धसर्पिरशना माञ्जिष्ठवासोभृत.।
काश्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुषः खिन्ना विचित्रै रतैः।
वृत्तोरुस्तनकामिनीजनकृताश्लेषा गृहाभ्यन्तरे।
ताम्बूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखं शेरते।[2]

वे लोग धन्य है जो हेमन्त ऋतु में घी, दूध, दही खाते है, मञ्जिष्ठ-रञ्जित वस्त्र पहनते हैं और केसर के लेप से शरीर को सुशोभित कर वृत्त-उरोज वाली कामिनियों के गाढ आलिङ्गन एव विविध प्रकार की सुरत क्रीडाओ से थक कर पान मुंह में दबाये आनन्द से घर मे सोते हैं।

शृङ्गार शतक तथा समकालीन रचनाओं मे एक ऐसा स्वर सुन पड़ता है जो प्रेम को आत्मिक मिलन से अलग करता हुआ शारीरिक अद्वैतता स्थापित करने तक के क्षेत्र मे सीमित रखता है। आन्तरिकता के स्थान मे बाह्यत्व की प्रतिष्ठा करता है और सूक्ष्म को स्थूल रूप मे परिणत करता हुआ दृग्गोचर होता है।[3] भर्तृहरि के अनेक श्लोको मे नारी के शारीरिक उपभोग के प्रति जो ललक प्रकट की गई है, वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यद्यपि अन्यत्र उन्होने वैराग्यपरक उक्तियों मे अध्यात्म की ओर सकेत किया है किन्तु वह सब कुछ सतुलन उपस्थित करने वाले व्यक्ति की वाणी से निकला हुआ प्रतीत नही होता जैसा कालिदास के प्रेमचित्रण मे है। उसमे या तो असन्तुष्ट हृदय की प्रतिक्रियात्मक खीझ है अथवा सासारिकता की क्षणभङ्गुरता के विचार से प्रसूत ऊब। उनकी उपर्युक्त तथा ऐसी ही अन्य उक्तियों से तो यह प्रतीत होता है कि अभावग्रस्त प्रताडित जीवन का आक्रोश ही अन्यत्र स्त्री-निन्दा के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। उनकी 'स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दति योऽलीक पण्डितो युवतिः'[4] इस कथन की पुष्टि करती है। उस युग की चेतना इन उक्तियों मे प्रतिबिम्बित है—

1. शतकत्रयादि सुभाषित, ८६
2. वही, श्लोक १४४।
3. अदर्शने दर्शनमात्रकामा दृष्टौ परिष्वङ्गरसैकलोला।
आलिङ्गितायां पुनरायताक्ष्यामाशास्महे विग्रहयोरभेदम्॥ वही, १२२।
4. वही, १२०, शतकत्रयादि सुभाषित।

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां ।
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
उपरि-सुरतखेद-स्विन्न-गण्ड-स्थलीनाम् ।
अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ।

विपरीत रति के श्रम से स्वेद-युक्त कपोलों वाली, ग्रस्त व्यस्त केशों वाली थककर वक्षस्थल पर पड़ी हुई मुकुलितनयना वधुग्रों का ग्रधरमधु भाग्यशाली व्यक्ति ही पीते हैं।

प्राङ् मा मेति मनोरमागतगुणं जाताभिलाषं ततः ।
सव्रीडं तदनु श्लथीकततनु प्रत्यस्तधैर्यं पुनः ।
प्रेमार्द्रं स्पृहणीयनिर्भररतक्रीडाप्रगल्भ ततो ।
निःसङ्गाङ्गविकर्षणाधिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ।[1]

कुलस्त्री का सुरत, जिसमें प्रारम्भ में नहीं, नहीं ग्रौर उसके बाद क्रमशः ग्रभिलाष, लज्जा, शरीर की शिथिलता, धैर्य का त्याग ग्रौर प्रेम में शराबोर उद्दाम रति-क्रीडा की प्रगल्भता होती है, रमणीय होता है।

नारी के शरीर के प्रति लालसा का फल यह हुग्रा कि उसके ग्रङ्ग-प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य का चित्रण ग्रौर बाह्य व्यापारों का वर्णन ग्रधिक होने लगा ग्रौर प्रेम के ग्रन्तर्गत ग्रनुभूति में ग्राने वाले भावों की ग्रभिव्यक्ति की ग्रोर से कवि लोग ग्रपेक्षाकृत कुछ खिंच से चले। इसी को हमने सूक्ष्म की ग्रोर से स्थूल की ग्रोर ग्राने का ग्रारम्भ कहा है। नारी-ग्रवयवों का बिम्बग्रहण कराने के लिए उपमानों की योजना रूढ़िबद्ध सी हो चली ग्रौर नख-शिख-वर्णन की उस पद्धति का सूत्रपात हुग्रा जो ग्रपना उद्देश्य ग्राप थी —

वक्त्रं चन्द्रविडम्बि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने ।
वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः कचानां चयः ।
वक्षोजाविभकुम्भविभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली ।
वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मंडनम् ।[2]

चन्द्रमा को भी विडम्बित करने वाला मुख, कमल का मजाक उड़ाने में समर्थ लोचन, स्वर्ण को दूर बिठाने वाला वर्ण, भ्रमर-विजेता केशपाश, गजकुम्भ की शोभा हरने वाले कुच, पुष्ट नितम्ब-स्थल ग्रौर ग्रवर्णनीय सौकुमार्य ही युवतियों के सहज प्रसाधन होते हैं।

गाथासप्तशती ने ऐहिकता का जो मार्ग दिखाया था वह इतना प्रिय हुग्रा कि नारी ग्रौर स्वर्ग के मूल्य में कोई ग्रन्तर न रह गया—

मालती शिरसि जृम्भणोन्मुखी चन्दनं वपुषि कुङ्कुमाविलम् ।
वक्षसि प्रियतमा मदालसा स्वर्ग एष परिशिष्ट ग्रागतः ।।[3]

सिर पर विकासोन्मुख मालती, (की माला) शरीर पर केसर-मिश्रित चन्दन ग्रौर वक्ष पर मदालसा प्रियतमा पड़ी हो तो ग्रपनी समूची विशेषताग्रों के साथ स्वर्ग ही ग्रा गया समझिये।

---

1. शतकत्रयादि सुभाषित १२३, १३४।
2. ,, ४०।
3. ,, ११६।

नगर-सभ्यता और दरबारी प्रभाव का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि कामशास्त्रीय तत्त्वों का अनुसरण और समावेश भी कविजन अपनी कृतियों में बड़ी ही रुचि के साथ करने लगे और यह बात बेधड़क कही जा सकती है कि गीतिकाव्य पर इसका जितना अधिक प्रभाव पड़ा उतना अन्य प्रकार के काव्यों पर नहीं। नायिकाओं के इतने भेद तथा उनकी सहायिकाओं, चेष्टाओं और व्यापारों का ऐसा वैविध्यपूर्ण चित्रण नाटकों मे भी नहीं हो सका। नाटक दृश्य काव्य है और सुरतादि व्यापारों का प्रदर्शन इसमे निषिद्ध है किन्तु गीतिकाव्य मे इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं। इसीलिए उसमे विविध नायिकाओं की स्वानुकूल चेष्टाओं से लेकर अनेक प्रकार की केलियां, सुरतकालीन विभिन्न बन्ध, आलिङ्गन चुम्बन आदि के भेद-प्रभेद और नख-चिन्ह, दन्त-क्षत आदि उपभोग-चिन्हों का उन्मुक्त चित्रण हुआ है।[1] कालिदास की रचनाओं मे नागरिक जीवन और राजसभाओं के प्रभाव के साथ-साथ वैदिक सभ्यता की जो गौरवपूर्ण गम्भीरता व्याप्त है, उसकी आभा बाण की कृतियों में बहुत धुंधली दिखाई देती हैं। उनमे उपभोग-प्रवणता का सर्वत्र साम्राज्य है जिसकी तुलना मे सयम का चित्रण नगण्य है। यह तत्कालीन समाज की बदलती हुई मनोवृत्ति का लिखित प्रमाण है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मसूत्र अथवा धर्मसूत्रों के स्थान पर कामसूत्र का प्रभाव स्वाभाविक ही था। गुप्तयुग की समृद्धि के कारण कला और सौन्दर्य की उपासना की प्रवृत्ति ने भी समाज की इस मनोवृत्ति के विकास में पर्याप्त योग दिया था।

इसके अतिरिक्त गीतिकाव्य पर नायिका-भेद का प्रभाव भी उत्तरोत्तर अधिक होता गया। नायिकाभेद का स्थान मूलरूप में नाटक के अन्तर्गत माना गया था। भरत ने अपने नाटयशास्त्र मे आठ प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है। दूती के कर्तव्य और गुणों का विवेचन भी उन्होंने किया है। सम्भव है यह नाट्यशास्त्र पर भी कामसूत्र के प्रभाव के कारण हो। आगे चलकर नायिकाभेद ने संस्कृत के गीतिकारों को भी आकृष्ट किया और उन्होंने विविध प्रकार की नायिकाओं के व्यापारों और स्वरूपों का चित्रण किया।

वाग्वैदग्ध्य, जिसमें अर्थ-चमत्कार और शब्द-चमत्कार दोनों आ जाते हैं, धीरे धीरे संस्कृत काव्य शैली पर अधिकार जमाता जा रहा था। भारवि और बाण की वाणी ने महाकाव्य और गद्यशैली की प्रौढता की सूचना दे दी थी। बाण की कादम्बरी अलंकृत गद्यशैली का चरमोत्कर्ष उदाहरण है। यद्यपि अधिक चमत्कार-पूर्ण शैली गीतिकाव्य की आत्मा के विरुद्ध है तथापि गीतिकाव्य का काव्यजगत् से विच्छेद तो था नहीं, अपितु जैसा कि तीसरे अध्याय मे विचार किया जा चुका है, गीतिकाव्य महाकाव्य और नाटकों में भी घुल-मिल कर अपना पथ प्रशस्त करता रहा है, इसलिए इस अलकृत शैली का प्रभाव उस पर भी पड़ना स्वाभाविक ही था।

बाण के सम्बन्धी मयूर के सूर्य शतक मे आया हुआ यह श्लोक देखिए—

1. शतकत्रयादि श्लोक १४५।

चक्री चक्रारपंक्ति हरिरपि च हरीन धूर्जटिर्धूध्वजाग्रा-
नक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः।
रंहः संघः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य।
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वहमहिमरुचेः सोऽवतात्स्यन्दनो वः ।।

इस पद्य में कवि का सूर्यविषयक रतिभाव अनुप्रास के आग्रह की लपेट में दब कर रह गया है। कवि का प्रमुख उद्देश्य है अनुप्रास जिसके सम्पादन में वह अन्य सब कुछ भूल गया है। काव्यप्रकाशकार ने इसमे प्रसिद्धि-विरुद्ध दोष निकालते हुए कहा है—"अत्र कर्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिः अनुप्रासानुरोधेनैव कृता न पुराणेतिहासादिषु तथा प्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः"। (काव्यप्रकाश १० मउल्लास)

इसी कवि का सद्य भुक्ता नायिका के वर्णन मे यह श्लोक देखिये—

एषा का स्तन-पीन-भार-नमिता मध्ये दरिद्रावति।
विभ्रान्ता हरिणीविलोलनयना सन्त्रस्तयूथोद्गता।
अन्तःस्वेदगजेन्द्रगण्डगलिता संलीलया गच्छति।
दृष्ट्वा रूपमिद प्रियाङ्गगहनं वृद्धोऽपि कामायते।[1]

और भर्तृहरि की ये पक्तियां भी—

आवास: क्रियतां गांगे पापवारिणि वारिणि।
स्तनमध्ये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणि।[2]

इन उदाहरणों से कवियों की शब्दवैचित्र्य, समासभूयस्त्व, पाण्डित्य-प्रदर्शन आदि की ओर उन्मुख प्रवृत्ति का आभास मिलता है। भर्तृहरि जैसे वैदर्भी रीति के पक्षपाती की रचनाओं में भी अर्थ-चमत्कार तथा शब्द-चमत्कार की ओर झुकाव देखा जाता है।—

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः।
पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजे रत्नमयीव सा।
गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता।
शनैश्चराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा।[3]

प्रथम श्लोक में नायिका को रत्नों की माला का रूप दे दिया गया है और दूसरे में वह ग्रह-ग्रस्त करा दी गई है। इन उक्तियों से हृदय चमत्कृत अवश्य हो जाता है किन्तु नायिका के सौन्दर्य की झलक, जिससे हृदय सत्त्वदशा की अनुभूति में डूब जाये, नही मिल पाती। रत्नों के झमेले में उसके स्वाभाविक लावण्य की आभा कहाँ रही? और पैरों पर शनैश्चर के चढ़ जाने से तो अनिष्ट ही हो गया। कहने की आवश्यकता नही कि इन उक्तियो में विशुद्ध शब्द-वैचित्र्य ही कवि का लक्ष्य प्रतीत होता है। 'गुण' शब्द का यह श्लेष भी ऐसा ही है:—

1. मयूराष्टक।
2. शतकत्रयादि श्लोक १३५।
3. शतकत्रयादि० १३१।१३२।

मुग्धे ! धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।
यया विध्यसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ।[1]

मुग्धे ! तुम्हारी धनुर्धरता अपूर्व है । तुम गुणों से ही चित्त वेधती हो वाणों से नही । क्या बिहारी का 'तिय कित कमनैती पढी' वाला दोहा भर्तृहरि की इसी उक्ति का वंशज नही हैं ? एक अन्य उदाहरण लीजिए :—

केशाः संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते लोचने ।
अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिः कीर्णं द्विजानां गणै-
र्मुक्तानां सततधिवासरुचिरं वक्षोजकुम्भद्वयम् ।
इत्थं तन्वि ! वपुः प्रशान्तमपि ते रागं करोत्येव नः ।[2]

तन्वि ! तुम्हारे केश सयमी हैं, लोचन श्रुति के पार तक पहुँचे हैं, अन्तर्वक्त्र स्वभाव से ही शुचि द्विजगणों से और उरोज-कुम्भ निरन्तर मुक्ताधिवास से शोभित हैं । इस प्रकार (सयमी, श्रुति-पारङ्गत, मुक्त-संपर्क, शुचिद्विजगणशोभित) तुम्हारा वपु शान्त होकर भी हमारे मन मे राग का ही संचार करता है ।

अर्थ-चित्र का भी एक उदाहरण लीजिए :—

नूनमाज्ञाकरास्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः ।
यद्भ्रूनेत्रसंचारसूचितेऽपि प्रवर्तते ।[3]

नायिका की बाँकी चितवन के प्रभाव की अनुभूति यह पद्य नहीं कराता क्योंकि कवि का तात्पर्य तो अनुमान और उत्प्रेक्षा अलंकारों में ही है । अभिव्यक्ति को कलात्मक रूप देना बुरी बात नही यदि वह भाव के सहायक रूप में गृहीत हो । केवल चमत्कार खड़ा करना अवश्य अस्वाभाविकता का कारण बन जाता है जो अन्यत्र चाहे अरुचिकर प्रतीत न हो किन्तु गीतिकाव्य में एकदम खटकने लगता है । इसीलिये गीतिकारों पर इस नयी प्रवृत्ति का प्रभाव चमत्कार के रूप में उतना नहीं पड़ा जितना कलात्मक लालित्य की सृष्टि के रूप में । भर्तृहरि में ही यह विशेषता भी प्रकट हो गई थी । उदाहरणार्थ नीचे लिखे हुए पद्य में अनुप्रास का योग वासन्ती मादकता का नादात्मक चित्र उपस्थित करने मे समर्थ है :—

मधुरयं मधुरैरपि कोकिलाकलकलैर्मलयस्य च वायुभिः ।
विरहिणः प्रणिहन्ति शरीरिणो विपदि हन्त सुधापि विषायते ।[4]

अहो ! यह वसन्त, कोकिलों की मधुर काकली तथा दक्षिण की मलय-वायु द्वारा विरही जन के शरीर पर आघात ही करता है । खेद ! विपत्ति में अमृत भी विष बन जाता है ।

1. शतकत्रयादि ०१३३ ।
2. ,, १३६ ।
3. ,, १२७ ।
4. वही १११ ।

भारवि ने 'वर्णनियम'[1] के अनुसार एकाक्षर द्वयक्षर आदि पद्यों की रचना का आदर्श प्रस्तुत किया था जिसका अनुकरण माघ ने अपने शिशुपालवध मे बड़े मनोयोग के साथ किया। कहने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार की रचना कवि की शक्ति का द्योतन तो अवश्य करती है किन्तु आस्वाद्यता उसमें लेशमात्र भी नही रह जाती। फिर भी सच्चे गीतिकारो ने भावगाम्भीर्य को सुरक्षित रखते हुए इस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत की। उदाहरण के लिये शाश्वत नामक कवि का यह पद्य लीजिए :—

स मे समासमो मासः सा मे माससमा समा।
यो यातया तया याति या यात्यायातया तया॥

वह मास मेरे लिये वर्ष के समान और वर्ष मास के समान है जो (क्रमश.) उस (प्रिया) के जाने पर और आने पर (वियोग और सयोग में) बीतता है।

एक अन्य विशेषता जो भर्तृहरि के अनेक पद्यो मे दीख पड़ती है यह है कि वे उनकि वैयक्तिक अनुभूति से अनुप्राणित है। यो तो किसी भी कला-कृति में उसके कर्त्ता की रुचि-अरुचि आदि का प्रतिबिम्बन स्वाभाविक ही है किन्तु भर्तृहरि की उक्तियों मे उनके जीवन की विषमताओं द्वारा उद्बुद्ध भावनाएँ अप्रत्यक्ष रूप से, किन्तु बड़ी ही मार्मिकता के साथ, अभिव्यक्त हुई है। कही सासारिक भोगो का लालसापूर्ण वर्णन[2], कही उनकी निन्दा, कही राजाओं को लक्ष्य कर आत्माभिमान की मुद्रा मे अपने कवित्व की प्रशंसा और उनके ऐश्वर्य की हीनता का प्रतिपादन[3] और कही गरीबी का करुण चित्रण[4], कही स्त्रियों की प्रशसा और कही निन्दा[5] इस बात के प्रमाण है कि कवि का अभाव-पीडित मन समय-समय पर अपनी आन्तरिक ग्रन्थि (complex) से प्रेरित भावों को सामान्य रूप मे व्यक्त करता रहा है। यद्यपि, जैसा कि हम कह आए हैं, संस्कृत-गीति-काव्य मे आत्माभिव्यक्ति का आत्मचरितात्मक रूप खोजना अनावश्यक है तो भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है। कहीं कहीं अनुभूति की गहनता के साथ परिस्थितियों और वातावरण का ऐसा चित्रण मिलता है जो कल्पित हो ही नही सकता। सच्चे कवि द्वारा आपबीती तथा जगबीती भावनाओं की अभिव्यक्ति मे आस्वाद्यता की दृष्टि से चाहे कोई अन्तर न रहता हो किन्तु स्वानुभूत विषय और भाव के चित्रण मे एक विशेष प्रकार का सरस, विचित्र तथा अनन्य प्रभाव छाया रहता है जो अपनी साधारणीकृत दशा मे भी विशिष्टता का प्रतिष्ठापक होता है। आत्मदर्शन का यही तत्त्व भर्तृहरि की इन उक्तियों मे मिलता है। पुरुष की अपेक्षा नारी का हृदय अधिक भावुक तथा संवेदनशील होता है। अतः कवयित्रियों की उक्तियों में ऐसे तत्त्वों का अधिक समावेश पाया जाता है जिनसे उनके वैयक्तिक जीवन से सम्बद्ध होने की संभावना अपेक्षाकृत

1. देखिये, काव्यादर्श, ३।८३।
2. शतकत्रयादि, श्लोक ९९, १४४।
3. वही ,, श्लोक १६३।१६६।
4. ,, ,, ,, १८३।
5. वही, ,, ,, ८१।८२।११६।

अधिक प्रतीत होती है। विज्जका अथवा विजयाङ्का की, जो कर्नाटक के राजा चन्द्रादित्य (६६० ई०) की रानी थी [1] एक उक्ति देखिए :—

**धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विस्रब्धचाटुशतकानि रतान्तरेषु ।**
**नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ।**

'तू धन्य है जो सुरत के समय प्रिय से बात कर लेती है, मैं तो सशपथ कहती हूँ कि प्रिय का हाथ नीवी पर जाते ही कुछ याद नहीं रहता'। इसी प्रकार शीला भट्टारिका का यह श्लोक भी: —

**यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-**
**स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।**
**सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ ।**
**रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ।**

कौमार्य को खण्डित करने वाला वही (प्रच्छन्न प्रेमी) अब मेरा वर (पति) है, वे ही चैत की रातें और वही मालती की गन्ध से भरी कदम्ब-वृक्षों से आती हुई वायु है। मैं भी वही हूं, फिर भी रेवा के तट पर वेतस वृक्ष के नीचे (विवाह से पूर्व) के सुरत-व्यापार चित्त में उत्कण्ठा भर देते हैं।

इन दोनों ही पद्यों में वर्णित विषय कल्पित नहीं कहे जा सकते। कोई भुक्तभोगी ही इस प्रकार की बातें कह सकता है जो किसी पुरुष कवि के अनुभव के बाहर की वस्तुएं हैं। दूसरी उक्ति के विषय में तो यह बात और भी अधिक निश्चयात्मकता के साथ कही जा सकती है। ये उद्‌गार एक नारी के अनन्य गुप्ततम रहस्य हैं जिनकी अभिव्यक्ति एक कवयित्री द्वारा हुई है। अतः वह नारी इस कवयित्री के अतिरिक्त कोई नहीं है।

भर्तृहरि का व्यक्तित्व जहां निश्छल और सरल है वहां बड़ा अस्थिर और अनिश्चित थी। निश्छल इस अर्थ में कि वे जब कभी जो कुछ सोचते हैं, वही कहते हैं, सरल इसलिए कि सीधी बात कहते हैं, अस्थिर इस कारण कि वे अपनी ही बात पर जम नहीं पाते और अनिश्चित इस हेतु कि अपनी इन विशेषताओं के कारण वे आलोचकों के लिए एक समस्या बने रहे हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति को लेकर उनके मन में जो खींच-तान रही है वह उनकी अस्थिरता की पोषक है। उनकी शृङ्गारपरक स्तुतियों में भी जो वैराग्य और नारी-निन्दा की झलक कहीं-कहीं मिलती है, उसका कारण भी यही है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का नीर-क्षीर वत् समन्वय, जो कालिदास के प्रेमचित्रण की विशेषता है, भर्तृहरि की रचना में नहीं मिलता। शृङ्गार के वर्णन में जब वे वैराग्य की बात करते हैं तो वह कुछ अलग से कही गयी सी प्रतीत होती है और गङ्गा-यमुना के संगम के समान दोनों की विभिन्न वर्ण धाराओं को ही प्रस्तुत करती है। शायद अन्त तक भी वे यह निश्चय न कर पाए कि :—

1. देखिए पो० काणे कृत साहित्य दर्पण की भूमिका।

"सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुतस्मरस्मेरविलासिनीनाम्"

इसीलिए उनके सम्बन्ध में ऐसी ऐसी जन-श्रुतियां भी फैल गईं कि वे अपनी पत्नी से प्रणय-प्रवञ्चित होकर अतृप्त वासना को लिए हुए ही भावावेश में सब कुछ त्याग कर सन्यासी बन गये और फिर गृहस्थ तथा सन्यास आश्रम के बीच में सात बार इधर से उधर भटकते रहे। वैयक्तिक रुचि और परिस्थितियों के साथ साथ इसका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि युग की रुचि के अनुसार शृङ्गार भावना भी उन्मुक्त रूप से साहित्यिक जगत् में फैल रही थी और **'शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्'** के अनुसार कवि लोग केवल शृङ्गारी बनना पसन्द करते थे, या जब वे शृङ्गारिक कविता लिखते तो उस समय अन्य बातों को अवश्य भुला देते थे। भर्तृहरि एक ओर तो इस प्रवृत्ति से प्रभावित हुए और दूसरी ओर अपने अभाव-पोषित विराग की भी अवहेलना न कर सके जो इतना प्रबल था कि शृङ्गारी रचना से नमक-पानी जैसी सन्धि नहीं कर सकता था। यही कारण है कि उनकी शृङ्गारिक रचनाओं में भी जहाँ तहाँ वैराग्य का स्वर सुनाई पड़ता है :—

**सत्यं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु सप्तस्वपि तथ्यमेतत् ।**
**नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः ॥**[1]

मैं सच कहता हूँ, किसी पक्षपात से नहीं। यह सातों लोकों में सत्य है कि कामिनियों से अधिक मनोहर और दुःखदायी अन्य कुछ नहीं है।

**धन्यास्त एव चपलायतलोचनानां तारुण्यदर्पघनपीनपयोधराणाम् ।**
**क्षामोदरोपरिलसत्त्रिवलीलतानां दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम् ।**[2]

वे धन्य हैं जिनका चित्त चपल-आयताक्षी, कृशोदरी, त्रिवली से शोभित तथा यौवन दर्प से पुष्ट उरोजों वाली सुन्दरियों को देखकर विकृत नहीं होता।

शृङ्गार की प्रधानता धीरे धीरे इतनी बढ़ी कि कवि-जन उपास्य देवताओं की रति का भी बड़े चाव के साथ वर्णन करने लगे। यद्यपि कालिदास के कुमारसम्भव में भी शिव और पार्वती की शृङ्गारिक चेष्टाओं का भरपूर वर्णन है किन्तु उसके विषय मे एक बात यह कही जा सकती है कि प्रेम का संतुलित रूप ही वहाँ दिखाया गया है। पार्वती का प्रेम तपस्या से परिपुष्ट एवं पूत है। उच्छृङ्खल काम का कालिदास ने दहन करना ही उचित समझा। शिव पार्वती की विवाह के पश्चात् की शृङ्गारिक केलियाँ पूरे महाकाव्य के सन्दर्भ में देखी जायें तो अनुचित और अनर्गल प्रतीत नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त दिव्य पात्र होने पर भी प्रेम का चित्रण यहाँ मानवीय धरातल पर ही किया गया है। प्रणय-केलियों का परम उद्देश्य है कुमार का जन्म जिससे लोक का कल्याण होगा। परन्तु गाथासप्तशती में जो देव-मिथुनों के शृङ्गारिक व्यापारों का चित्रण हुआ था वह एक नयी दिशा का सूचक था। इन उक्तियों में कवि का भाव केवल शृङ्गारमय रहा है। प्रस्तुत देव दम्पतियों के

1. शतक त्रयादि, ११२।
2. वहीं ११८।

प्रति उपासना, भक्ति, पूजा आदि की भावना परिलक्षित नहीं होती। आगे चलकर शृङ्गारी कवियों ने अपने मङ्गलाचरण मे भी इस प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कीं और शिव, हरि आदि को भी मृगनयनियों का वशवर्ती बना देने वाले कामदेव को नमस्कार का पात्र समझा।

**शंभुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणीनां येनाक्रियन्त सततं गृहकुम्भदासाः।**
**वाचामगोचरचरित्रपवित्रिताय तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय ॥[1]**

हरि, हर, ब्रह्मा आदि को भी वश में करने वाला कामदेव कामिनियों के भ्रूसंकेत पर चलता है इसलिए कवियों ने उन्हें ही नमस्कार करना उचित समझा। भला ऐसी विभूति को भी अबला कहा जा सकता है जिसके कटाक्षमात्र से पौरुष पानी पानी हो जाये। नारी के हाव-भावों के स्मरण को भी सुखद और विघ्ननाशक मानकर उनमें रक्षा सामर्थ्य की कल्पना कर ली गयी।[2] यह भावुकता शृङ्गार के एकच्छत्र राज्य की घोषणा थी। अमरुक का मङ्गलाचरण देखिए जिसमें हरि, हर स्कन्द आदि देवताओं की अवहेलना कर विपरीत-रति-खिन्न नायिका के श्रमजलक्लिन्न मुख द्वारा पाठक की रक्षा की कामना प्रकट की गई है—

**आलोलामलकावलीं विलुलितां बिभ्रच्चलत्कुण्डलम्।**
**किंचिन्मृष्टविशेषकं तनुतरैः स्वेदाम्भसः शीकरैः।**
**तन्व्या यत्सुरतान्ततान्तनयनं वक्त्रं रतिव्यत्यये।**
**तत्त्वां पातु चिराय किं हरिहरस्कन्दादिभिर्दैवतैः ।[3]**

यह एक निश्चित तथ्य है कि साहित्य में युग की परिस्थितियों के अनुसार नयी-नयी प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ करता है जो अपनी प्रारम्भिक अवस्था में स्वाभाविक और असंस्कृत होती हैं, धीरे-धीरे वे परिष्कृत होती हुई कला के चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती हैं जिसके पश्चात् उनका रूढि के रूप में परिणत होना अवश्यम्भावी हो उठता है। फिर तो कवि लोग रूढिग्रस्त होकर पिष्टपेषण करने लगते हैं। शृङ्गार-चित्रण के विषय मे भी ऐसी ही घटता घटी। जैसे-जैसे इसका प्रसार होता गया अभिव्यक्ति और अनुभूति दोनों में परिष्कार भी होता चला गया और अन्त में वह रूढिग्रस्त होकर क्षुद्र परिधि में बन्द हो गया। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि कामशास्त्र अथवा नायिकाभेद की बँधी-बँधायी परिपाटी का पालन करने में ही कवि-कर्म की इति श्री समझ ली जाती। अमरुक की रचनाओं में यह बात स्पष्टतया लक्षित की जा सकती है। वास्तव में अमरुक सस्कृत साहित्य में टिपिकल गीतिकाव्य के प्रतिनिधि कवि है। एक उदाहरण लीजिए।

**क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगुरुपङ्काङ्कमलिनः।**
**क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः।**

1. अमरुक शतक (निर्णयसागर) श्लोक ३, ७४, ८६, १०७।
2. वही, ५४।
3. अमरुक शतक, ३।

**वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः ।**
**स्त्रियो नानावस्थं प्रथयति रतं प्रच्छादपटः ॥**

इस श्लोक मे 'नानावस्थ रतम्' स्पष्ट रूप से कामशास्त्र द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सुरत-बन्धो की ओर संकेत करता है। ताम्बूल और अगुरुपङ्क आदि के चिन्ह उन विशिष्ट बन्धों को सहज बुद्धिगम्य बना देते है। वेमभूपाल ने इस पद्य की टीका करते हुए लिखा है—

**अत्र क्वचित्ताम्बूलाक्त इत्यनेन मार्जारकरणं सूचितम्। यथोक्तं रतिरहस्ये प्रसारिते पाणिपादे शय्यास्पृशि मुखोरसि। उन्नतायां स्त्रियः कट्यां मार्जारकरणं मतम् इति। क्वचिदगुरुपङ्काङ्कमलिन इत्यनेन करिपदं नाम बन्धविशेषः सूच्यते। यथोक्तम् भूगतस्तनभुजास्यमस्तकामुन्नतस्फिजमधोमुखीं स्त्रियम्। कामति स्वकरकृष्टमेहने वल्लभे करिपदं तदुच्यते इति। क्वचिच्चूर्णोद्‌गारीत्यनेन धेनुकं नाम करणं सूच्यते। यथोक्तम् न्यस्तहस्तयुगला भुवस्तले योषिदेति कटिरूढवल्लभा। अग्रतो यदि शनैरधोमुखी धेनुके वृषवदुन्नते प्रिये इति। क्वचिदपि च सालक्तकपद इत्यनेन पुरुषायित सूच्यते। तत्स्पष्टमेव।"**

इन विभिन्न प्रकार के बन्धों मे से पुरुषायित रति का चित्रण करने मे कवियों ने बड़ी अभिरुचि दिखाई है। स्वयं अमरुक ने संभोग शृङ्गार के १२-१३ श्लोकों में से चार मे इसका वर्णन किया है।[1] वात्स्यायन ने कामसूत्र के दूसरे अधिकरण के चतुर्थ अध्याय मे नागरिक का जो चित्र खींचा है वह अमरुक के नायक मे पूर्णतया मिलता है। अमरुक का नायक भी गानविद्या में कुशल है[2] और चित्रकला मे तो इतना प्रवीण है कि निरुद्देश्य रेखाएँ भी खीचने लगता है तो उसके मन की सुन्दरी का चित्र बन जाता है। उसी के मुख से सुनिये—

**पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः**
**प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः।**
**स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक् परिणतो**
**गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥**[3]

अचानक ही प्रियतमा के समक्ष अन्य युवति का नाम मुख से निकल जाने के कारण मैं चकित तथा अधोमुख होकर लज्जावश पृथ्वी पर रेखाएँ खीचने लगा किन्तु वह रेखा-न्यास कुछ ऐसा बन पड़ा कि उसी सुन्दरी की तस्वीर अङ्कित हो गयी।

उसके भवन की वापी के इधर-उधर फैली हुई एक वाटिका भी है जिसकी परागसम्पन्न आम्रमञ्जरी वसन्त में भ्रमर-वधुओ के गुञ्जन से मुखरित हो उठती है और वियोगिनी नायिका उसे पकड़कर आँचल मुँह पर डाले हुए रोया करती है।[4] घर में पले हुए शुको के पिंजरे लटकते रहते हैं जो बाण के शुकों[5] के ही समान पढे

1. अमरुक शतक, ३, ७४, ८२, १०७
2. वहीं, ५४।
3. वही ५१।
4. ,, ७८।
5. कादम्बरी मङ्गलाचरण।

हुए होते हैं। इतने होशियार कि नायक-नायिका की नोंक-झोंक होने पर घर के वातावरण को समझकर हँसना पढ़ना छोड़ देते है,[1] किन्तु इतने मुखर भी कि दम्पती के निशाकालीन प्रेमालापों को गुरुजन के सामने ही दुहराने लगते हैं।[2] सुरतकालीन साज-सज्जा, (पटवास, सुमनमाला आदि) यथास्थान नखक्षत, दन्तच्छेद एवं कचग्रह मे निपुणता और मानिनी के प्रणयन में चतुरता आदि सभी विशेषताएँ इस नायक मे परिलक्षित होती है।

कामशास्त्र को एक महत्त्वपूर्ण देन है दूती-सम्प्रयोग। दूती का कार्य बड़ा ही कठिन है। दो अपरिचित हृदयो मे एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना और उसे स्थायी बनाए रखना कुछ आसान काम नही है। मन-मुटाव अथवा एक दूसरे के प्रति सन्देह हो जाने पर सन्धि कराना, कभी नायक को तो कभी नायिका को अवसरानुकूल उपालम्भ, सामकथन अथवा वक्र फटकारो से पुनः प्रेम-प्रवृत्त कराना, नायिका की लोक लाज को बनाए रखते हुए अभिसार कराना आदि बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य हैं जो स्वयं 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' अस्पृष्ट रहकर पूरे करने होते है। दूती का कार्य प्राय नायिका की सखियाँ करती हैं क्योंकिवे नायिका के अत्यन्त निकट और रहस्य-गोपन मे चतुर होती हैं। वे स्वयं भी सुन्दरी और यौवनवती हो सकती है। अत नायिका को ऐसी दूती पर तनिक सी असावधानी से सन्देह हो सकता है। उसका विश्वास बनाये रखना भी बड़ा आवश्यक होता है। सचमुच 'दूतीधर्म. परम गहन.' अन्धे यौवन और मादक वातावरण मे कभी भी स्खलन सम्भव है और इस सम्भावना की कल्पना कर संस्कृत के कवियो ने दूती-विषयक अनेक सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जो नायिका के प्रति उसके विश्वासघात और अमानत में खयानत वाली उक्ति को भले ही चरितार्थ करती हों सहृदयो को तो रसप्लावित कर ही देती हैं।

शीला भट्टारिका कितने अन्तर्द्वन्द्व के साथ दूती को अपने प्रिय के पास जाने के लिए विदा करती है।

> **दूति ! त्वं तरुणी युवा स चपलः श्यामास्तमोभिर्दिशः।**
> **सदेशश्च सरहस्य एष विपिने संकेतकावासकः।**
> **भूयो भूय इमे वसन्तमरुतश्चेतो नयन्त्यन्यथा।**
> **गच्छ क्षेमसमागमाय निपुणं रक्षन्तु ते देवताः।**

हे दूति ! तू युवति है और वह युवक चपल है तिस पर सारी दिशाएँ अंधेरे से काली हो रही है, सदेश रहस्यपूर्ण है और वह सहेट पर स्थित है। वसन्त की वायु बार-बार चित्त को विचलित कर देती हैं। कल्याण-समागम (हित-सम्पादन) के लिये तू जा, देवता तेरी रक्षा करें।

1. अमरुक शतक, ७।
2. वही, ८७।

अमरुक की दूती सचमुच ही समागम के पश्चात् लौटती है और नायिका को व्यङ्ग्य करने का अवसर देती है :—

नि:शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो ।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे !
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।

तेरे वक्षस्थल का चन्दन छूट गया है । अधर की लालिमा मसली हुई सी है, नेत्रों में काजल नही रहा, शरीर पुलकित है । दूति ! तू झूठ बोलती है । तुझे सखी की पीड़ा का भी ध्यान नहीं । यहाँ से तू बावडी में स्नान करने के लिये चली गयी, उस अधम के पास नही गयी ।

यह दूती अपनी गलती को समझ कर मौन तो है । इस अन्य दूती को देखिए जो अपराधिनी तो है ही, धृष्ट भी है । निर्लज्जता के साथ जवाब दे रही है :—

स्विन्नं केन मुखं ? दिवाकरकरैस्ते रागिणी लोचने ।
रोषात्तद्वचनोदिताद्, विलुलिता नीलालका वायुना ।
भ्रष्टं कुङ्कुममुत्तरीयकषणात्क्लान्तासि गत्यागतैः ।
उक्तं तत्सकलं किमत्र वद हे दूति ! क्षतस्याधरे ।

'तुम्हारे मुख पर पसीने की बूँदें क्यों हैं ?'
'सूर्य की किरणों के कारण ।'
'आँखे लाल कैसे हो गयी ?'
'उस (नायक) की बातों पर क्रोध आ जाने के कारण' ।
'इन काले-काले बालों के अस्त-व्यस्त होने का कारण ?'
'वायु' ।
'उरोजस्थल का केसर कैसे छूट गया ?'
'दुपट्टे की रगड़ से' ।
'थकी हुई क्यों हो ?'
'हाँ, जाने और लौटने के आयास से' ।

'ठीक है, इस सब का जवाब तो तूने बना लिया पर यह तो बता तेरे अधर पर क्षत कैसा है ?

कामशास्त्र के साथ-साथ नाट्यशास्त्र के नायिका-भेद का बड़ा भारी प्रभाव गीति साहित्य पर पड़ा । वर्ण्यविषय तथा शैली को एक निश्चित साँचे में, जो पहले से बना हुआ था, ढालकर गीति काव्य का भवन खड़ा किया जाने लगा । नायक-नायिकाओं के भेदप्रभेदों को लेकर रचनाएँ हुई । अमरुक के शतक में इस प्रकार की बहुत सी रचनाएँ हैं जिनमें नवोढा, मुग्धा, मध्या प्रौढ़ा, धीरा, धीराधीरा, वासकसज्जा, कलहान्तरिता, खण्डिता, प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषितपतिका, स्वाधीनपतिका अभिसारिका आदि नायिकाओं

1. देखिए, अमरुकशतक पर वेमभूपाल की टीका ।

और दक्षिण, शठ, धूर्त आदि नायकों के अतिरिक्त उनके अङ्गज और प्रयत्नज अलङ्कार, गुण, सात्त्विक भाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव, उद्दीपन, अनेक ध्वनि-प्रकार और अलङ्कारों का यथास्थान समावेश हुआ है। यही कारण है कि कुछ लोगों को यह सन्देह हो गया था कि अमरुक शतक की रचना शायद उदाहरणों को जुटाने के प्रयत्न मे हुई[1] किन्तु वास्तविकता यह नहीं प्रतीत होती। उदाहरणों की सृष्टि में स्वाभाविकता का ऐसा समावेश संभव नही। इस सम्बन्ध में डा० कीथ का कथन है यह धारणा कि इस रचना का उद्देश्य नायिका-भेद तथा अलङ्कारों के उदाहरण प्रस्तुत करना है, उपेक्षणीय है अमरुक ने प्रेमियों के सम्बन्ध का ही चित्र खींचा है, जीवन के अन्य पहलू का विचार तक उसके मस्तिष्क में नही आया। यदि अमरुक का उपर्युक्त उद्देश्य होता तो वह संभवतः जीवन के अन्य अङ्गों से भी उदाहरण प्रस्तुत करता अतः यह सब कोरा अनुमान है। जो कुछ उसने हमें दिया है उसमें कुछ अधिक खोजे बिना ही हमे उसके कृतज्ञ होने का पर्याप्त कारण मौजूद है।[1] यदि अमरुक का उद्देश्य नायिका भेद के उदाहरण प्रस्तुत करना था तो प्रेम के अतिरिक्त जीवन के अन्य पक्षों को चित्रित करने का प्रश्न नही उठता। हाँ, अलङ्कारों के उदाहरण अन्य पक्षों से भी दिये जा सकते हैं, किन्तु अमरुक के श्लोकों मे अलङ्कारों का स्थान निश्चित रूप से गौण है। वे सर्वत्र ही भाव के पोषक बनकर आए है और सिर उठा-उठाकर अपना अस्तित्व नही जताते। अतः अमरुक-शतक को उदाहरण-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि काव्य शास्त्र की बारीकियों से अमरुक भली भाँति परिचित थे और उनका यह परिचय उनकी कला में पूर्णतया घुल-मिल गया है।

अमरुक के वर्ण्यविषय और उसके अन्तर्गत प्रसङ्ग विधान पर दृष्टि डालते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीवन के एक ही पहलू के एक अंश मात्र का चित्रण उन्होंने किया है। इस दृष्टि से उनका क्षेत्र संकुचित ही कहा जायेगा। हम कह आए हैं कि उनका प्रेम नागरक प्रेम है। यही कारण है कि उसके प्रसार का क्षेत्र व्यापक नहीं है। गाथासप्तशती के समान गोदावरी की कछारो, हरे-भरे खेतों और पर्वतीय प्रदेशों तथा वनों में उनके नायक-नायिकाओं की प्रेम क्रीडाएँ नहीं चलती। उनकी रङ्गभूमि अधिकतर केलिशयन, उससे कुछ उतर कर घर और उससे भी कम घर का उपवन रहा है जिसे हम मदन-वाटिका कह सकते हैं। नायिका की सखियों, दूती, गुरुजन और परिजन तथा पालतू शुक और मदन-वाटिका की सहकारमञ्जरी पर गुनगुनाते हुए भौरों के अतिरिक्त कोई अन्य प्राणी इस संकुचित क्षेत्र मे नही आ सका है। प्रकृति के नाम पर भी वही आम्रमञ्जरी, मलय-वायु, चाँदनी रात, वर्षा और मेघ, उपमान के रूप में इन्दीवर तथा कुछ अन्य पुष्पों का उल्लेखमात्र हुआ है। गिरि, सरित् और वनों का उल्लेख भी एक श्लोक में मिलता है जिससे बिम्बग्रहण की दुराशा तो दूर रही हलकी सी झांकी की आशा भी हम नहीं कर सकते।

अमरुक न तो संयोग के ही कवि हैं और न ही विप्रलम्भ के। फिर भी वे प्रेम के उत्कृष्ट कवियों में से हैं। वे मानविप्रलम्भ के (जिसे वास्तव मे वियोग

1. कीथ का इतिहास, पृष्ठ ६१।

नहीं कहा जा सकता) कवि हैं। उनके आधे से अधिक शतक में मान और प्रसादन की बातें हैं। तीन श्लोक नायिका के मान से प्रारम्भ होते है किन्तु नायक द्वारा बलात् आलिङ्गन आदि के कारण उसकी शान्ति के साथ समाप्त होते हैं। दो श्लोकों में पूर्वराग का वर्णन है। १०–१२ श्लोक नायिका अथवा नायक की विरह-दशा का चित्रण करते हैं ५–६ श्लोकों में प्रवत्स्यत्पतिका की मनः स्थिति दिखाई गयी है। संयोग-चित्रण के १३ श्लोक हैं जिनमें चार श्लोकों मे विपरीत रति का वर्णन है, तीन श्लोक पुरुष प्रवृत्त रति और इतने ही स्त्रीप्रवृत्तरति को प्रस्तुत करते हैं। एक श्लोक में सुरत के पश्चात् निर्वसन नायिका की सलज्ज चेष्टाओं की अभिव्यक्ति हुई है और एक मे अनजाने ही गृहशुक द्वारा दम्पती की रतिकालीन बातों को दुहराने से लजाती हुई वधू का कान में पहिने हुए मूगे से अनार के दानेका धोखा देकर उसका (तोते का) मुँहबन्द करने की बात कही गई है। इसके अतिरिक्त कुछ पद्यों में खण्डिता की उक्तियाँ और कुछ मे कलहान्तरिता का पश्चाताप चित्रित किया गया है। दो श्लोकों मे नवोढा का अन्तर्द्वन्द्व बड़ी कुशलता से अभिव्यक्त किया गया है। विरह-वर्णन मे शारीरिक ताप की नाप-जोख से लेकर संसार में सर्वत्र प्रेमपात्र की मूर्ति के दर्शन तक की कल्पना की गयी है, फिर भी वह व्यापक नहीं कहा जा सकता। प्रसार की कमी को अमरुक ने गहराई से पूरा किया है और यह कहना अनुचित न होगा कि अनुभूति की गम्भीरता में वे कालिदास के अतिरिक्त किसी भी संस्कृत कवि से बढ़कर हैं। यही कारण है कि "अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते" जैसी उक्ति से उनके काव्य का अभिनन्दन किया गया और ध्वनिकार जैसे प्रौढ काव्यशास्त्री ने उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की। वियोग-अनुभूति का एक उदाहरण लीजिए—

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा।
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा।
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः।[1]

नायिका के ध्यान में एकतान वियोगी नायक योगी के सदृश सर्वत्र अपने प्रेमपात्र का ही जलवा (प्रकाश) संसार में देखता है। यह स्मरण और चिन्तन की चरम परिणति कही जा सकती है। इस पद्य के भाव-गाम्भीर्य को देखकर किसी किसी विद्वान् ने तो इसे कालिदास द्वारा रचित ही मान लिया है।[2]

प्रिय की प्रतीक्षा में रत वियोगिनी का यह विषाद-भरा औत्सुक्य कितना मर्मस्पर्शी है—

1. अमरुकशतक, १०२।

2. देखिए, प्रो० चन्द्रशेखर पाण्डेय और शान्तिकुमार नानूराम व्यास की संस्कृत की रूप रेखा।

आदृष्टिप्रसरात्प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया ।
विच्छिन्नेषु पथिष्वहःपरिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन् क्षणे ।
मा भूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ।[1]

'जहां तक दृष्टि जा सकती थी, प्रिय का मार्ग देखा। दिन छिपने लगा, अंधेरा हो चला, पथिकों का आना-जाना रुक गया तो दुःखी होकर वियोगिनी ने घर की ओर कदम रखा और उसी क्षण जल्दी से ग्रीवा घुमाकर फिर मार्ग की ओर देखा कि शायद प्रवासी प्रियतम आ ही गया हो।

किन्तु विरह-वर्णन का यह स्तर आद्योपान्त दिखाई नहीं पड़ता। ऊहात्मक वर्णन शैली का जो विकास होता चला आ रहा था और जिसका पर्याप्त प्रौढ़ स्वरूप माघ तथा बाण की रचनाओं में मिलता है, अमरुक की कृति में भी अपने जगमगाते रूप में देखा जा सकता है। उत्तरकालीन गीतिकारों में यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई जो तत्कालीन संस्कृत साहित्य की अन्यान्य विशेषताओं के साथ रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में भी संक्रान्त हुई। एक उदाहरण देखिए—

तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभि-
रापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियायाः ।
मन्मार्गवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टे-
र्नूनं छमच्छमिति बाष्पकणाः पतन्ति ॥[2]

'मेरे मार्ग में कातर दृष्टि जमा कर देखती हुई प्रिया के विरहाग्नि से तपे हुए पाण्डुर उर पर आँसू छन छन की आवाज के साथ गिरते होंगे।

बिहारी का दोहा भी इसके साथ रख लीजिए—

पलनु प्रकटि बरुनीनु, बढ़ि नहिं कपोल ठहरात ।
अँसुआ गिरि छतियाँ छिनकु छनछनाइ छिपि जात ॥[3]

काव्यशास्त्र से प्रभावित तथा नागरक ढर्रे का होने के कारण अमरुक का चित्रण कहीं-कहीं पहले से खिंचे खिंचाए खाके में रंग भरने की कारीगरी मात्र बन कर रह गया है—

आलम्ब्याङ्गणवाटिकापरिसरे चूतद्रुमे मञ्जरीं ।
सर्पत्सान्द्रपरागलम्पटरटद्भृङ्गाङ्गनाशोभिनीम् ।
मन्ये त्वां तनुमुत्तरीयशकलेनाच्छाद्य बाला स्फुर-
त्कण्ठध्वाननिरोधकम्पितकुचश्वासोद्गमा रोदिति ।[4]

अवश्य ही मेरी प्रिया आँगन की वाटिका के परिसर में उड़ते हुए सघन पराग की लोलुप गुञ्जन करती हुई भ्रमरियों से शोभित आम की शाखा को पकड़ कर

1. अमरुकशतक ७६।
2. अमरुकशतक ८६।
3. बिहारी सतसई।
4. अमरुक ७८।

तथा अपने मुख को आँचल से ढककर श्वास-प्रश्वास से स्पन्दित होते हुए उरोजो से लक्षित होती हुई रुंधे कण्ठ से रोती होगी।

पहली पक्ति मे कामशास्त्रीय नागरक की मदन-वाटिका, दूसरी मे उद्दीपन आलम्बन के कुछ साधन और अन्तिम दो पक्तियों में वियोगिनी नायिका के रोने का वर्णन है। यहाँ मै 'वर्णन' शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर इसके शाब्दिक अर्थ मे प्रयोग कर रहा हूँ। शब्दों से 'रोना' आदि कह कर वियोग-व्यथा की पूरी पूरी व्यञ्जना नहीं होती। यह पूरा चित्र सामान्य वियोगिनी का नहीं हो सकता। सामान्य वियोगिनी का चित्र वह है जो कालिदास ने केवल एक पक्ति मे दे दिया है—

'आलोके ते पतति पुरा सा बलिव्याकुला वा'।

अमरुक का चित्र टिपिकल है, विशिष्ट वर्ग का है, इसीलिए उसमे व्यापकता नहीं है—व्यापारो की भी और भावनाओं की भी।

इस विवेचन का तात्पर्य यही है कि अमरुक सामान्य की ओर से विशेषीकरण की ओर प्रवृत्त हो गए हैं उन्होने व्यापकता को गहराई से पूरा करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार वे सस्कृत गीतिकाव्य की विकास-यात्रा मे एक विशेष मजिल के प्रारम्भ की सूचना देते है। उत्तरवर्ती कवियों ने उनका अनुसरण कर व्यापकता को तो छोड दिया पर वैसी गम्भीरता लाने मे विरले ही समर्थ हो सके।[1] अमरुक प्रणय-जगत् में होने वाली नोक-झोंक और मान-मनाव के विशेषज्ञ कवि हैं। इस छोटे से क्षेत्र मे उनकी पैठ बहुत गहरी है। यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अमरुक से पहले इस विषय को इतनी व्यापकता कभी प्राप्त न हुई। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर प्रसङ्ग-योजना, गहन अन्तर्द्वन्द्व, रूठे हुए दम्पती के मानसिक व्यापार आदि की मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक उद्भावना की है जिसका जोड़ मिलना कठिन है।

मान और औत्सुक्य का यह सञ्चार कितना मनोवैज्ञानिक है—

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया।
सद्यः कोपपराङ्मुखग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणा-
न्मा भून्म्लान इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः।[2]

एकत्र शयन पर विद्यमान प्रियतम के मुख से अन्य रमणी का नाम सुनकर खिन्न प्रियतमा ने मनुहार करते हुए प्रिय की आवेग-वश उपेक्षा कर दी तो वह चुप हो गया किन्तु प्रिया ने तेजी से अपनी ग्रीवा घुमाकर उसकी ओर यह सोचते हुए देखा कि कहीं वह सो न गया हो।

मुग्धा के केवल रोदन में व्यक्त होने वाले मान से लेकर प्रौढा अधीरा का नायक के सिर पर चरण प्रहार में प्रकट होने वाला मान तक अमरुक का विषय रहा है और उसी के अनुसार चाटुकारी से लेकर चरण-पतन तक के उपाय चित्रित किये

1. The general traddition established by Amruka & Bhartrihari is further refined but seldom exceeded or advanced, *S. K. De, A. Hist. of Sans. Lit p. 366.*

2. अमरुक शतक, २२।

गये हैं। यद्यपि गाथासप्तशती में ही मान की कतिपय दशाओं का चित्रण हो चुका था और मयूर की 'प्रणामान्तो मानो विसृज कठिने मानमधुना' वाली पंक्ति भी ख्यात हो चुकी थी तथापि मान-वर्णन का इतना वैविध्य पहले कहीं नहीं दीख पड़ा था। कितनी ही बार अमरुक की नायिका सखियों द्वारा सिखाये जाने पर भी मान धारण में असमर्थ रहती है क्योंकि भौंह चढ़ा लेने पर भी उसकी दृष्टि प्रिय पर उत्कण्ठा के साथ ही पड़ती है। चुप होने पर भी मुख पर मुसकान आ ही जाती है और चित्त कड़ा कर लेने पर भी शरीर रोमाञ्चित हो ही जाता है:—

> भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते।
> रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते।
> कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते।
> दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन् जने॥[1]

यही नहीं, उसे डर है कि कहीं उसके हृदय में सदा विराजमान प्रियतम सखी द्वारा दी हुई मान करने की सीख को सुन न ले। इसलिये वह सहम कर सखी से ऐसा न करने का आग्रह करती है—

> मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते।
> मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
> सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना।
> नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति॥[2]

सारांश यह है कि गाथासप्तशती को छोड़कर, अथवा दूसरे शब्दों में, संस्कृत के प्रगीत मुक्तकों में अमरुक की रचना से उत्कृष्ट कृति का मिलना दुर्लभ है। यद्यपि इसमें गाथासप्तशती के समान जीवन की अनेक-रूपता, आलम्बन की बहुमुखी प्रकृति, उद्दीपन का रूपवैविध्य और समाज का विशद चित्रण नहीं मिलता तथापि भावनाओं के घात-प्रतिघात और अनुभूति की तीव्रता में यह अपनी उपमा आप है। इस प्रकार गाथासप्तशती से अमरुक तक आते आते हम गीतिकाव्य की धारा में भारी परिवर्तन देखते हैं। भर्तृहरि और अमरुक की रचनाओं का अन्तर स्पष्ट करते हुए डा० कीथ लिखते हैं :—

"भर्तृहरि ने प्रेम के सामान्य पक्ष का चित्रण किया है और नारी को जीवन के अङ्ग रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु अमरुक ने प्रेमियों के पारस्परिक सम्बन्ध का चित्रण किया है, जीवन के किसी दूसरे पहलू का उन्होंने विचार ही नहीं किया। अमरुक का प्रेम विशद निर्मल और उच्च मनोभूमि पर स्थित है जो छोटे मोटे विवाद और मान-मनाव के आनन्दपूर्ण वातावरण से गुजरता हुआ हास के साथ समाप्त होता है।"[3] मैक्डानल की सम्मति में अमरुक "प्रेमियों को उनकी सभी चित्तवृत्तियों—उल्लास,

1. अमरुक शतक, २८।
2. वही ७०।
3. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १८४।

निराशा, रोष, तल्लीनता आदि—की अवस्था में चित्रित करने की कला में निपुण है। मान और प्रसाद की विभिन्न अवस्थाओं के चित्रण मे वह विशेषरूप से चतुर है। उल्लेखनीय है कि भाव और पृष्ठभूमि की दृष्टि से अत्यन्त सीमित क्षेत्र में भी कवि अपनी विस्मयकारी उद्भावनाओ तथा कलाचातुरी के कारण, जो सर्वथा नवीन हैं, पाठक का ध्यान आकृष्ट करने मे सफल हुआ है।"[1]

While Bhartrihari deals rather with general aspects of love and women as factors in life, Amaru points the relation of lovers, and takes no thought of other aspects of life. The love which Amaru likes is gay and high-spirited, delighting in tiny tiffs and lovers, quarrels, but ending in smiles और मैक्डानल की सम्मति मे The author is a master in the act of painting lovers in all their moods, bliss and dejection, anger and devotion. He is specially skilful in depicting the various stages of estrangement and reconciliation. It is remarkable how, with a subject so limited in situations and emotions so similar, the poet succeeds in arresting the attention with surprising turns of thought and with subtle touches which are ever new.

शैली की दृष्टि से भी अमरुक के श्लोक प्रसादपूर्ण कला के श्रेष्ठ निदर्शन कहे जा सकते हैं। कालिदास के समान ही उन्होंने भी वैदर्भी रीति को अपनाया है, लम्बे और कठिन समासो को यथासाध्य दूर रखने की चेष्टा की है और स्वाभाविकता सरसता एव सरलता का सर्वत्र ध्यान रखा है। भाषा का प्रवाह भी वैसा ही है। यही कारण है कि उनके कुछ श्लोक भाव और भाषा दोनो की दृष्टि से कालिदास के पद्यों से टक्कर ले सकते है और, जैसा कि कहा जा चुका है, उनके एक श्लोक का तो कुछ विद्वानो ने कालिदास के नाम से उल्लेख भी कर दिया है। कालिदास की शैली से समानता होते हुए भी अमरुक की शैली में कलात्मकता का पुट अधिक है। कालिदास की भाषा मे सहज स्वाभाविकता है तो अमरुक की भाषा मे नागरताजनित लचक। सरसता माधुर्य और प्रवाह दोनो मे हैं। कालिदास की भाषा का प्रवाह मातृभाषा के प्रवाह जैसा है और अमरुक की भाषा का प्रवाह प्रयोग और अभ्यास की सफ़ाई पर आधृत है। भर्तृहरि की अपेक्षा भी अमरुक की शैली अधिक परिष्कृत और पूर्ण है।[2] अमरुक ने शैली के परिष्कार में दो बातों का ध्यान रखा है—संगीत-सौन्दर्य का और भाषा की प्रौढता का। संगीत-सौन्दर्य की सृष्टि के लिये उन्होने छन्द की श्रव्यता पर बल दिया है। उनकी रचना में हतवृत्तता दोष खोजने पर भी न मिलेगा। शब्दों का चयन और विन्यास छन्द के गण-विधान की पूर्ति के अनुकूल ही नहीं भाषा के अन्त:संगीत को सुरक्षित रखते हुए और प्रवाह की कलकल ध्वनि को उत्पन्न

1. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३४२।
2. कीथ का इतिहास, पृष्ठ १८३।

करते हुए किया गया है। ध्वनि और नाद का ऐसा समन्वय बहुत ही कम कवियों में मिलता है। समरसता उनकी भाषा का प्राण है। इन सब विशेषताओं के कारण अमरुक का काव्य संस्कृत का आदर्श मुक्तक गीतिकाव्य बन गया। वस्तुतः जयदेव की भाषा के लालित्य का बीज-वपन अमरुक शतक में हो गया था।

संस्कृत साहित्य में अमरुक की स्थिति वही है जो हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में बिहारी की। दोनों ही शृंगारिक मुक्तककार है। बिहारी की ही भाँति अमरुक ने भी स्वाभाविकता की रक्षा के साथ कला का उच्चतम निदर्शन प्रस्तुत किया है। दोनों ने ही जीवन का एकाङ्गी चित्रण किया है। नागर समाज के चित्रण के प्रति दोनों की ही रुचि है। प्रेम के क्षेत्र की संकीर्णता और गहराई भी उभयत्र समान है। अलंकार, ध्वनि, रस, नायिका-भेद आदि का जैसा कलापूर्ण समन्वय बिहारी में है वैसा ही अमरुक मे भी। प्रसंग-योजना का कौशल और भाषा का प्राञ्जल स्वरूप भी उभयत्र द्रष्टव्य है। कामशास्त्रीय सिद्धान्तो की बारीकी से दोनों ही परिचित थे। मुक्तक शैली के विकास मे दोनों ने ही महान् योग दिया है। दोनों के ही विषय में कुछ विद्वानों की यह धारणा बन गई कि इनकी रचनाएँ रीतिविषयक उदाहरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से रची गयी हैं। बिहारी ने केवल एक सतसई द्वारा हिन्दी-साहित्य मे जो नाम कमाया वही अमरुक ने एक शतक लिखकर संस्कृत साहित्य में। दोनों ने ही परवर्ती कवियो को दूर तक प्रभावित किया है और दोनों के विषय में एकसी उक्तियाँ प्रचलित है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन मे छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥
*"अमरुककवेरेकः श्लोकः प्रबन्धशतायते"*

अमरुक और बिहारी की यह समानता आकस्मिक नहीं है, अमरुक के समय मे समाज की जो स्थिति थी वही बिहारी के समय में भी थी। नागर सभ्यता का जैसा ज़ोर अमरुक के समय मे था वैसा ही बिहारी के समय में भी। दोनों ही युगों मे समाज का संपन्न वर्ग विलासिता और छैलपन की ओर झुका हुआ था। अस्तु, इस युग के गीतिकाव्य का विश्लेषण करने पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१— प्रकृति-सौन्दर्य का स्थान पूर्णरूपेण नारी-सौन्दर्य ने ले लिया। नारी के अंग प्रत्यंगों के सौन्दर्य-चित्रण के अतिरिक्त विविध मुद्राओं, व्यापारों और अनुभावों के चित्रण की ओर कवि लोगों का अधिक झुकाव हुआ और उसके रमणी रूप ने ही पुरुष को अधिक आकृष्ट किया।

२— इस युग की प्रमुख देन है कामशास्त्रीय तत्त्वों का काव्य में समावेश। भरत मुनि ने नाट्यवस्तु की उपचारविधि का कामशास्त्र के अनुसार होना आवश्यक बतलाया था।[1] धीरे धीरे अन्य प्रकार के शृंगारी काव्यों पर भी काम-

१. उपचारविधि : सम्यक् कामशास्त्रसमुत्थितम् (नाट्यशास्त्र)।

शास्त्र का प्रभाव पड़ा। मुक्तक गीतिकाव्य पर यह प्रभाव सबसे अधिक पड़ा और कवियों ने अपने नायक को वात्स्यायन के 'नागरक' के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया। सुरतकालीन विभिन्न आसन, दूतीसम्प्रयोग आदि का कवियों ने दिल खोलकर समावेश किया।

३— नायक नायिकाओं की शृंगारिक चेष्टाओं का क्षेत्र संकुचित हो गया और नख शिख-वर्णन, मान, प्रसादन, सुरत आदि के वर्णन तक ही सीमित रहा।

४— देव-दम्पतियों की शृंगारिक क्रीड़ाओं की कल्पना की जाने लगी और उनके प्रेम का चित्रण पूर्णतया मानवीय धरातल पर किया जाने लगा।

५— धीरे धीरे कविता दिखावटी वस्तु बनती जा रही थी। उसमें तड़क-भड़क और चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति का सूत्रपात्र हो गया था।

## तृतीय उन्मेष

### विल्हण, गोवर्धन, धोयी

**पृष्ठभूमि—**

हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् भारतीय इतिहास में मध्ययुग का प्रारम्भ हो जाता है। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता थी सामन्त पद्धति का विकास। महाराजाधिराज की अधीनता मे अनेक छोटे बड़े सामन्त होते थे जो अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र शासक के रूप में शासन करते थे। इनके पास निजी सेना होती थी और अपना कोष होता था। यदि महाराजाधिराज निर्बल हो तो ये सामन्त पूर्णरूप से स्वतन्त्र होने की घोषणा कर देते थे। इससे स्पष्ट है कि महाराजाधिराज की वैयक्तिक क्षमता पर ही उसका उत्थान-पतन निर्भर था। इस पद्धति में सबसे बड़ा दोष यह था कि इससे विघटन की प्रवृत्तियों को बल मिलता था और इसके कारण राजशक्ति देश में स्थायी शान्ति रखने के लिए पर्याप्त सबल नहीं रह पाती थी। सामन्त प्रथा के कारण यह संभावना कम ही रहती है कि राज-शक्ति-धारण करने वाले लोग प्रजा के हित का विचार कर सकें। वे परस्पर युद्ध करके अपना उत्कर्ष स्थापित करने के प्रयत्न में ही रहते हैं। सर्व साधारण की दृष्टि से यह प्रथा अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर देती है।[1] इन राजाओं और सामन्तों में से अनेक ऐसे सशक्त भी हुए जिनके शासन काल में सुख-शान्ति रही। इस युग के कवियों और विद्वानों को प्रायः ऐसे ही राजाओं से संरक्षण प्राप्त था। इनमें से अनेक नरेश स्वयं भी अच्छे विद्वान् और कवि होते थे। राजा भोज के विद्या-व्यसन की कहानियाँ तो आज भी प्रसिद्ध हैं।

**रहन-सहन का स्तर**—साधारणतया लोगों के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा था। मेधातिथि द्वारा स्नापक, प्रसाधक, पाचक आदि अनेक पेशेवरों का उल्लेख[2] इसकी

---

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५३७–५३८।
2. मेधातिथिकृत मनुस्मृति की टीका, ६–७६–१४३।

पुष्टि करता है। अभिधानरत्नमाला मे प्रावरण, आविक, कूर्पास, चण्डातक आदि विभिन्न प्रकार के पहने जाने वाले वस्त्रो तथा नाटक, केयूर, ग्रैवेय नूपुर आदि अलंकारो के नाम मिलते हैं। उपमितिभवप्रपञ्चकथा मे चीनांशुक, पट्टांशुक, प्रावार, रल्लिका, वृहतिका आदि वस्त्रो का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध मे समसामयिक अरब लेखकों के उल्लेख भी द्रष्टव्य हैं। सुलेमान के अनुसार भारतीय स्त्री, पुरुष, स्वर्ण-कङ्कणों और रत्नो से अपना शृङ्गार करते थे। इब्नलफकीह ने कुण्डल और कङ्कणों का उल्लेख किया है। अबू जैद ने लिखा है कि भारतीय राजा लाल लाल और हरे रत्नो से जटित स्वर्णहार पहनते हैं और मोतियो को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इब्नहौकल कहता है कि गर्मी के कारण लोग उम्दा मलमल के वस्त्र पहनते हैं।[1] कुट्टनीमत मे एक राजपुरुष के युवा पुत्र का वर्णन है जो देहाती उच्चवर्गीय जागीरदार का प्रतिनिधित्व करता है। वह विभिन्न प्रकार के आभूषणो से सुशोभित है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग केसर से लिप्त हैं। अलकृत जूते और सोने के काम से युक्त वस्त्र उसकी पोशाक है और उसके साथ मे सेवकों का एक दल रहता है। वह पद्यो का अशुद्ध पाठ करता है, सगीत समारोह मे पास बैठे हुए बुद्धिमान् पुरुषो की बातो मे दखल देता हुआ विघ्नित किया है। वार्तालाप मे ही वह अपने पिता मे राजा के विश्वास की अभिव्यक्ति करता है। गीत को न समझता हुआ भी नर्तकियो की प्रशसा करता है।[2]

इसके विपरीत राजशेखर और क्षेमेन्द्र ने कवि के जीवन का जो चित्र दिया है वह वात्स्यायन के नागरक का प्रतिरूप प्रतीत होता है और राजशेखर के समय के उच्च नागरिक वर्ग के विलास-पूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार कवि का निवास-भवन किसी रमणीय स्थान पर नदी अथवा सरोवर के किनारे होना चाहिए। यह सभव न होने पर कृत्रिम जलाशय से भी काम चल सकता है। उसकी गृह-वाटिका विशेष रूप से सज्जित और व्यवस्थित होती थी। भवन के समीप ही सरोवर अथवा वापी मे मनोहर कमल खिले होते और धारायन्त्रो से वह सुशोभित होती थी। कवि का भवन शान्त, परिचारक वर्ग मौन सकेतो को भी समझने वाला, और अन्त पुर शिक्षित होता था। कवि की दिनचर्या मे गोष्ठी का भी उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि आधुनिक क्लबो की भाँति गोष्ठियाँ भी दैनिक जीवन में मनोरञ्जन का महत्त्वपूर्ण साधन थी।[3]

**स्त्रियों की दशा**—सामान्यत स्त्रियो की दशा गिरती जा रही थी। उनकी स्वतन्त्रता उत्तरोत्तर कम होती जा रही थी। धन व्यय करने और मनोरंजन आदि की उन्हे पूरी स्वतन्त्रता नहीं थी। मेधातिथि ने कहा है कि स्त्रियो का अपने अन्तःकरण पर ही अधिकार नही होता, उसे अपने पुरुष सरक्षको के अधीन ही रहना चाहिए। उनकी चञ्चलता की मेधातिथि ने आलोचना की है और उन्हें न्यायालय में

1. दी एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृष्ठ ३८३।
2. कुट्टनीमतम्, बनारसी स० १३६०, पृष्ठ १२–१५।
3. काव्यमीमांसा, १०म अध्याय।

साक्ष्य देने के अधिकार से वञ्चित किया है। यद्यपि अन्यत्र उसने स्वीकार किया है कि ऐसी स्त्रियाँ भी है जो ऐसी सच्ची और गम्भीर हैं जैसी वैदिक-कालीन विदुषियाँ।

स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा पर भी पहले युग के सदृश ध्यान नहीं दिया जाता था। फिर भी बहुत सी स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। राजशेखर ने स्त्री कवयित्रियों के सुने और देखे जाने का उल्लेख किया है। स्वयं उसकी स्त्री अवन्ति सुन्दरी अच्छी विदुषी थी।

**ह्रास का युग**—संस्कृत साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास के उपरान्त लक्षण-ग्रन्थों के प्रणयन और काव्य-शास्त्रीय चिन्तन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो गयी थी। अतः इस युग मे काव्य-शास्त्र की विशेषरूप से उन्नति हुई। ध्वनि, वक्रोक्ति और रस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा इसी युग मे हुई किन्तु संस्कृत अब जन-जीवन मे दूर दूरतर होती जा रही थी। यह प्राकृत और अपभ्रंश का युग था और संस्कृत अब केवल शिष्ट लोगों अथवा पण्डितों की भाषा रह गई थी। अतः अमरुक के पश्चात् संस्कृत गीतिकाल का इतिहास उसके ह्रास की कहानी है। इसका कारण था अनुकरण, परम्परा-पालन का आग्रह और पाण्डित्य-प्रदर्शन की लालसा।

काव्यकला को नवीन रूप देने वाली प्रतिभा का सचमुच अकाल सा पड गया था और कवि लोग बिना किसी घृणा के चर्वित-चर्वण मे लग गए थे। अपने पूर्ववर्ती सिद्ध कवियों से उन्होंने प्रेरणा के स्थान मे रूढ़ियाँ और भाव लिए; सूक्ष्म-निरीक्षण के स्थान मे ऊपरी सतह को देखा और अन्त.प्रेरित बहुमुखी भावधारा के स्थान मे पाण्डित्य-प्रदर्शन के औत्सुक्य का वरण किया। इसलिए आगे चलकर कवि कम हुए। हाँ, परम्परागत भावो और काव्यशास्त्रीय निर्देशो के साथ अपने पाण्डित्य को श्रम-साध्य शैली के माध्यम से पद्यों में व्यक्त करने वाले चमत्कार के बाजीगरो की कोई कमी नही रही। यह सब विकास नही कहा जा सकता। यदि काव्य-शास्त्री इसे ह्रास कहने मे हिचकिचाते हो तो भी कम से कम यह तो मानना ही पड़ेगा कि परम्पराओं की संकीर्ण परिधि मे बाँधकर काव्य के सतत प्रवहमान स्रोत को एक सरोवर का रूप दे दिया गया था जिसमें न तो रवानी ही थी और न ही जीवन की कलकल ध्वनि। लक्षणविशेष की शृङ्खला मे जकड़ जाने के कारण महा-काव्य और नाटक तो एक विशेष साँचे मे ढाले ही जा रहे थे। किन्तु रूढियों के प्रति कुछ इतना मोह कवियों को हुआ कि गीतिकाव्य में—और विशेषतया शृङ्गारिक गीतिकाव्य मे—भी, जिसमें वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यञ्जना के कारण नवीनता की अधिक गुञ्जाइश रहती है, स्थिति ज्यों की त्यों रही। भर्तृहरि और अमरुक ने जो सीमा निर्धारित कर दी थी उससे आगे शायद ही कोई गया हो, और इस संकुचित क्षेत्र मे भी उन्होंने जिस सूक्ष्म दर्शन और गहरी पैठ का परिचय दिया था उसे भी नये कवि न पा सके। १० वीं शताब्दी के पश्चात् तो ये प्रवृत्तियाँ साहित्य पर छा ही गईं।

1. मनुस्मृति की टीका (मेधातिथिकृत) ६/२-३, ८/७७; ८/६८।

यद्यपि इस युग में मौलिकता का असाधारण अभाव पाया जाता है तथापि इस युग के साहित्यकार साहित्यिक निपुणता से बिलकुल रिक्त नहीं थे। दुर्भाग्यवश वे दृढ रूढियों के शिकार हुए। परम्परा ने भाव, विचार, विषय और अभिव्यक्ति का यहां तक कि छन्द और शब्दावली का भी प्रतिमानीकरण (standardisation) कर दिया था। इस पुराण पन्थ का उद्देश्य कदाचित् एक प्रकार का साहित्यिक आचार स्थापित करना था। इसी लिए आचार शास्त्र की ही भाँति 'क्या कहना चाहिए, क्या नही कहना चाहिये, किस ढंग से कहना चाहिए' काव्यजगत् में किन नियमों के आधीन आचरण करना चाहिए आदि की व्यवस्था काव्यशास्त्रियों ने कर दी थी। इस व्यवस्था के मूल मे पुराने कवियों के अनुभव, प्रयोग और सफलताएँ थी। नवीन कवियों ने केवल उन्ही से लाभ उठाना चाहा किन्तु वे कविता के इस पूर्वनिर्मित साँचे में पुराने योग (formula) के अनुसार सामग्री डालकर यन्त्रसृष्ट कृतियो की सी एकरूपता ही उत्पन्न करने मे समर्थ हुए 'क्षणे क्षणे यन्त्रवतामुपैति' सौन्दर्य की सृष्टि न कर सके। आधुनिक रुचि की कसौटी को छोडकर जब हम स्वयं भी उक्त परम्पराओं के अनुसार इन कृतियों की परीक्षा करते हैं तो मानना पड़ता है कि अपनी सीमाओं में इस युग का कवि नि:सन्देह अपनी कला मे निष्णात है। उस की कृति जौहरी का जौहर और शिल्पकार का शिल्प एकत्र प्रस्तुत करती है जिसे नि संकोच एक पूर्णतया सस्कृत काव्यकला और प्रशिक्षित मस्तिष्क की उपज कहा जा सकता है। पिष्टपेषण करता हुआ भी वह अपने शब्दों और अलंकारों के कोष से एक सर्वथा नवीन ध्वनि और चमक की सृष्टि करता है। वाणी का सस्कार, उक्ति का वैचित्र्य, विविध विद्याओं का सामञ्जस्य, विलक्षण छन्दों का सगीत और अलंकृत शैली की बेगमों वाली चाल उसकी कविता को नया रूप-वैभव प्रदान करती है। किसी अन्य युग में—और शायद किसी अन्य साहित्य में भी—इतने अधिक काव्य नहीं लिखे गए जो सच्चे काव्य न कहला सकने पर भी अच्छे और बुरे दोनों अर्थों में कला-कृतियां कहे जा सकें। असाधारण पूर्णता और सावधान शिल्प के निदर्शनस्वरूप इतने अधिक काव्यों की रचना इस युग में हुई कि हार्दिक प्रशसा के योग्य न समझते हुए भी हम उनकी उपेक्षा नही कर सकते क्योंकि उपर्युक्त सीमाओं में भी बहुत से प्रगीत मुक्तक वास्तव में सरस और सुन्दर बन पड़े हैं[1]।

इस प्रकार इस युग में उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरी शताब्दी में एक ऐसा कवि-समुदाय उत्पन्न होता चला गया जो अपने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक रूढिवादी रहा और प्रशंसनीय होता हुआ भी गौण ही समझा गया। इन्होंने परम्परा का विस्तृत और सहज मार्ग अपनाया; भाव और बिम्बचित्रण के स्थान में बौद्धिक

1. The bloom is doubtless artificial, and the perfection is attained by careful culture; there is no rush of passion or tumult of style; but very often in the detached stanzas of the Anthologies, as well as in sustained works of lesser poets, we have rare and pleasing moments of charm, which we miss in the more ambitious and elaborately composed Kavyas. *S. K. Dey., Hist. of Sans. Lit. pp.* 366.

कला तथा उन्मुक्त कल्पना की प्रतिष्ठा की तथा विषय विचार और शैली की मौलिकता से शास्त्रीय निपुणता और पाण्डित्य को अच्छा समझा। प्रशिक्षित मस्तिष्क के लिए पहले से ही प्रस्तुत (ready-made) वस्तु, भाव, रूप-विधान (form) और पदावली के आधार पर काव्य में प्रभाव की सृष्टि करना अपेक्षाकृत आसान तो रहा किन्तु रचनाओं में आन्तरिक और बाह्य वैविध्य भी नकारात्मक हो गया। भाव, विचार, विशेषण, उपमान आदि सभी मे एकरूपता आयी जिससे बचने के लिए अस्वाभाविक टैकनिकल दक्षता या पाण्डित्य प्रदर्शन का आश्रय स्वाभाविक ही था। जिस प्रकार एक सुस्थिर यन्त्रव्यवस्था वाला सुयोजित उद्योग थोड़ी सी ही योग्यता से चालित होकर एक निश्चित ढंग की वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर कर सकता है उसी प्रकार काव्य रचनाओं का भी विशाल उत्पादन इस युग मे हुआ। अतः तत्कालीन रचनाओं का परिमाण उनकी श्रेष्ठता का द्योतक नही कहा जा सकता।

तत्कालीन साहित्य में कृत्रिमता का अधिकाधिक समावेश इसलिये भी हुआ कि जन-जीवन से उसका सम्बन्ध उत्तरोत्तर विच्छिन्न होता जा रहा था। वह उच्च वर्ग के सस्कृत समाज का दर्पण था जिसमें सामान्य रूप से मानव मात्र की रुचि का प्रतिबिम्बन प्रायः नहीं हो पाता था। इसलिए उसमें सार्वजनिक भाव, नैसर्गिक कल्पना, सहज सरलता, स्वतःस्फुटता और प्रत्यक्ष प्रभाव की कमी तथा गुरुडम परिष्कार और संस्कार की वृद्धि होती गई। इसका प्रणयन 'नागरक' समाज के लिए होता था जिसकी पदावली, विचारधारा, धारणा, रुचि और भावभूमि अपनी थी। साधारण जीवन की सच्ची वास्तविकताओं से दूर कृत्रिम वातावरण मे स्फुटित होने वाले काव्य में स्वाभाविक सरसता आती भी कैसे ?

यद्यपि प्राकृत साहित्य के साथ संस्कृत का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा। राजशेखर की संस्कृत और प्राकृत रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि वे एक कवि के द्वारा ऐसे जनसमाज के लिए लिखी गई थी जो दोनों ही भाषाओं और उनकी साहित्यिक परम्पराओ से परिचित था, तथापि प्राकृत काव्य भी अब किसी भी अर्थ में जनकाव्य न रह गया था। गाथासप्तशती मे ही यत्र तत्र उसके परम्परा-ग्रस्त होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। इस युग तक आते आते तो संस्कृत काव्य की परम्पराओं ने उसे भी पूर्णतया आच्छन्न कर लिया था और केवल भाषा को छोड़कर उसमें सस्कृत साहित्य की अपेक्षा कोई नवीनता नहीं थी। भाषा पर भी चमत्कारवाद का पूरा पूरा प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। कुछ अंशों तक यही बात अपभ्रंश के विषय में भी कही जा सकती है। आज जो भी अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध है उसकी अपनी कतिपय मौलिक विशेषताओं के ऊपर संस्कृत साहित्य की रूढ़ियों का आवरण पड़ा हुआ है। यह साहित्य भी समाज के विभिन्न अगों का प्रतिनिधित्व नहीं करता फिर भी समय समय पर कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश से आई। जैसे अन्त्य तुक और ध्रुवक देकर पद लिखने की प्रवृत्ति, किन्तु इसका भी बहुत ही सीमित प्रयोग संस्कृत में हुआ और जयदेव के आविर्भाव के समय तक लोक-साहित्य की कोई विशेष प्रतिक्रिया सस्कृत साहित्य पर दिखाई नहीं दी।

जयदेव ने जिस नवीन शैली की अवतारणा संस्कृत साहित्य में की थी उसका प्रभाव बहुत समय तक रहा किन्तु समूचे साहित्य को व्यापकता के साथ आवृत कर लेने की शक्ति इसमें नहीं थी। जो धारा तेजी के साथ अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी उसी में अधिकतर कवि बहते गए। विहङ्गम दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि संस्कृत का ही नहीं अपभ्रंश और हिन्दी का साहित्य भी बहुत कुछ रूढिग्रस्त रहा क्योंकि उसका स्फुरण भी इसी पतनोन्मुख संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि पर हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि एक सहस्त्राब्दी से भी अधिक समय की दीर्घ अवधि में काव्य के आन्तरिक और बाह्य रूपों में कोई बहुत भारी परिवर्तन नहीं हुआ। १९वीं शताब्दी में अंग्रेजी शासन और यूरोपीय साहित्य के सम्पर्क से भारतीय जीवन में नई समस्याएँ और नये विचारों का अविर्भाव हुआ तथा संस्कृत एवं आधुनिक भाषाओं के साहित्य मे रोमांटिक कला ने पदार्पण किया। नवीन वातावरण, नवीन प्रभाव और नूतन विषयों के साथ साहित्य की समृद्धि तीव्र गति से हुई पर संस्कृत मे रचना करने का रिवाज अब उठ चला था। कुछ ऐसे इने गिने व्यक्तियों में ही संस्कृत कविता के प्रति रुचि रह गई थी।

सारांश यह है कि ८वीं शताब्दी में संस्कृत गीतिकाव्य कला के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया और निश्चित नियमों के अनुसार बँधी हुई प्रणाली से गुजरने लगा था। दसवीं शताब्दी के पश्चात् तो उसमें गतिरोध ही उत्पन्न हो गया था। कवीन्द्र-वचन-समुच्चय तथा जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में इस युग के कवियों की जो रचनाएँ संगृहीत हैं उनमे भाव, भाषा, शैली, विषय और बहुज्ञता का प्रदर्शन सर्वत्र एकसा ही पाया जाता है। कला का प्राधान्य इन रचनाओं की प्रमुख विशेषता है।

## चौरपञ्चाशिका

इस प्रकार की अनेकानेक रचनाओं में से विल्हण के नाम से प्रसिद्ध चौर-पंचाशिका उल्लेखनीय है जिसके सम्बन्ध में डा० कीथ ने लिखा है—

The Vasantatilka stanzas depict with minute and often charming detail the past secnes of happy love, and possess elegance. ... there is sufficient variety in the ideas to prevent it becoming wearisome.

निःसन्देह इस रचना में कहीं कहीं प्रसङ्ग-विधान बड़ा ही स्वाभाविक और मार्मिक है जिससे कवि की अनुभूति की सचाई और ईमानदारी प्रमाणित होती है। मानिनी नायिका मान तथा प्रणय-प्रसाद का निर्वाह एक साथ इतनी कुशलता और स्वाभाविकता के साथ करती है कि नायक के हृदय मे उसके साथ ही उसका यह व्यापार भी बस जाता है—

> अद्यापि तन्मनसि सपरिवर्तते मे रात्रौ मयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या।
> जीवेति मङ्गलवचः परिहृत्य कोपात् कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपन्त्या॥

एकान्त में दर्पण देखती हुई विस्रब्ध नायिका को यदि अकस्मात् अपने साथ

नायक का प्रतिबिम्ब भी उसमें दीख पड़े तो उसकी दशा क्या हो सकती है, इसका एक सजीव चित्र लीजिए—

**अद्यापि तां रहसि दर्पणमीक्षमाणां संक्रान्तमत्प्रतिनिभं मयि पृष्ठलीने ।**
**पश्यामि वेपथुमतीं च ससंभ्रमां च लज्जाकुलां समदनां च सविभ्रमां च ॥**

इस रचना की शैली भी अपने युग मे प्रचलित शैली के विपरीत सरल, आडम्बरहीन तथा गीतिकाव्योचित है। विक्रमाङ्कदेवचरित के विषय में व्यूहलर की यह उक्ति कि "विल्हण के पद्य सरल, प्रवाहमय और सगीतमय है" चौर पञ्चाशिका पर भी पूर्णतया लागू होती है। विल्हण ने अपने कर्णसुन्दरी नाटक के अन्त मे 'सद्यो यः पथि कालिदासवचसाम्' कहकर कालिदास को अपना आदर्श माना है जिसे निबाहने में वे किन्ही अंशों में सफल भी हुए हैं। कथावस्तु और टैकनीक की दृष्टि से उनका नाटक कर्णसुन्दरी मालविकाग्निमित्र से बहुत कुछ मिलता जुलता है किन्तु चौरपञ्चाशिका और मेघदूत में केवल इतनी ही समानता है कि दोनों में विप्रलम्भ शृङ्गार की व्यञ्जना है। मेघदूत में प्रकृति और मानव के सम्बन्ध का जैसा सजीव चित्र उपस्थित किया गया है वैसा चौरपञ्चाशिका मे कहाँ। एक में वन्य, निर्झर का कलकल गान और जीवन की स्वतन्त्र गति है तो दूसरी में कृत्रिम वापी की साज-सज्जा और जीवन का आबद्ध स्वरूप। अतः ताडपत्रीकर का यह कथन कि पञ्चाशिका में विल्हण अपने अनुकार्य से बाजी ले गये है, चिन्तनीय है[1]। इस सम्बन्ध में कीथ के ये शब्द उल्लेखनीय है कि—

"It is highly probable that there is no personal experience, at all, in these lines, whose warmth of feelings undoubtedly degenerates into license."[2]

ताडपत्रीकर ने चौरपञ्चाशिका को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हुए लिखा है कि मेघदूत की अपेक्षा पञ्चाशिका की पृष्ठभूमि भी अधिक विशद और रोमाण्टिक है।[3] यदि यहाँ विशद और रोमाण्टिक से उनका तात्पर्य यह है कि विल्हण ने परकीया के केलिगृह और सुरतशयन के व्यापारों का खुलकर वर्णन किया है, जिनके कारण कीथ ने इस रचना को स्वच्छन्दता की ओर प्रवृत्त बताया है, तो उनसे हमारा कोई विरोध नहीं क्योंकि कालिदास की रचना में शृंगार का अत्यन्त सन्तुलित रूप मिलता है। किन्तु यदि इन शब्दों से उनका तात्पर्य जीवन के व्यापक क्षेत्र और शृङ्गार भावना के मार्मिक सौन्दर्य से है तो कहना पड़ेगा कि यह धारणा भ्रामक है और यह निर्णय देते हुए ताडपत्रीकर महोदय की दृष्टि से पूर्वमेघ, जिसका विवेचन पिछले अध्याय में हो चुका है, सर्वथा ओझल हो गया प्रतीत होता है। चौरपञ्चाशिका की खूबी वैदर्भी रीति के सफल अनुसरण में और उसकी सर्वप्रियता

1. वट इन पञ्चाशिका दी पोयट सीम्स टु हैव आउटडन हिज मास्टर बाई फार। (चौरपञ्चाशिका की भूमिका)
2. कीथ, क्लासिकल लिटरेचर, पृष्ठ १२०।
3. ताडपत्रीकर द्वारा सम्पादित चौरपञ्चाशिका की भूमिका।

तथा प्रशंसा का रहस्य शृङ्गार के नग्न वर्णन में है जो उस युग की अभिरुचि के अनुकूल था। ताडपत्रीकर ने स्वयं कहा है—

The poem often degenerates into license as stated by Keith. But in this very element lies the germ of the great popularity enjoyed by the small poem.[1]

चौरपञ्चाशिका में कोई ऐसी विशेषता दीख नहीं पड़ती जिसके आधार पर उसे परम्परा की लीक से अलग चलती हुई प्रमाणित किया जा सके। इस विषय में यदि कुछ कहा जा सकता है तो केवल इतना ही कि इसके प्रायः सभी पद्यों में शृङ्गारिक चेष्टाओं का क्षेत्र के लिभवन और शयन तक ही सीमित कर दिया गया है। शृङ्गार के केवल एक विशिष्ट पक्ष से सम्बद्ध विशेष व्यापारो और भावनाओं की अभिव्यक्ति सामान्य से विशेषीकरण की ओर अग्रसर होने का सबूत है। आगे के कवि नायिका के एक एक अङ्ग और चेष्टाओं के वर्णन मे विशेषज्ञता प्राप्त करने लगे जिससे रोमावली शतक जैसी रचनाओं का प्रादुर्भाव हुआ किन्तु यह प्रवृत्ति भी मूकपञ्चशती मे पहले ही अभिव्यक्त हो चुकी थी। सुरतखिन्न नायिका के वर्णन मे बिल्हण का मन अधिक रमा है। उदाहरणार्थ ४, ५, ७, १०, १२, १३, १५, १७ २१, २२ आदि पद्य द्रष्टव्य है।

तात्पर्य यह है कि पञ्चाशिका में नख-शिख वर्णन[2], सुरतव्यापार[3], कामशास्त्र के अनुसार रतिबन्ध[4], नख-चिह्न, दन्त-क्षत[5] आदि की पुरानी गाथा ही सुन्दर और सरल शैली मे गाई गई है। पीछे कहा जा चुका है कि कालिदास ने बहुत सी रूढियों को जन्म दिया था जिनका अनुसरण बाद के कवियों के लिए आवश्यक सा मान लिया गया। नायिका के मुख की गन्ध से भ्रमर का आकृष्ट होना भी ऐसी ही बात है। कालिदास की भ्रमरत्रस्त शकुन्तला को देखकर ही पञ्चाशिकाकार ने अपनी नायिका का यह चित्र चित्रित किया है—

अद्यापि तद्वदनपङ्कजगन्धलुब्धभ्राम्यद्द्विरेफचयचुम्बितगण्डदेशम्।
लीलावधूतकरपल्लवकङ्कणानां क्वाणो विमूर्च्छति मनः सुतरां मदीयम्।[6]

मेघदूत की प्रौढ़ कला के दर्शन पञ्चाशिका मे दुर्लभ हैं। ५० पद्यों के लघु कलेवर वाली इस रचना में भाव और शब्दावली का बार-बार पुनरावर्तन हुआ है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी और साथ ही ताडपत्रीकर के मत की परीक्षा भी हो जायगी—

१. अद्यापि तां कनकचम्पकदामगौरीं,

× × ×

---

1. चौरपञ्चाशिका की भूमिका।
2. श्लोक, १, २, ३, ७, १४, १६, २०, २३, ४६।
3. वही: ४, ५, १२, १७, २२, ४७।
4. वही, ४८।
5. वही, १३, १५, ३५ ४१ =
6. वही, ३४।

सुप्तोत्थितां मदनविह्वलसालसांङ्गीम् । (१)
*अद्यापि तां कनककान्तिमदालसाङ्गीम् । (४७)*

२. अद्यापि तां यदि पुन कमलायताक्षीं पश्यामि । (३)
*अद्यापि तां यदि पुनः श्रवणायताक्षीं पश्यामि । (६)*
*अद्यापि तां यदि पुनः चपलायताक्षीं ।*

३. अद्यापि तां मसृणचन्दनपङ्कमिश्र-
कस्तूरिकापरिमलोत्थविसर्पिगन्धाम् । (८)
*काश्मीरपङ्कमृगनाभिकृताङ्गरागां*
*कर्पूरपूगपरिपूर्णमुखीं स्मरामि । (८)*

४. अद्यापि मे निशि दिवा हृदयं दुनोति
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखं मम वल्लभायाः । (३२)
*अद्यापि निर्मलशरच्छशिगौर कान्ति*
× × ×
*वक्त्रं सुधामयमहं यदि तत्प्रपद्ये । (४६)*

५. अद्यापि तां क्षितितले वरकामिनीनाम् । (२४)
*अद्यापि तां प्रथमतो वरसुन्दरीणाम् । (२६)*

६. अद्यापि तां जगति वर्णयितुं न कश्चित्
शक्नोत्यदृष्टसदृशीं च परिग्रहं मे । (३८)
*अद्याप्यहो जगति सुन्दरलक्षपूर्णे*
*अन्योन्यमुत्तमगुणाधिकसंप्रपन्ने ।*
*अन्याभिरप्युपमितुं न मया च शक्यम् ।*
*रूपं तदीयमिति मे हृदये वितर्कः । (४३)*

७. अद्यापितद्वदनपङ्कजगन्ध० । (६)
*अद्यापि तत्कमलरेणुसुगन्धि वक्त्रम् । (४२)*

८. पश्यामि मन्मथशरानलपीडिताङ्गीम् । (१)
*कान्तां स्मरामि कुसुमायुधबाणखिन्नाम् । (२४)*

९. अद्यापि तां निधुवनक्लमनिःसहाङ्गी-
मापाण्डुगण्डपतितालक-कुन्तलालिम् । (४)
*अद्यापि तां सुरतघूर्णनिमीलिताक्षीं,*
*स्रस्ताङ्गयष्टिगलितांशुककेशपाशाम् । (२२)*

तथा

*व्यालोलकुन्तलकलापवतीं स्मरामि । (७)*

१०. तां वल्लभामलसहंसगतिं स्मरामि । (१४)
*तां राजहंसगमनां सुदतीं स्मरामि । (१६)*

११. शृङ्गारसारकमलाकरराजहंसीम्
क्रीडाविनम्रवदनां सुमुखीं स्मरामि । (५)
*शृङ्गारवारिरुहकाननराजहंसीं*
*जन्मान्तरेऽपि निधनेप्यनुचिन्तयामि । (२२)*

१२. सौन्दर्यनिर्जितरतिद्विजराजकान्ति । (२६)
*लावण्यनिर्जितसुधाशयचन्द्रकान्ति । (३२)*

१३. पीयूषपूर्णकुचकुम्भयुग वहन्तीम् । (२३)
*उत्तुङ्गसंभृतसुधास्तनकुम्भयुग्माम् । (४६)*

१४. नानाविचित्रकृतमण्डनमावहन्तीम् । (१६)
*नानाविचित्रकृतमण्डनमण्डिताङ्गीम् । (४६)*

१५. अन्योन्यचञ्चुपुटचुम्बनलग्नपक्ष्म-
युग्माभिरामनयनां शयने स्मरामि । (८)
*अङ्गाङ्गसङ्गपरिचुम्बनमग्नमोहाम्*
*तां जीवनौषधिमिव प्रमदां स्मरामि । (४७)*

## निष्कर्ष

ये उदाहरण इस तथ्य के प्रमाण है कि चौरपञ्चाशिका भी, जिसकी ताडपत्रीकर ने इतनी प्रशसा की है और जो अपने युग की सर्वप्रसिद्ध और श्रेष्ठ समझी जाने वाली रचना है, गीति काव्य के ह्रास की ओर ही संकेत करती है। मेघदूत में भावनाओ की अवतारणा के लिये जो पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है, कला का जैसा विशद और प्रौढ रूप उसमे मिलता है ऐसा चौरपञ्चाशिका में कहाँ ? भर्तृहरि और अमरुक की सूक्ष्मदृष्टि का भी उसमे अभाव है।

इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता जो आगे चलकर शृङ्गारिक गीतिकाव्य में और भी अधिक उभरकर सामने आयी, यह है कि इसमें वर्ण्यविषय का क्षेत्र बहुत संकुचित कर दिया है। पूरी रचना में शृङ्गार की जिन चेष्टाओं और व्यापारों का चित्रण है वे केलिशयन और केलिगृह से बाहर नही जातीं। यह प्रवृत्ति आगे चलकर इतनी विकसित हुई कि नायिका के एक एक अग अथवा भाव को लेकर सौ सौ या इससे भी अधिक पद्यों की स्वतन्त्र रचनाएँ लिखने की परिपाटी चल पड़ी। इस प्रकार सामान्य से विशेषीकरण की प्रवृत्ति को चौरपञ्चाशिका ने बहुत कुछ आगे बढ़ाया।

## आर्यासप्तशती

आचार्य गोवर्धन ने संस्कृत के मुक्तककोशों की परम्परा को छोड़कर सीधे गाथासप्तशती को अपना आदर्श बनाया। संस्कृत के कवियों में मुक्तकों को अधिकतर सौ की संख्या में बाँधने की प्रणाली थी। वैसे कुछ अष्टक, और पञ्चाशिकाएँ भी उपलब्ध थीं। मूक पञ्चशती के नाम से भी एककृति मौजूद थी। किन्तु गोवर्धनाचार्य ने

इनसे प्रेरणा न लेकर सीधे गाथासप्तशती से ही नाता जोड़ा फिर भी वे अपनी कृति को मॉडल के अनुसार बना नहीं सके। उसकी आत्मा और शरीर दोनों ही अपने समय की विशेषताओं का सच्चे अर्थ मे प्रतिनिधित्व करते हैं। डा० एस० के० डे के शब्दों में "कुछ अंशों में उसे सफलता प्राप्त हुई है किन्तु आर्या छन्द के कुछ अनफिट से माध्यम के कारण पद्य रुक रुक कर चलते प्रतीत होते है और काव्य की अपेक्षा कला की दक्षता ही अधिक प्रकट करते है। उनमे हाल के शब्दचित्रों की सरसता नहीं है"

(He attains a measure of success, but the verses, moving haltingly in the somewhat unsuitable medium of sanskrit Arya metre, are more ingenious than poetical and lack the flavour, wit and heartiness of Hala's miniature word-pictures.)

गोवर्धनाचार्य ने स्वयं अपनी रचना की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में वे कहते है—

मसृणपदरीतिगतयः मज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः।
मदनाद्वयोपनिषदो विशदा गोवर्धनस्यार्या।[2]॥

और अन्त मे एक से सात तक की गिनती गिनाकर अपने पद-विन्यास-चातुर्य का परिचय देते हुए लिखते है—

एका ध्वनिद्वितीया त्रिभुवनसारा स्फुटोक्तिचातुर्या
पञ्चेषुषट्पदहिता भुवा श्रवणस्य सप्तशती ॥[3]

जयदेव ने भी गीतगोविन्द के प्रारम्भ मे गोवर्धनाचार्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें शृङ्गार का अनुपम कवि बताया है—

शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।

परन्तु जैसा कि डा० डे ने कहा है, आर्यासप्तशती में उच्चकोटि के कवित्व का दर्शन नहीं होता। नवीनता की बात तो जाने दीजिए, पूर्ववर्ती कवियों द्वारा वर्णित प्रसंगों का भी उचित निर्वाह गोवर्धनाचार्य नहीं कर सके। सबसे बड़ी कमी जो निश्चित रूप से गीतिकाव्य के महान् ह्रास की सूचना देती है, भावनाओं का अनौचित्य और शैली की कृत्रिमता है और ये दोनों ही बातें गीतिकाव्य के स्वभाव के विरुद्ध है। देवदम्पती के शृङ्गारवर्णन की परिपाटी तो बहुत दिनों से चली आ रही थी किन्तु आर्याकार ने अपने लम्बे मङ्गलाचरण मे इसके प्रति अधिक अभिरुचि दिखाई है। पार्वती और लक्ष्मी की विपरीत रति का खुले शब्दों में उन्होंने वर्णन किया है—

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ ३७१।
२. सप्तशती ५१।
३. वही ६९९।
४. गीत गोविन्द १४।

उन्नालनाभिपङ्केरुह इव येनावभाति शंभुरपि ।
जयति पुरुषायितायास्तदाननं शैलकन्यायाः ।[1]
तल्पीकृताहिरगणितगरुडो हाराभिहतविधिर्जयति
फणशतपीतश्वासो रागान्धाया श्रियः केलिः ।[2]

विपरीतरतासक्त विष्णु और लक्ष्मी के बीच मे बेचारे विधि को पिसवाने की आचार्य जी को खूब सूझी ।

चौर्यरत की यह पराकाष्ठा भी द्रष्टव्य है—

गुरुगर्जितसान्द्रविद्युद्भयमुद्रितकर्णचक्षुषां पुरतः ।
बाला चुम्बति जारं वज्रादधिको हि मदनेषुः २०२।।

कामिनी गम्भीर गर्जन के साथ चमकती हुई विद्युत् से कानों और आँखों को मूंद लेने वाले लोगो के सामने ही जार को चूम रही है । काम का वाण वज्र से भी अधिक होता है ।

श्रोणी भूमावङ्के प्रियो भयं मनसि पतिभुजे मौलिः ।
गूढश्वासो वदने सुरतमिदं चत्तृणं त्रिदिवम् ।[3]

यदि ऐसा सुरत प्राप्त हो जिसमे पति के हाथो मे सिर, मन में भय, पृथ्वी पर नितम्ब-स्थल और अङ्क मे प्रियतम हो तो स्वर्ग तिनके के समान है । भर्तृहरि ने तो कान्तासङ्ग को ही स्वर्ग माना था किन्तु गोवर्धन ने यह स्वर्ग से भी ऊँची वस्तु साहित्य को दी है ! किसी जार से अनुराग रखने वाली नायिका की यह कामना भी देखिए—

तिमिरेऽपि दूरदृश्या कठिनाश्लेषे च रहसि मुखरा च ।
शंखमयवलयराजी गृहपतिशिरसा सह स्फुटतु ।।[1]

भगवान् करे यह शखों से बने कगनों की पंक्ति जो अधेरे मे भी दूर से दिख जाती है, बजकर एकान्त को मुखरित करती है और आलिङ्गन मे चुभ जाती है, घर वाले के सिर के साथ फूट जाये । इस अमङ्गलाश्लील गाथा से किस पञ्चेषुषट्पद को रस की प्राप्ति हो सकती है ।

इन रतासक्त नायक नायिका की सज्जनमैत्रीसदृश श्रोणीमैत्री का यह चित्र देखकर किसे लज्जा न आयेगी ?

बीजयतोरन्योन्यं यूनोर्वियुतानि सकलगात्राणि ।
सन्मैत्रीव श्रोणी पर निदाघेऽपि न विघटिता ।[5]

एक अन्य उदाहरण लीजिए—

प्रेतः प्रशस्तसत्त्वा साश्रु वर्कैर्वीक्षिता स्खलद्ग्रासैः ।
चुम्बति मृतस्य वदनं भूतमुखोल्केक्षितं बाला ।[6]

1. आर्यासप्तशती १८ ।
2. वही १४ ।
3. ,, ५६८ ।
4. आर्यासप्तशती २७४
5. ,, ५२० ।
6. ,, २६७ ।

जिस समय भूतों के मुख की उल्का के प्रकाश में बाला ने मृतक (प्रिय) का मुख चूमा तो प्रेतों ने भी उसके साहस की सराहना की और अश्रुपूर्ण नेत्रों वाले भेड़िये भी गिरते हुए मुख-कमलों के साथ उसे देखते रह गये।

अन्तिम दो अक्षरों तक पहुँचने से पहले समस्त आर्या भूत के मुख से निकलती हुई उल्का के प्रकाश में शव के मुख का आस्वादन करती हुई किसी डाकिनी, अथवा चुड़ैल के श्मशान विहार का वर्णन करती हुई प्रतीत होती है। बाला शब्द के आने के बाद भी मृत शब्द सामान्य 'मुर्दे' का ही वाचक सिद्ध होता है क्योंकि उसके साथ प्रियस्य आदि विशेषण भी नहीं हैं। भयानक, बीभत्स और करुण की इतनी सामग्री के साथ शृङ्गारसाधना ! वास्तव में गोवर्धनाचार्य की बाला जैसी बाला न कहीं देखी और न कहीं सुनी। सचमुच शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न श्रुतः !

इस प्रकार के उदाहरण आर्यासप्तशती में दो चार ही नहीं बहुत से हैं। *गाथासप्तशती का अनुकरण करने के कारण यह काव्य कभी कभी नगर की संकीर्ण* परिधि से ग्रामों की ओर निकल कर साधारण जीवन को भी देखता है—

> एरण्डपत्रशयना जनयन्ती स्वेदमलघुजघनतटा।
> धूलिपुटीव मिलन्ती स्मरज्वरं हरति हलिकवधूः।[1]
> दलिते पलालपुञ्जे वृषभं परिभवति गृहपतौ कुपिते
> निभृतनिभालितवदनौ हलिकवधूदेवरौ हसतः।[2]

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आर्याकार अपने युग की कूपमण्डूकता का पूर्णतया त्याग कर चुके थे। वास्तव में ये प्रसङ्ग अनुकरणमात्र के आग्रह का फल हैं। जहाँ कहीं उन्होंने स्वतन्त्र उद्भावना की है वहाँ नागरता का स्वर ही प्रधान है और ग्रामीण आचारों पर प्रशंसा के पुष्प नहीं चढ़ाए व्यंग का कीचड़ ही उछाला है—

> ऋषभोऽत्र गीयते इति श्रुत्वा स्वरपारगा वयं प्राप्ताः।
> को वेद गोष्ठमेतद् गोशान्तौ विहितबहुमानम्।।

यह सुनकर कि यहाँ ऋषभ-गान होता है, हम स्वरज्ञ यहाँ आये थे पर कौन जानता था कि यह गायों का बाड़ा है जहाँ ऋषभ-गान को नहीं, वृषभ गान को बहुत माना जाता है। इस संकुचित क्षेत्र में कहीं-कहीं प्रसङ्ग-योजना में स्वाभाविकता और नवीनता भी है। देवमन्दिर में पूजा के लिये आए हुए नायक-नायिका का प्रथम दर्शन पारस्परिक पूजा में पर्यवसित हो गया और देव-प्रतिमा पर चढ़ाया जाने वाला पुष्प प्रेम-प्रतिमा का उपहार बन गया—

१. आर्यासप्तशती १४४
२. ,, ३०२
३. ,, १४१

सुरभवने तरुणाभ्यां परस्पराकृष्टदृष्टिहृदयाभ्याम् ।
देवार्चनार्थमुद्यतमन्योन्यस्यार्पित कुसुमम् ॥[1]

अनुभावों की अभिव्यक्ति भी कहीं-कहीं बड़ी सुन्दरता के साथ की गई है। अप्रस्तुत-विधान की समग्रता, यथार्थता और वक्तव्यानुकूलता अनुभूति को साकार करने में सर्वथा समर्थ है—

त्वयि लपति पथि दृष्टिः सुन्दर वृतिविवरनिर्गता ।
वरतरलभिन्नशैवलजाला शफरीव विस्फुरति ॥[2]

नारी के कामिनी रूप से ही नहीं, अन्य रूपों से भी आर्याकार परिचित थे—

तल्पे प्रभुरिव गुरुरिव मनसिजतन्त्रे श्रमे भुजिष्येव ।
गेहे श्रीरिव गुरुजनपुरतो मूर्तेव सा व्रीडा । २५७

वह शयन में स्वामिनी, काम-कला में गुरु, श्रम (कार्य) में दासी, घर में लक्ष्मी और गुरुजनों के समक्ष साक्षात् लज्जा सी लगती है।

आवरण रन्ध्र में से नायक को औत्सुक्य देखती हुई दृष्टि की चपलता ही शैवाल की प्रबलता के कारण स्वल्प स्पन्दन करने वाली शफरी के उपमान द्वारा मूर्तिमती हो उठी है और नायिका की मनः स्थिति की भी सहज अभिव्यक्ति हो गयी है। लेकिन इस ढर्रे के प्रसङ्ग और कल्पनाएँ बहुत ही कम हैं। अधिकांश रचनाओं में वही कामकला का पुराना पचड़ा गाया गया है और विविध विद्याओं के ज्ञान के साथ-साथ शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न कर युग-प्रवृत्ति का परिचय दिया गया है।

सव्रीडा नखरदनार्पणेषु कुपिता प्रगाढमचिरोढा ।
बहुयाञ्चाचरणग्रहसाध्या रोषेण जातेयम् ॥ ६६१

श्लेष-प्रधान श्रम-साध्य कृत्रिम शैली आर्यासप्तशती में सर्वत्र व्याप्त है। अप्रस्तुत-विधान में कवि का उद्देश्य वर्ण्यवस्तु के धर्म, रूप आदि का प्रभाव और बिम्बग्रहण कराना नहीं अपितु अपनी बहुज्ञता तथा शक्ति का परिचयमात्र देना रहा है। तभी तो कहीं तो नायिका को अपभ्रंश भाषा के समान बना दिया है[3] और कहीं लोक को छन्दःशास्त्र के समान।[4] कहीं विरहिणी को गीति[3] के समान तो कहीं स्वाधीनपतिका को गन्ने (इक्षुयष्टि) के समान।[4] इस प्रकार के चमत्कारों से आर्यासप्तशती आदि से

1, आर्या सप्तशती ६५७।
2. ,, २६७।
3. न सवर्णो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः ।
बाला त्वद्विरहापदि जातापभ्रंशभाषेव ॥ ३४२ ॥
4. यत्रार्जवेन लघुता गरिमाणं यत्र वक्रता तनुते ।
छन्दःशास्त्र इवास्मिँल्लोके सरलः सखे किमस्ति ॥ ४८४ ॥
3. नागर ! गीतिरिवासौ अप्रस्थित्यापि भूषिता सुतनुः । ३२३ ।
4. किं पर्वदिवसमार्जितदन्तोष्ठि निजं वपुर्न मण्डयसि ।
स त्वां त्यजति न पर्वस्वपि मधुरामिक्षुयष्टिमिव, १६१ ।

अन्त तक भरी पड़ी है।[5] निम्नलिखित गाथा में 'सानुमत्या' शब्द तीन-तीन अर्थ (अनुमतिसहित, शिखर वाली और अप्सराविशेष) देता हुआ नायिका, पर्वतभूमि और स्वर्ग की विशेषता प्रकट कर रहा है—

तव सुतनु सानुमत्या बहुधातुर्जनितनितम्बरागायाः।
गिरिवरभुव इव लाभेनाप्नोमि द्वयङ्गुलेन दिवम् ॥ २४६ ।

'स्वर्ग दो अंगुल रह जाता है' मुहावरे का प्रयोग भी लगे हाथ कर दिया गया है। यह सब कवि के असाधारण भाषाधिकार और कल्पना-शक्ति को तो अवश्य प्रकट कर देता है किन्तु नायिका के सौन्दर्य का प्रभाव, जो कवि का मूल उद्देश्य था, इससे रंचमात्र भी द्योतित नहीं होता। आगे चल कर हिन्दी के रीतिकालीन कवि सेनापति ने भी ऐसी शब्द-करामात दिखाई जिससे ग्रीष्म ऋतु वर्षा बन गई और नायिका रूई का ढेर या रजाई! बेचारे सेनापति का क्या कुसूर "महाजनो येन गतः स पन्थाः।" संस्कृत के कवियों ने यह पथ पहले ही प्रशस्त बना दिया था।

आर्यासप्तशती का एक द्रष्टव्य वैशिष्ट्य, जो उससे पहले की रचनाओं में बहुत कम दीख पड़ता है, यह है कि उसमें अन्योक्तियों का शृङ्गारपरक प्रयोग कुशलता तथा बहुलता के साथ हुआ है। इससे पहले अन्योक्तियाँ प्रायः नीतिविषयक कथनों के लिये उपयुक्त समझी जाती थीं किन्तु गोवर्धनाचार्य ने शृङ्गारात्मक सन्दर्भों में भी उनका सफलतापूर्वक प्रयोग किया है—यद्यपि गाथासप्तशती में भी कुछ अन्योक्तियाँ इस प्रकार की हैं तथापि उनको व्यापकता प्रदान करने में गोवर्धनाचार्य का बड़ा हाथ है, किन्तु कला-प्रसाधन और शब्द-वैचित्र्य ने उनका पीछा इस क्षेत्र में भी नहीं छोड़ा—

कालक्रमकमनीयक्रोडेयं केतकीति का शंसा।
वृद्धिर्यथायथास्यास्तथा तथा कण्टकोत्कर्षः ॥[6]

शैलीगत क्लिष्टता, समासभूयस्त्व आदि तो इस युग की विशेषताएँ ही थीं :—

चलकुण्डलचलदलकस्खलदुरसिजवसनसज्जदृग्युगलम्।
जघनभरालसमकुणितनयनमिदं हरति गतमस्याः ॥[7]

इस बात के संकेत मिलते हैं कि गोवर्धनाचार्य प्राकृत काव्य के अतिरिक्त अपभ्रंश भाषा और साहित्य के भी प्रशंसक थे। अपभ्रंश के गीतों को संस्कृत विद्वानों की मण्डली में शायद मान्यता प्राप्त नहीं थी किन्तु आर्याकार ने उनकी भावात्मक महत्ता को स्वीकार किया है यह बात इस आर्या से स्पष्ट प्रकट होती है—

ग्रन्थिलतया किमिक्षोः किमपभ्रंशेन भवति गीतस्य।
किमनार्जवेन शशिनः किं वारिद्र्येण दयितस्य ॥ २१४ ॥

---

5. उदाहरणार्थ देखिये आर्या सं० २३७, २४१, ४८३, ६४४, ६५४, ६५६, ६७५, ६६१ आदि।

6. आर्या १५१।

'गांठ से गन्ने का, अपभ्रंश से गीत का, वक्रता से चन्द्रमा का और दरिद्रता से प्रियतम का क्या घट जाता है? फिर भी इन गीतों से उन्होंने कोई प्रेरणा नहीं ली। यह कार्य उनके समसामयिक कवि जयदेव ने किया और संस्कृत-गीतिकाव्य मे एक नयी पद्धति की प्रतिष्ठा की।

जयदेव ने गीतगोविन्द के प्रारम्भ मे ही धोयी कवि का उल्लेख भी किया है। लक्ष्मणसेन की सभा मे जयदेव, गोवर्धन, धोयी, उमापति और शरण प्रसिद्ध कवि थे जिनमे प्रथम तीन बहुत ही विख्यात थे। गोवर्धनाचार्य ने गाथासप्तशती के अनुकरण पर आर्यासप्तशती लिखी, धोयी ने मेघदूत के अनुकरण पर पवनदूत और जयदेव ने सर्वथा मौलिक शैली मे गीतगोविन्द। पिछले पृष्ठो मे कहा जा चुका है कि इस युग मे निश्चित मार्ग पर चलने अथवा अनुकरण करने की प्रवृत्ति प्रधान हो गई थी। छुट-पुट मुक्तको मे तो यह प्रवृत्ति बहुत पहले से चली आ रही थी किन्तु गोवर्धनाचार्य ने एक पूरे मुक्तककोश के अनुकरण पर अपना मुक्तककोश प्रस्तुत किया और शृङ्गारिकसप्तशतीरचना की रूढि को दृढता प्रदान की। यद्यपि संस्कृत मे यह प्रवृत्ति अधिक नही चली किन्तु हिन्दी के कवियो को इसने बहुत प्रभावित किया। बिहारी ने, अपनी सतसई की रचना गाथासप्तशती के ही आधार पर की और इसके बाद तो मतिराम, विक्रम, रामसहाय आदि अनेक कवियो की सतसइयों का प्रणयन हुआ और संस्कृत मे विश्वेश्वर और परमानन्द ने अपनी सतसइयाँ लिखी। विश्वेश्वर की आर्यासप्तशती गोवर्धन की कृति का असफल अनुकरण है और परमानन्द की सप्तशती बिहारीसतसई का दोहाबद्ध अनुवाद है। इस प्रकार गोवर्धनाचार्य ने सप्तशती लिखने का सूत्रपात चाहे न किया किन्तु इस परम्परा को पुष्ट अवश्य किया। हिन्दी के सतसईकारों ने आर्या के अनुकरण पर ही दोहा छन्द को शृङ्गारवर्णन तथा नीतिविषयक उक्तियो के लिए चुना। आर्या ५७ मात्राओं का छन्द है और दोहा ४८ मात्राओं का हिन्दी की प्रारम्भिक रचनाओ मे शृङ्गार वर्णन के लिये प्रायः बड़े-बड़े छन्दों को अपनाया जाता था। १५वी शताब्दी के कृपाराम ने अपनी हिततरङ्गिणी में लिखा है—

बरन्यौ कवि सिंगार रस छन्द बड़े बिस्तार।
मैं बरनौं दोहान में यातें सुघर विचार॥

गोवर्धनाचार्य से पहले संस्कृत मे भी शृङ्गारिक मुक्तकों की रचना प्रायः बड़े-बडे छन्दो मे ही होती थी। उन्होंने गाथासप्तशती के अनुकरण पर संस्कृत का छोटा सा छन्द आर्या अपनी कृति के लिये चुना तो हिन्दी के कवियो ने उनके अनुकरण पर हिन्दी का छोटा-सा छन्द दोहा अपनाया। इस प्रकार गोवर्धन गीतिकाव्य में एक विशिष्ट रूढि के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं।

संक्षेप मे आर्या-सप्तशती के सम्बन्ध मे हमारे निष्कर्ष ये हैं :—

१— आर्यासप्तशती ने सतसई परम्परा के प्रवर्तन में महत्त्वपूर्ण योग दिया। गाथा सप्तशती के अनुकरण पर यह सर्वप्रथम मुक्तक कोश है।

1. देखिये आर्या, २२६, २२४, ।५३६२७१, २८६, २६०, ,२६२ ५५६, ,५६५ ।

२— देवदम्पतियों की शृङ्गार-केलियों का नग्न वर्णन करने की परम्परा को, जिसका सकेत गाथासप्तशती में प्राप्त होता है, गोवर्धनाचार्य ने पुष्ट किया और ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व, शास्त्र तथा आचार विरुद्धता आदि दोषों की परवाह न करते हुए परकीया-प्रेम के वर्णन में भद्दी रुचि का प्रदर्शन किया जिसका प्रभाव न केवल संस्कृत के उत्तरवर्ती कवियों पर अपितु हिन्दी के रीतिकालीन कवियों पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा।

३— पाण्डित्य तथा चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति जो अब तक प्रायः महाकाव्यों अथवा प्रहेलिका बिन्दुमती जैसे कूट मुक्तकों में ही देखी जाती थी, शृङ्गारिक मुक्तकों में भी दीख पड़ी।

४— संस्कृत में शृङ्गारिक मुक्तकों के लिखने के लिये अब तक बड़े-बड़े छन्द ही प्रयुक्त होते किन्तु गोवर्धन ने गाथा सप्तशती के अनुकरण पर ही आर्या जैसे छोटे से छन्द का प्रयोग करने की परम्परा डाली।

## दूतकाव्य (प्रबन्ध गीति)

जिस प्रकार गोवर्धन ने सप्तशती-लेखन की परम्परा मे एक नया अध्याय जोड़ा उसी प्रकार धोयी कवि ने भी मेघदूत के अनुकरण पर पवन दूत की रचना कर दूतकाव्य-परम्परा को बल दिया। पवनदूत से पहले की इस ढंग की कोई अन्य रचना उपलब्ध नही। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कालिदास के एक सहस्राब्दी से भी अधिक बाद उनके अनुकरण पर केवल इसका प्रणयन हुआ और फिर ४–६ शताब्दी के ही भीतर इस ढग के लगभग पचास दूतकाव्यों की सृष्टि हुई तो इस परम्परा को पुनः प्रारम्भ कर अपने परवर्ती कवियों का पथप्रदर्शन करने में धोयी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान मानना पड़ेगा और यह कहना असङ्गत न होगा कि यद्यपि दूतकाव्य परम्परा के मूलप्रवर्तक कालिदास हैं तथापि उसको पुनर्जीवन प्रदान कर अन्य कवियों को भी इस पथ पर प्रवृत्त होने के लिये उत्साहित करने का कार्य धोयी ने ही किया। इस दृष्टि से धोयी का बड़ा भारी महत्त्व है। गोवर्धन की आर्यासप्तशती ने संस्कृत-साहित्य की अपेक्षा हिन्दी-साहित्य को अधिक प्रभावित किया। संस्कृत में उसके अनुकरण पर दो एक सप्तशतियाँ ही लिखी गई किन्तु धोयी ने जिस परम्परा को आगे बढ़ाया उस में एक दो ही नहीं पचासो नई कड़ियाँ जुड़ गई। स्वयं जयदेव ने जिस क्रान्तिकारी मार्ग को अपनाया था उस पर चलने वाले केवल एक दर्जन कवियों के ही नाम और कृतियाँ आज उपलब्ध है। मेघदूत और पवनदूत के तुलनात्मक अध्ययन से प्रकट हो जाता है कि भाव, भाषा, रीति और छन्द सभी की दृष्टि से धोयी ने कालिदास का अनुकरण किया है। कालिदास ने शिप्रा के वायु द्वारा आवन्तिका कामिनियों के सुरतखिन्न अङ्गों की क्लान्ति मेटने की बात कही है तो धोयी ने उरगपुर की वधुओं का सुरतश्रम मलयमरुतों से दूर कराया है—

> यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
> शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः। मेघदूत, १-३१॥

जहाँ (उज्जयिनी में) अङ्गों को सुहावना लगने वाला शिप्रा नदी की ओर से आया वायु रति-याचना करते हुए चाटुकार प्रिय के समान कामिनियों की सुरत जन्य थकान को दूर किया करता है।

सम्भोगान्ते श्लथभुजलतानि:सहानां वधूनां ।
व्याधुन्वन्तोऽनुचितकबरीभारमव्याजमुग्धम् ॥
अस्मिन् सद्यः श्रमजलनुदः सौधजालैरुपेत्य
प्रत्यासन्ना मलयमरुतस्तालवृन्तीभवन्ति ॥ पवनदूत ९

जहाँ सभोग के अन्त मे शिथिल-भुजा सुन्दरियों के केश भार को हिलाते हुए मलयमारुत गवाक्षों मे से भीतर आकर तालवृन्त का काम किया करते हैं।

अन्य उदाहरण लीजिए—

विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः । मेघ २-२७
प्रासादान्तः कमपि समयं सौम्य वक्तुं विविक्ते
देवं नीचैर्विनयचतुरः कामिनं प्रक्रमेथाः । पवन० १६
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः । मेघ० १-२९
ससर्पन्तीं प्रकृतिकुटिलां दर्शितावर्तचक्राम् । पवन०, ३४
स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तम् । मेघ०, ११९
हित्वा काञ्चीमविनयवतीभुक्तरोधोनिकुञ्जाम् । पवन०, १५
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि ।
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः । मेघदूत १-४१ ॥

('मित्र! वहाँ से तुम्हारा प्रस्थान जैसे तैसे विलम्ब से ही हो सकेगा। भला कौन रसज्ञ निर्वसन-जघना कामिनी का परित्याग कर सकता है?')

मन्ये मोक्षः कठिनसुरतायासलब्धस्य तूर्णं
दुष्प्रापस्ते पवन भविता चोलसीमन्तिनीभ्यः ।
के वा तासामलककरचनालोलनलीलसनाथे
गण्डाभोगे मलयजपयः पिच्छले न स्खलन्ति । पवनदूत, १४ ॥

'हे पवन ! चोल देश की वधुओं से तुम्हारा शीघ्र छुटकारा कठिन है। उनके मलयज-रस से सने कपोल फलकों पर कौन नहीं फिसल जाते ?

लब्ध्वा कण्ठप्रणयमथवा तादृशामङ्गनानां ।
शक्तस्त्यागे क इव भुवने चेतसा विप्लुतोऽपि । पवनदूत १० ॥

'संसार में कौन हृदयहीन भी ऐसी अङ्गनाओं का प्रेम पाकर परित्याग करने में समर्थ है'? यह सब कुछ होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि पवनदूत मेघदूत का गतानुगतिक अनुकरण मात्र है। कहीं कहीं कालिदास के भावों का अनुसरण करके भी धोयी ने अभिव्यक्ति की सर्वथा मौलिकता प्रकट की है। उदाहरण लीजिए—

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै- ।
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ।
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां ।
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः । मेघदूत, १८ ॥

पके हुए फलों से प्रकाशमान आम्रवनों से तटप्रदेश के ढके रहने से और चिकनी वेणी जैसे तुम से शोभित शिखर वाला वह आम्रकूट पर्वत आकाश में जाते हुए अमर-युगलों को ऐसा दीख पड़ेगा मानो पृथ्वी का मध्य में श्याम तथा अन्यत्र पाण्डुर वर्ण कुच हो।

क्रीडाशैलं भुजगनगरीयोषितां कौतुकं चेत्
सेतुं याया जलधिकरिणः शृङ्खलादामदीर्घम् ।
भाति स्नेहादवनितनया जीवनाश्वासहेतो-
र्लङ्काद्वीपं प्रहित इव यो बाहुरेकः पृथिव्याः । पवनदूत, १० ॥

"अगर कौतूहल हो तो तुम सेतु-अचल की ओर भी जाना जो उरगपुर की सुन्दरियों का क्रीडाशैल है और जलधिरूपी हाथी की दीर्घ शृङ्खला जैसा लगता है। वह ऐसा लगता है मानो अपनी पुत्री सीता को आश्वासन देने के लिये लंका की ओर बढ़ायी हुई पृथ्वी माँ की भुजा हो।

श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां ।
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात्किञ्चिदूनः । मेघदूत, २-२६ ॥

"वह ध्यानपूर्वक सन्देश सुनेगी क्योंकि मित्र द्वारा लाया हुआ प्रियतम का संदेश वधुओं के लिये मिलन तुल्य ही होता है।"

त्वत्तः श्रोष्यत्यवहितमनाः सोऽनुरक्ताङ्गनानां ।
जायन्ते हि प्रणयिनि सुधावीचयो वाचिकानि । पवनदूत, ६६ ॥

'वह सावधान हृदय से तुम्हारी बात सुनेगी क्योंकि बन्धुजन द्वारा लाये संदेश अनुरक्त सुन्दरियों के लिए अमृत की लहर हो जाते है।'

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः ।
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः ।
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् । मेघदूत २-११

अलकापुरी में अलकों से गिरे हुए मन्दार-पुष्पों, कानों से गिरे स्वर्ण-कमलों और उरोजों से टकराकर टूटे हुए हारों के मोतियों से सूर्योदय होने पर अभिसारिकाओं के रात के मार्ग का पता चलता है।

भ्राम्यन्तीनां तमसि निबिडे वल्लभाकाङ्क्षिणीनां ।
लाक्षारागाश्चरणगलिताः पौरसीमन्तिनीनाम् ॥
रक्ताशोकस्तबकललितैर्बालभानोर्मयूखै- ।
र्नालक्ष्यन्ते रजनिविगमे पौरमार्गेषु यत्र ॥ पवनदूत ४३ ॥

"वहाँ घोर अन्धकार में घूमती हुई अभिसारिका और वधुओं के चरणों से गिरा लाक्षाराग रात्रि व्यतीत होने पर सूर्य की रक्ताशोक के स्तबक तुल्य बाल किरणों के पड़ने से दिखाई नहीं देता।" धोयी की सबसे बड़ी मौलिकता यह है कि उन्होंने एक ऐतिहासिक व्यक्ति को अपने दूतकाव्य का नायक बनाया है। इस दृष्टि से उनका काव्य अपने ढंग का स्वयं ही है। अन्य किसी भी शृङ्गारिक दूतकाव्य में ऐसा नहीं किया गया। यद्यपि पवनदूत के ही नाम से वादिचन्द्र सूरि ने १७वीं शताब्दी में एक काव्य लिखा जिसमें उज्जायिनी के राजा विद्यानरेश ने एक गन्धर्व द्वारा अपहृत अपनी रानी के पास सन्देश भिजवाया है तथापि वह ऐतिहासिक नहीं है। उसका कथानक और पात्र सभी कल्पित है।

दूतकाव्य-रचना के अन्तर्गत समस्यापूर्ति की कला का भी बहुत विकास हुआ, समस्यापूर्ति के प्रधानतया दो रूप साहित्य में मिलते है। एक में श्लोक का पूर्वार्ध अथवा प्रथम तीन चरण दिये हुए होते हैं और उत्तरार्ध अथवा अन्तिम चरण की पूर्ति करनी पड़ती है और दूसरे मे इसके विपरीत श्लोक का अन्तिम चरण दिया हुआ होता है और अवशिष्ट तीन चरणों की पूर्ति की जाती है। इनमें भी दूसरे प्रकार की समस्यापूर्ति का अधिक प्रचार रहा है। समस्यापूर्ति की कला कामशास्त्र की चौसठ कलाओं मे परिगणित है। प्राचीन भारत के विनोदों में इसका उच्च स्थान था। बाण ने अपनी कादम्बरी मे इसका संकेत किया है। एक जनश्रुति के अनुसार कालिदास समस्यापूरण की कला में बड़े प्रवीण थे। भोजप्रबन्ध मे उनकी इस कला का ख्यापन करने वाली अनेक कथाएँ संगृहीत हैं। भोज के साथ कविकुलगुरू का सम्बन्ध जोड़ना अनैतिहासिक है। उनके सभासद् कालिदास रघुवंशकार से निश्चयपूर्वक भिन्न थे। कहा जाता है कि महाकवि कालिदास ने कुमारदास द्वारा एक गणिका के भवन की दीवार पर लिखे हुए निम्नलिखित श्लोक को देखा :—

कमले कमलोत्पत्तिः श्रूयते न च दृश्यते।[1]

और इसको इस प्रकार पूरा किया :

बाले तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम् ?[2]

इसी प्रकार मयूर के विषय मे भी प्रसिद्ध है कि वे एक बार नवीन श्लोक रचना करके औत्सुक्यवश उसे भोर के झुट-पुटे मे ही अपने बहनोई बाण को दिखाने के लिए उसके यहाँ पहुँचे। अपनी मानिनी पत्नी का अनुनय करते हुए बाण उस समय निम्नलिखित पंक्तियाँ बोल रहे थे—

गता प्रायः रात्रिः कृशतनु शशी शीर्यत इव।
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्तदपि न जहासि क्रुधमहो ॥[3]

1. कमल में कमल की उत्पत्ति सुनी तो जाती है पर देखी नहीं जाती।
2. हे सुन्दरी ! फिर तुम्हारे मुख कमल पर दो नील कमल कैसे ?
3. रात्रि प्रायः आ चुकी है, चन्द्रमा छिपने वाला है, यह दीपक भी नींद-वश ऊँघ-सा रहा है, मान की अवधि चरण-निपात तक ही तो होती है पर तुम अब भी क्रोध का त्याग नहीं कर रही हो।

चतुर्थ पाद बाण कह भी न पाये थे कि बाहर से मयूर ने उसकी पूर्ति की :

**कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि कठिनम्** [1]।

इस प्रकार समस्यापूर्ति की कला बहुत दिनों से विकसित होती चली आ रही थी और इसका क्षेत्र मुक्तक तक ही सीमित था किन्तु नवीं शताब्दी से इस ढग की रचनाएँ अधिक लिखी जाने लगीं और धीरे-धीरे प्रबन्ध काव्य को भी इस प्रवृत्ति ने अपना क्रीडाक्षेत्र बनाया। जैन आदिपुराण के रचयिता जिनसेन ने अपने पार्श्वाभ्युदय स्तोत्र के प्रत्येक पद्य मे कालिदास के मेघदूत की एक एक, एक दो-दो पंक्तियों को समस्यापूर्ति की पद्धति से समाविष्ट किया। इसके पश्चात् तो इस तरह के अनेक प्रयास हुए। यह सायोगिक बात है कि प्रायः जैन कवियों ने ही इस ढग की रचनाओं का प्रणयन किया। पार्श्वाभ्युदय दूतकाव्य नही है। जैसा कि कहा जा चुका है, दूतकाव्य-परम्परा मे मेघदूत के अनुकरण पर लिखा हुआ प्रथम उपलब्ध काव्य धोयी का पवनदूत ही है जो दूत काव्य की परम्परा का उज्जीवक कहा जा सकता है। जैन कवि विक्रम के नेमिदूत में जैन तीर्थङ्कर नेमिनाथ की पत्नी राजमती न अपने पति से, जो आबू पर्वत पर तपस्या कर रहे थे, घर लौटने की प्रार्थना की है। इसके प्रत्येक पद्य के अन्त मे मेघदूत के हर-एक पद्य की अन्तिम पक्ति समस्या के रूप में प्रयुक्त की गयी है। एक उदाहरण लीजिए .

> सा तं वूना मनसिजशरैर्याद्वेशं बभाषे।
> रक्षोऽस्स्वामी शरणगमसौ भूपतीनां तु धर्मः।
> तन्मां स्वामिन्न भवदधीनां समभ्यर्थये त्वां।
> याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा॥ ६॥

पन्द्रहवीं शती के प्रारम्भ में चारित्रसुन्दरगणी ने शीलदूत की रचना की जो समस्यापूरणात्मक शैली में लिखा हुआ एक उपदेशात्मक काव्य है और १७वीं शती के अन्त में मेघविजय नामक कवि ने 'मेघदूत' समस्यालेख लिखा है जिसमे अपने गुरु के पास उन्होंने मेघ को सन्देशवाहक बनाकर भेजा है। एक अज्ञात जैन कवि का चेतोदूत भी नेमिदूत के ढँग का ही मेघदूत पर आधृत समस्या पूर्तिपरक काव्य है।

प्रायः सभी अनुकरणात्मक दूतकाव्यों में मूल की सहज रसात्मकता नहीं आ पायी है। विषय उद्देश्य और शैली की दृष्टि से उनमें वैविध्य है, फिर भी अधिकतर शृङ्गार ही वर्ण्यविषय रहा है और मन्दाक्रान्ता छन्द प्रयुक्त हुआ है।

शिखरिणी[2], वसन्ततिलका[3], मालिनी[4] और शार्दूल विक्रीडित[5] छन्द में भी कुछ काव्य लिखे गये। मेघ, पवन, चन्द्र आदि प्रकृति के विभिन्न अचेतन तत्त्वों के

---

1. कोपने! कुचों की संगति से तुम्हारा हृदय भी कठोर हो गया प्रतीत होता है।
1. हंसदूत (रूप गोस्वामी) मनोदूत (व्रजनाथ)।
2. मनोदूत (विष्णुदत्त) हृदयदूत (हरिहर)।
3. चन्द्रदूत (जम्बू)। 5. पिकदूत और पान्थदूत (भोलानाथ)।

अतिरिक्त पिक, शुक, भृङ्ग, मयूर, चकोर, चातक, चक्रवाक, आदि पक्षियों और उद्धव हनुमान आदि विविध पौराणिक पात्रों को भी सदेशवाहक बनाया गया है। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में नदिया के कृष्णसार्वभौम नामक कवि ने पदाङ्कदूत की रचना की जिसमे गोपियों ने कृष्ण के पदचिन्हों से ही कृष्ण के लिए सन्देश ले जाने की प्रार्थना की है। इसी थीम को लेकर 'तुलसीदूत' की भी रचना हुई जिसमें दूत का कार्य तुलसीवृक्ष को सौंपा गया। यही नही, मन, हृदय चित्त तथा भक्तिसदृश अमूर्त पदार्थों से भी यह काम लिया गया है। सीताराम, राधाकृष्ण, पार्श्वनाथ नेमिनाथ आदि पौराणिक पात्र और उनसे सम्बन्धित कथानक भी आधार बनाये गए हैं। एक दो काव्य ऐतिहासिक व्यक्तियों से भी सम्बद्ध है किन्तु इनमे भी घटनाएँ अधिकतर ऐतिहासिक नही हैं।

धार्मिक आचार्यों और उनसे प्रभावित कवियो के हाथ में पड़कर दूतकाव्य का स्वरूप कुछ और ही हो गया। सामान्य कवियों ने तो मानवीय-प्रेम का ही चित्रण अपने दूतकाव्यों में किया है किन्तु वैष्णव और जैन कवियों ने इस परम्परा को धार्मिक उपदेश और प्रचार का साधन बना लिया। रूपगोस्वामी का हंसदूत गौडीय रसशास्त्र के उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम (भक्ति) का चित्रण करता है और तैलङ्ग व्रजनाथ के मनोदूत में असहाय द्रौपदी चीरहरण के समय अपने मन को कृष्ण के पास संदेश लेकर भेजती है। विनय विजयगणी ने अपने 'इन्दुदूत' में जोधपुर से सूरत-स्थित अपने धार्मिक गुरु के पास इन्दु द्वारा एक विज्ञप्ति पत्र भिजवाया है और प्रसङ्गानुसार मार्ग में स्थित जैन मन्दिरों और तीर्थस्थानों का वर्णन किया है। कालीप्रसाद ने अपने भक्तिदूत में मुक्ति को अपनी प्रियतमा मानकर भक्ति को दूती के रूप में उसके पास भेजा है। यह सारा काव्य रूपकात्मक हैं। किसी अज्ञात वैष्णव कवि का 'हंसदूत' भी, जो वेदान्तदेशिक और रूप गोस्वामी के हंसदूत से सर्वथा भिन्न है, ऐसा ही रूपकात्मक काव्य है। श्रीकृष्णमाचारियर ने एक काकदूत[5] का भी उल्लेख किया है जिसे हम पैरोडी दूतकाव्य कह सकते हैं। इसमें कारागृह में बन्द एक पतित ब्राह्मण अपनी प्रिया कादम्बरी (सुरा) के पास कौए को दूत बनाकर भेजता है।

सारांश यह है कि दूतकाव्य की परम्परा जो प्रारम्भ में सहज मनोरम भाव को लेकर चली थी, अन्त में जैन कवियों के हाथ मे पड़कर प्रचार-साधन-विज्ञप्ति-पत्र अथवा समस्यापूर्ति–कलाप्रदर्शन के रूप में पर्यवसित हुई और दूसरी वैष्णव कवियों के सम्पर्क से धार्मिक और दार्शनिक विचारों के वहन से बोझिल हो गई। उत्तरोत्तर कला की कृत्रिमता और क्लिष्टता इन काव्यों का स्वभाव ही बन गया। निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी:—

छत्राम्भोजध्वजमकरिकाचक्रशङ्खाङ्कुशाङ्काः।
पुष्पैराद्रैरमलमनसामर्घ्यमासूत्रयन्तः॥

5. क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (मद्रास १९३७, पृष्ठ ३६५)।

पादन्यासाः पथि विचरतः प्रेयसो मे पवित्राः ।
प्राप्स्यन्त्यक्ष्णोस्तव विषयतां प्रस्थितस्यैव सन्तः ।। हंससंदेश–४४ ।।
शाखाचक्रे कुसुमकलिकाकञ्चुटे सङ्कटानां
माध्वीमाद्यन्मधुपमहिलामण्डलीमण्डितानाम् ।
संछन्नानामिव रविभयाच्चित्रमाञ्जिष्ठवस्त्रैः
पश्येः षण्डं नवघनघटापक्ष्मलं पादपानाम् ।। वही–४५ ।।
मञ्जुध्वानं सुललितपुरन्ध्रीजनारब्धगीता
माध्वीलोलं नवमधुकरीलोललोलम्बजाला ।
कान्तासक्तं सुदृढदयितारागमूर्छालपौरा
तैस्तैर्भावैर्मदयितुमलं त्वामसौ राजधानी ।।भृङ्ग सन्देश उत्तरभाग-१।।
सासाद्याद्या मम मत ! ततः स्वान्तवृत्ते ! त्वयालं ।
पापावावाहहहदददर्थाश्च यस्याः प्रणामाः ।।
यां यान्तीतीरुरुरुगगगर्भालयस्थां नियन्त्रीं ।
नानासंसन्ननतितितिक्षावती भाति नृणाम ।। कोक सन्देश ४० ।।
तद्रम्यारावविविविविक्षः सरः सुन्दराख्यं ।
मोदं पापं दददददद सद्यतो याहि तस्मात् ।।
कान्तारूढो रुरुरुरुरुरुवाति यत्तीरमास्ते ।
के गङ्गावानिनिनिनिनिनिन्दाङ्गजं यो हि भानाम् ।। वही ४७ ।।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में हमारे निष्कर्ष ये हैं—

१. दूत काव्य परम्परा में भाषा-शैली, छन्द और भाव की दृष्टि से कालिदास का ही अनुकरण अधिक हुआ। मौलिकता का अंश अपेक्षाकृत कम ही रहा।

२. शृङ्गार के अतिरिक्त भक्ति एवं दर्शन से सम्बद्ध भावों की अभिव्यक्ति के लिये दूतकाव्य की शैली को अपनाया गया।

३. ऐतिहासिक और पौराणिक व्यक्तियों तथा गाथाओं के आधार पर भी दूत काव्य रचे गए किन्तु अधिकतर उनकी कथावस्तु कल्पित ही रही।

४. समस्यापूर्ति की कला के विकास को इस परम्परा से बड़ा भारी बल मिला और मेघदूत की प्रत्येक पंक्ति को समस्या मान कर कई दूतकाव्य रचे गए।

५. मुक्तक गीतिकाव्य की भाँति रूढि पालन के प्रति मोह, पाण्डित्य-प्रदर्शन, शब्द-क्रीडा आदि विशेषताएँ युग की प्रवृत्ति के अनुसार इस परम्परा में भी समान रूप से समाविष्ट हुईं।

७

# धार्मिक गीति परम्परा

पिछले अध्याय में हम कह आए हैं कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में ब्राह्मण युग की जटिल उपासना और यज्ञों के विरोध में नास्तिकों के आन्दोलन हुए। नास्तिक आन्दोलन के फलस्वरूप बौद्ध और जैन धर्मों की स्थापना हुई तथा आस्तिक आन्दोलन के फलस्वरूप भागवत धर्म की जिसके अन्तर्गत भक्ति का व्यापक प्रसार हुआ। छान्दोग्योपनिषद् मे घोर आङ्गिरस ऋषि ने अपने शिष्य कृष्ण को एक नये यज्ञ का उपदेश दिया था जो तपश्चर्या, ऋजुभाव, अहिंसा और सत्यवचन पर आधारित था। अनुश्रुति है कि राजा वसु चैद्यपरिचर ने अपने एक अश्वमेध यज्ञ मे पशु बलि न देकर अन्न की आहुतियाँ दी।[1] वसु द्वारा प्रवर्तित यह लहर कर्मकाण्ड और तप के स्थान पर भक्ति पर बल देती थी। यह आन्दोलन हमारे वाङ्मय में 'ऐकान्तिक' कहलाता है क्योंकि इसमे एकमात्र हरि मे एकाग्रता से भक्ति करने का भाव मुख्य था। वस्तुतः व्यावहारिक रूप मे तो ऋग्वेद काल में ही यत्र-तत्र भक्ति-भावना के दर्शन हो जाते हैं। इस सम्बन्ध मे तीसरे अध्याय मे वसिष्ठ द्वारा प्रणीत वरुण सूक्त से कुछ मन्त्र उदाहृत किए जा चुके हैं। प्रो० आर० सी० मजूमदार भी भक्ति भावना का उद्गम यहीं से मानते है।[2]

महाकाव्य (रामायण और महाभारत) युग में वैदिक युग की प्राकृतिक शक्तियों के सूचक, इन्द्र, वरुण, उषा आदि देवताओ के स्थान मे स्कन्द, विशाख आदि मानवरूप देवताओं को प्रतिष्ठा हुई और त्रिमूर्ति को उत्कर्ष मिला। भगवान् की उत्पादक, धारक और संहारक शक्तियो के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश देवताओं की पूजा होने लगी। महाभारत में न केवल विष्णु के पूजक भागवत संप्रदाय और शिव के पूजक पाशुपत संप्रदाय का उल्लेख मिलता है अपितु यह कल्पना भी की गयी है कि भागवतों के उपास्य देवता विष्णु ही पाशुपतों के आराध्य देव शिव हैं।[3] महाभारत के एक ही पर्व में शिव और विष्णु की सहस्रनाम से स्तुति है। इस युग में महापुरुषों को देवरूप प्रदान करने की परिपाटी भी चल पड़ी।

1. छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।४–६।
2. एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृष्ठ ३८।
3. महाभारत ३।६१।७६

रामायण के मूल अंशों में राम मानव रूप में चित्रित हैं किन्तु बाद के अंशों में उन्हें भगवान् का अवतार मान लिया गया है। जैसा कि कहा जा चुका है, गौतम बुद्ध भी अपने जीवन में ही महापुरुष के रूप में पूजे जाने लगे थे।

पौराणिक युग मे भक्ति-भावना का विकास तीव्रता के साथ हुआ और ज्यों-ज्यों भक्ति आन्दोलन जोर पकडता गया त्यों-त्यों आराध्य देवों की स्तुति में अनेकानेक रचनाएं होने लगी। पुराण-साहित्य मे इस प्रकार के स्तोत्र भरे पड़े हैं। वैदिक युग मे देवताओं से ऐहिक वस्तुओं की याचना की जाती थी। पौराणिक युग में पारलौकिक सुख और मोक्ष-प्राप्ति प्रमुख माने जाने लगे। आगे चल कर भक्त लोग उपास्य की भक्ति की ही याचना करने लगे। उपास्य की महत्ता की इससे अधिक व्यञ्जना हो भी क्या सकती थी। ऐसे प्रसङ्गों मे अनुभूति का गहनतम रूप देखा जाता है जिनमे वैयक्तिकता की भी पर्याप्त समाहिति हो गई है। पुराण-साहित्य के अन्तर्गत इन स्तोत्रों का कवित्व की दृष्टि से चाहे कुछ भी मूल्य हो किन्तु अन्तर्मुखी चेतना की झाँकी इनमें स्पष्ट दिखाई देती है।

### काव्य शास्त्रियों का दृष्टिकोण

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने स्तोत्रों में रस की अनुभूति गौण मानी है। देवविषयक रति का परिपाक उन्होंने रस में न मान कर उसे भाव संज्ञा प्रदान की है।[1] इसका कारण कदाचित् यह है कि दीर्घकाल से रति का वास्तविक आस्पद नारी ही मानी जाती रही थी और कवियों तथा काव्यशास्त्रियों ने शृङ्गार को ही अधिक प्रश्रय दिया था। निःसन्देह ऐसे स्तोत्रों की संख्या पर्याप्त है जिनमे अनुभूति की सघनता के स्थान मे शब्दाडम्बर और चमत्कार-प्रदर्शन का ही योग अधिक है। बहुत से स्तोत्र देवताओं अथवा देव विशेष की नामावली के अतिरिक्त कुछ नहीं है। फिर भी ऐसे स्तोत्रों की संख्या भी नगण्य नहीं है जो स्तोता की मानसिक पीर और उपास्य के प्रति सच्ची लगन के द्योतक हैं। उनमें अनुभूति का उदात्त स्वरूप निहित है। अभिव्यक्ति की सहज मार्मिकता के साथ अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण वे गीतिकाल की ही कोटि में रखे जा सकते हैं।

### स्तोत्र-परम्परा का महाकाव्यों पर प्रभाव

संस्कृत के महाकाव्य भी स्तोत्र परम्परा से प्रभावित हैं। क्योंकि महाकाव्यों के कथानक प्रायः रामायण और महाभारत से ही लिये गए हैं, अतः यह प्रभाव स्वाभाविक भी है। रामायण तो आदि महाकाव्य कहा ही जाता है। कालिदास ने वाल्मीकि से जहाँ अन्य विशेषताएँ ग्रहण कीं वहाँ स्तोत्र शैली भी जिसे उन्होंने अपनी प्रतिभा से अधिक कवित्वमय रूप दिया। रघुवंश[2] और कुमार संभव[3]

1. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तः। (मम्मट, काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास)।
2. रघुवंश १०।१६–३२।
3. कुमार संभव, ३।४–१५।

मे उन्होंने देवताओं द्वारा विष्णु तथा ब्रह्मा की स्तुतियाँ श्लोक छन्द में कराई हैं। इसी प्रकार किरातार्जुनीय के अन्तिम सर्ग मे अर्जुन द्वारा शिव की, शिशुपालवध के चौदहवें सर्ग में भीष्म द्वारा कृष्ण की और रत्नाकर के हरविजय के सैंतालीसवें सर्ग में देवताओं द्वारा १६७ पद्यों मे चण्डी की स्तुति करायी गयी है।

## बौद्ध और जैन धर्म में स्तोत्र-परम्परा

पौराणिक धर्म के अनुसार लोक-कल्याण और वैयक्तिक सुख-समृद्धि का माध्यम अदृश्य ईश्वर शक्ति है जिसके अनेक रूप हैं। उसी की कृपा से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। इस सिद्धान्त के आधार पर स्तोत्र-साहित्य की अवतारणा हुई। परमात्मसत्ता के जो विविध रूप स्वीकृत हुए उनके असीम सौन्दर्य, वैभव तथा शक्ति की कल्पना की गई। जिस प्रकार शृङ्गारिक गीति-काव्य मे नखशिख-वर्णन की प्रणाली चली आ रही थी, उसी प्रकार इन स्तोत्रों मे भी उपास्य के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के सौन्दर्य, व्यापार, चितवन आदि का मनोरम वर्णन किया गया और जगन्नियन्त्री अदृश्य शक्ति को मानव शरीर ही नहीं मानव हृदय भी प्रदान कर दिया गया। अपनी समस्त चिन्ताओं का भार उस शक्ति के ऊपर डालकर निश्चिन्त हो जाने में जो सुख मिलता है वह जनसाधारण के लिए बड़े आकर्षण की वस्तु है। यही कारण है कि धीरे धीरे जनता मे भी पौराणिक स्तोत्रों का महत्त्व बढता गया जिन्हे गा-गाकर वह शान्ति, सतोष और आशा के सहारे जीवन के अस्पृहणीय क्षणो को भी निर्विषाद बिता देती थी। बौद्धों ने गौतम बुद्ध को और जैनों ने अपने तीर्थंकरो को देवता का रूप देकर अपने अपने धर्म के प्रचार हेतु इस स्तोत्र-परम्परा को अपनाया। श्री हरिदत्त वेदालङ्कार का कथन है कि "पौराणिक धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म पर भी पड़ा। उसमें बुद्ध एक ऐतिहासिक महापुरुष के स्थान पर प्रमुख देवता बन गए। मथुरा और गान्धार में उनकी मूर्तियाँ बनीं। यह समझा जाने लगा कि बुद्ध कई जन्मों से साधना कर रहे थे, उस समय वे बोधिसत्त्व थे। अनेक बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पौराणिक ढग से पूजा की जाने लगी। बौद्ध धर्म के इस नये रूप को उसके समर्थकों ने महायान अर्थात् बड़ा मार्ग बतलाया और उसकी तुलना में पुराने बौद्ध धर्म को हीनयान कहा है[1]। डा० सत्यकेतु का मत इसके सर्वथा विपरीत हैं। वे लिखते हैं—

यदि बौद्ध लोग जीवन की उन्नति के लिए महात्मा बुद्ध को जनता के सम्मुख आदर्श के रूप में पेश करते थे तो भागवत धर्म के आचार्यों ने कृष्ण और राम को पूर्ण पुरुषों के रूप में उपस्थित किया। यदि बुद्ध की भक्ति द्वारा मनुष्य परम लाभ प्राप्त कर सकता था, तो राम और कृष्ण सदृश लोकोत्तर व्यक्तियों (ईश्वर अवतारों) की भक्ति भी उसे अभिलषित फल प्राप्त करा सकती थी।[2]

बौद्ध और जैन धर्म अपनी काव्य-परम्परा, स्तोत्र-परम्परा और पुराण

1. हरिदत्त, वेदालंकार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास पृष्ठ १२१।
2. डा० सत्यकेतु, भारत की संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५२८।

परम्परा में ब्राह्मण धर्म से कहां तक प्रभावित है, यह अलग विषय है जो हमारे शोध प्रबन्ध के बाहर का है। हाँ, इतना अवश्य है कि इन धर्मों में भी ब्राह्मण धर्म के समकक्ष स्तोत्र आज उपलब्ध हैं। एक बात और है, वह यह कि ब्राह्मण धर्म के स्तोत्रों में बौद्ध और जैन देवताओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता जबकि बौद्ध तथा जैन स्तोत्रकारों ने स्वतन्त्रता पूर्वक अपने उपास्यदेवों का ब्राह्मण धर्म के देवताओं के साथ तादात्म्य स्थापित किया है और प्रतिस्पर्धा के कारण अनेकत्र उनसे उच्च भी ठहराया है। इससे तो यही प्रतीत होता है कि बौद्ध तथा जैन स्तोत्र ही ब्राह्मण स्तोत्रों से प्रभावित हैं। कुछ भी सही, स्पर्धा के कारण ही इन धर्मों के अनेक स्तोत्रों के साथ उपास्य देवता की शक्तिद्योतिका किंवदन्तियाँ भी एक से एक बढ़ कर जोड़ दी गई हैं। सूर्यशतक से मयूर का कुष्ठरोग अच्छा हुआ और चण्डीशतक के प्रणयन तथा पाठ ने लुञ्ज-खञ्ज बाण के हाथ पैर पुनः जोड़ दिए तो नवीं शताब्दी के बौद्ध कवि वज्रदत्त अवलोकितेश्वर की स्तुति में प्रतिदिन एक श्लोक रचकर सौ दिन में कुष्ठरोग से मुक्त हो गए तथा जैन कवि मानतुङ्ग के भक्तामर-स्तोत्र के बयालीस श्लोकों ने इतनी ही शृंखलाओं से जकड़े हुए मानतुङ्ग के बन्धनों को क्रमशः भग्न कर दिया। सिद्धसेन दिवाकर का कल्याण मन्दिर स्तोत्र जब उज्जयिनी में महाकाल के मन्दिर में पढ़ा गया तो शिवलिङ्ग फट गया और उससे पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल पड़ी। ग्यारहवीं शताब्दी के कवि अभयदेव के जयतिहुअ स्तोत्र से उनका रोग दूर हो गया और पार्श्वनाथ की गुप्तमूर्ति प्रकाश में आ गई तथा बौद्ध देवी तारा ने सत्यनारायण के समान ही स्तुति से प्रसन्न होकर अपने स्तोता के साथ अन्य ९९ व्यक्तियों को भी, जो एक राजा ने नरमेध यज्ञ के लिए इकट्ठे किये थे, राजा को स्वप्न में चेतावनी देकर मुक्त करा दिया।

इन स्तोत्रों की रचना प्रायः संस्कृत ही में हुई है। बौद्ध और जैन आचार्यों ने प्रारम्भ में पालि और प्राकृत को ही अपनी कृतियों का माध्यम चुना था। जनता को उसी की भाषा में सन्देश देने के उद्देश्य के साथ साथ इसके मूल में ब्राह्मण धर्म की भाषा—संस्कृत—के प्रति ईर्ष्या का भाव भी कुछ कम न था। बोलचाल की भाषा परिवर्तन के फेर में रूप बदलने की ओर अग्रसर होती रहती है। इसी लिए ब्राह्मण धर्म के साहित्य की रचना संस्कृत में हुई जो स्थायी साहित्य की सृष्टि के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी भाषा थी। दूसरा कारण यह है कि प्रायः राजदरबारों में भी संस्कृत का ही दबदबा अधिक था। कतिपय जैन राजाओं ने प्राकृत को प्रश्रय अवश्य दिया था किन्तु संस्कृत की अवहेलना वे भी न कर सके थे। सहस्रों वर्ष से जनता का सम्पर्क संस्कृत से था। जब वह आप्त विद्वानों की ही वाणी रह गई तब तो उसके प्रति जनसाधारण में पूज्यबुद्धि की भावना का और भी अधिक प्रसार हुआ और 'संस्कृत प्रमाणम्' की धारणा बद्धमूल हो चली, जो संस्कृत के कई पीढ़ी पुरानी हो जाने पर और जीवन के प्रत्येक पहलू पर अंग्रेजी का साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भी कम से कम धार्मिक क्षेत्र में आज भी जनता के हृदय में ज्यों की त्यों बनी

हुई है। इसके अतिरिक्त संस्कृत एक प्रकार से राष्ट्रभाषा थी अतएव जहाँ जनभाषा का साहित्य एक प्रदेश-विशेष की सम्पत्ति हो सकता था वहाँ संस्कृत का साहित्य समूचे राष्ट्र की। यह बात आज भी उतनी ही सत्य है। सम्भवत: इन्हीं कारणों से जैनियों और बौद्धों ने भी संस्कृत का पल्ला पकड़ा यद्यपि प्रादेशिक भाषाओं में भी वे रचनाएँ प्रस्तुत करते रहे। तात्पर्य यह है कि बौद्ध तथा जैन स्तोत्रों में रचना के मूल में हिन्दू धर्म के प्रति उनकी स्पर्धा का भी बहुत बड़ा हाथ रहा।

स्वतन्त्र स्तोत्र-रचना के सर्वप्रथम निदर्शन, जो आज उपलब्ध हैं, बौद्ध कवि मातृचेट के शतपञ्चाशतिक स्तोत्र नामक ग्रन्थ के भग्नावशेष में मिलते हैं। कनिष्क के दरबार में दो महान् बौद्ध स्तोत्रकार थे मातृचेट और अश्वघोष। तिब्बती विद्वानों ने अश्वघोष को ही मातृचेट कहा है किन्तु यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है क्योंकि एक जनश्रुति के अनुसार अश्वघोष के संरक्षक कनिष्क ने जब मातृचेट को अपने दरबार में बुलाया तो उन्होंने वृद्धावस्था के कारण आने से इनकार कर दिया और एकान्त जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। इनकी रचना की भाषा सरल और सुन्दर है तथा विचार उच्च। उसकी गेयता निर्विवाद है। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री इत्सिंग ने मातृचेट की विख्याति का उल्लेख किया है। इस प्रसिद्धि के अनुसार एक बार महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों के साथ भ्रमण कर रहे थे। उस समय एक कोकिल कहीं बोल रहा था मानो भगवान् बुद्ध का यशोगान कर रहा हो। बुद्ध ने कहा कि यह कोकिल एक दिन मातृचेट के रूप में जन्म लेगा। इस किम्वदन्ती से मातृचेट की कविता की मधुरिमा और गेयता की प्रतीति होती है जिसकी पुष्टि इत्सिंग के इस कथन से भी होती है कि ये पद्य सुन्दरता में स्वर्गीय पुष्पों के समान है और जो उच्च सिद्धान्त उनमें निहित है वे अपनी महत्ता में हिमालय की उच्च चोटियों की तुलना में रखे जा सकते है। भारतवर्ष में स्तोत्रों की रचना करने वाले इन्हीं को साहित्य का जनक मानकर इनके आदर्श पर रचना करने की चेष्टा करते है। वसुबन्धु और असंग जैसे बौद्ध महात्माओं ने इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है। सारे भारत में जो कोई भी श्रमण बनता है वह आर्यसत्यों के साथ इनके दो स्तोत्रों को भी अवश्य याद रखता है जो हीनयान और महायान दोनों ही शाखाओं में प्रचलित है। इत्सिंग को इन की प्रशंसा के शब्द ही नहीं मिले। प्रसिद्ध दिङ्नाग नामक बौद्ध तार्किक ने इनके प्रत्येक पद्य के पूर्व एक पद्य बनाकर रख दिया और इस प्रकार तीन सौ श्लोकों का एक मिश्रित स्तोत्र तैयार हो गया। अश्वघोष के नाम से भी चीनी भाषा में अनूदित एक स्तोत्र प्राप्त हुआ है। नागार्जुन का चतुःस्तव तिब्बती अनुवाद में है। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में हर्षवर्धन भी बौद्ध हो गए थे। कहा जाता है कि इन्होंने भी सुप्रभात[1] नामक एक स्तोत्र की रचना की थी जिसमें बुद्ध स्तुति के २४ श्लोक है। ये रचनाएँ स्तोत्रकाव्य परम्परा की आदियुगीन विशेषताओं से युक्त है। इनमें वैदिक स्तोत्रों की सरलता और पुराणों में आए हुए स्तोत्रों की विशद वर्णनात्मकता के साथ हृदय तत्त्व का पुट भी

1. पी० वी० काणे, हर्षचरित का परिशिष्ट (ब)।

साफ़ लक्षित होता है। कालिदास के नाम से प्रसिद्ध श्यामलादण्डक, अम्बास्तव, कालीस्तोत्र और चण्डिकादण्डकस्तोत्र वस्तुतः महाकवि कालिदास की कृतियाँ नहीं हैं। ये बाद के किसी अन्य कालिदास की कृतियाँ प्रतीत होती है[1] क्योंकि एक तो इनकी शैली कविकुलगुरु कालिदास की शैली से मेल नहीं खाती और दूसरे इनमे तान्त्रिक प्रभाव भी परिलक्षित होता है जो निश्चयपूर्वक कालिदास के बाद की विशेषता है।

सातवीं शताब्दी के पश्चात् स्तोत्रसाहित्य मे बड़ी तीव्रता के साथ वृद्धि हुई क्योंकि भक्ति भावना के विकास के साथ-साथ ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायियों ने जमकर स्तोत्र लिखे। सातवीं शताब्दी के जो दो प्रमुख स्तोत्र—मयूर का सूर्यशतक और बाण का चण्डीशतक—आज उपलब्ध है उनमे भारवि द्वारा प्रवर्तित तथा माघ द्वारा परिपोषित श्रमसाध्य कलाशैली का पूर्णतया प्रतिफलन हुआ है। सूर्यशतक के विषय मे डा० डे का यह कथन कि भक्ति-भावना की अपेक्षा इस मे पाण्डित्य-प्रदर्शन ही अधिक है[2] बाण के चण्डीशतक पर भी समानरूप से लागू होता है। जिस प्रकार मयूर ने सूर्य की रश्मियाँ, रथ, घोड़े, सारथि, आदि का क्रमिक वर्णन प्रस्तुत किया है उस प्रकार बाण ने चण्डी से सम्बद्ध पदार्थों का नही। चण्डीशतक के अड़तालीस पद्यों में चण्डी, महिष, जया, विजया, शिव, कार्तिकेय, देव, असुर, यहां तक कि चण्डी के चरण एव चरणनख तक से उत्तमपुरुष शैली में वर्णन कराया गया है। इस दृष्टि से चण्डीशतक जैसा दूसरा स्तोत्र शायद ही कोई हो। यह शैली स्तोत्रकारो मे प्रचलित न हो सकी। वस्तुतः इन शतको को गीति कहना कठिन है क्योंकि यह वास्तविक काव्य न होकर काव्य का कौतुकमात्र हैं। अतः यह इस बात का प्रमाण भी है कि धीरे धीरे युग की प्रवृत्तियों का प्रभाव स्तोत्र-साहित्य पर भी पड रहा था। जिस प्रकार शृङ्गार के क्षेत्र मे रतिभाव के आलबन रूप नारी के अंग-प्रत्यंगों के सौन्दर्य का चित्रण कवि-समुदाय करता चला आ रहा था उसी प्रकार उपास्य के अंग-प्रत्यंगो तथा रूप-सौन्दर्य के वर्णन की परिपाटी स्तोत्रकारों ने भी अपनायी। प्रेम के लौकिक पक्ष मे जो परम्पराएँ कविता के क्षेत्र में अपनायी जा चुकी थीं उनका उसके अलौकिक पक्ष में भी प्रविष्ट हो जाना कोई आश्चर्य की बात नही कही जा सकती। प्रसिद्ध दार्शनिक शङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध शिवपादादि-केशान्त-वर्णन, शिवकेशादिपादान्तवर्णन, विष्णुपादादिकेशान्त-वर्णन विष्णुकेशादिपादान्तवर्णन आदि स्तोत्रों को तो जाने दीजिए क्योंकि उन्हें निश्चयात्मकता के साथ शंकर की रचना नही कहा जा सकता; सम्भव है वे सम्प्रदाय के अन्य उत्तरवर्ती मठाधीश अनेक शङ्कराचार्यों की रचनाओं में से हो, किन्तु जैनाचार्य मानतुङ्ग के भक्तामर स्तोत्र में भी, जिसे जैनों के धार्मिक अभिलेख तीसरी शताब्दी का और एक किम्वदन्ती श्रीहर्ष के समय का तथा कीथ बाण से १५०-२०० वर्ष पश्चात् का मानते है, यह विशेषता स्पष्ट लक्षित हो जाती है—

1. एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥ राजशेखर

2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६१।

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥
वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम् ।
बिम्बं कलङ्कमलिनं क्व निशाकरस्य यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥[1]
नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम् ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति विद्योतयज्जगदपूर्वशशाङ्कबिम्बम् ॥[2]
उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ती पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥[3]

इस सम्बन्ध में मूकपञ्चशती का उल्लेख आवश्यक है। परम्परा के अनुसार मूक कवि शकराचार्य के समसामयिक अथवा उनसे कुछ पहले थे क्योंकि उन्होंने अपनी सौन्दर्यलहरी में 'प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया' कह कर उक्त कवि का सकेत किया है। मूकपञ्चशती के समय का निश्चय न होने पर भी यह मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि उसमे इस परिपाटी का पर्याप्त विकास दिखाई पड़ता है। देवी के चरण, कटाक्ष और मन्दस्मित के ऊपर ही मूक ने शिखरिणी, वसन्ततिलका और शार्दूलविक्रीडित छन्दों मे पद्यों का पूरा एक-एक शतक लिख डाला है। नवीं शताब्दी के बौद्ध कवि वज्रदत्त के अवलोकितेश्वर शतक में भी नखशिख, गुण, प्रेम आदि का वर्णन है।

इस रूप वर्णन से ही सम्बद्ध है देवताओं की विविध मुद्राएँ, जिनका ध्यान उपासकों के लिये आवश्यक था। देवी की उपासना से सम्बद्ध रचनाओं मे इन मुद्राओं का विशेष रूप से चित्रण हुआ है। दुर्गासप्तशती की उपासना विधि में ॐ, ऐं ह्रीं क्लीं, हुं, फट्, जैसे अक्षरों वाले मन्त्र, जिनका कोई अर्थ नहीं, तथा अथ ध्यानम् कहकर जो श्लोक दिये गये हैं वे इसके उदाहरण हैं। यह तान्त्रिक प्रभाव के कारण हुआ क्योंकि देवी की उपासना पर तन्त्रों का प्रभाव तो है ही।[4]

### शृङ्गार भावना का समावेश

देववर्णन में शृंगार की परिपाटी का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। कुमार-सम्भव आदि महाकाव्यो के अतिरिक्त प्रणीत मुक्तकों में और मगलाचार के रूप में देवदम्पती की शृंगारिक चेष्टाओं का वर्णन कविजन करते आ रहे थे। भक्ति में माधुर्य का समावेश होने के साथ-साथ स्तोत्र-परम्परा पर भी इसका बहुत प्रभाव पड़ा। मानसिक संतुष्टि और नैतिक दृढ़ता जो प्राचीन धार्मिक भावना की प्रमुख विशेषताएँ थीं उच्च कोटि के परम्पराभक्त स्तोत्रों की प्रेरक शक्ति का कार्य कर रही थीं। किन्तु मध्यकालीन सम्प्रदायों और रागानुगा भक्ति के प्रचार-आन्दोलन के

1. भक्तामरस्तोत्र, १२–१३।
2. वही, १८।
3. ,, ,, ३६१।
4. हरिदत्त वेदालङ्कार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास पृष्ठ २०५।

साथ साथ इन मूल भावों में एक प्रकार की गुह्य शृंगार भावना का समावेश हो गया और प्रेम की पीर गहन भाषा, उच्च कल्पना तथा लौकिक शृंगार भावना के साथ प्रकट की जाने लगी। इस प्रवृत्ति के कारण संस्कृत स्तोत्रसाहित्य का विकास एक नयी दिशा मे हुआ जहाँ भक्ति और शृंगार क्षितिज के समान परस्पर मिल गए से प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि गीतगोविन्द जैसी रचनाओं को विशुद्ध धार्मिक तथा शृंगारिक दोनो पहलुओं से अलग देखा और समझा गया है।[1] इस विषय पर विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की जायेगी। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि जैन स्तोत्रों मे इस प्रकार की शृंगार भावना नहीं पायी जाती जबकि बौद्धों की तारा देवी के स्तोत्रों मे इसका समावेश हो गया। जैन तीर्थङ्कर तो पूर्णतया सन्यासी थे। सांसारिक वैभव से दूर रह कर शान्तरसपरक उपासना हो जैन धर्म का लक्ष्य रहा जबकि ब्राह्मण धर्म मे देवताओं की कल्पना ऐश्वर्य तथा सर्वविध-भोग-सम्पन्नता के साथ की गयी थी। अत: ब्राह्मण धर्म के अनुसार देवोपासना मे शृंगार-समावेश का अवसर अपेक्षाकृत अधिक था। बाण के चण्डीशतक मे ही इस प्रवृत्ति के संकेत मिल जाते है। आगे चलकर तो उत्तरोत्तर विकसित होती हुई यह परम्परा चण्डीकुचपञ्चाशिका जैसी रचनाओं मे, जिन्हे स्तोत्र कहने मे सकोच ही नही खेद भी होता है, परकाष्ठा को ही प्राप्त हो गयी पहले तो इसकी प्रबलता शिव, पार्वती अथवा देवी के अन्य स्वरूपों से सम्बद्ध स्तोत्रों मे रही[2] किन्तु भागवत पुराण के अधिकाधिक प्रचार तथा कृष्ण के साथ राधा का योग हो जाने पर तो राधाकृष्ण की स्तुतियों मे यह पूरे वेग के साथ प्रस्फुटित हुई। राधा-कृष्ण विषयक एक भी स्तोत्र ऐसा न मिलेगा जो उनकी प्रणय-लीलाओं का चित्रण न करता हो।

आर० जी० भण्डारकर का यह कथन उल्लेखनीय है कि जब स्त्रीतत्त्व को प्रतिमा का रूप देकर विशिष्ट उपासना का लक्ष्य बना लिया जाता है तो इस प्रकार के जघन्य आचारों का प्रादुर्भाव अनिवार्य हो उठता है। त्रिपुर-सुन्दरी के रूप में दुर्गा की उपासना भी इसी रूप में पर्यवसित हुई।[3]

वैदिक युग मे स्त्रीतत्त्व की उपासना नही थी। भीष्म पर्व के तेईसवे अध्याय मे पहली बार दुर्गा की स्तुति मिलती है। गुप्त युग मे शिव की शक्ति को अधिक प्रधानता मिली है। शक्ति के उपासकों ने शरीर मे षट्चक्र की स्थिति मानी और ह्रिम्, हुम्, फट् आदि मन्त्रों से तथा योग से अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति, यन्त्रों की शक्ति और मुद्राओं म विश्वास किया।[4]

---

1. The mighty Sex-impulse becomes transfigured into a deeply religious emotion; and, however mystic the devotional attitude may appear, the literary gain is beyond question. (*Hist. of Sans. Lit. by De & Dasgupta*, *p. 376.*)

2. उदाहरणार्थ देखिए, शिवकेशादिपादान्त वर्णन स्तोत्र, ९–१६, वक्राक्षितपञ्चाशिका २–८ ११ आदि।

3. When the female element is idolised and made object of special worship, such disgusting corruption must ensue. The worship of Durga in form of Tripura-Sundari has ledto the Same result. *Vaishnavism and Shaivism, p. 122-23.*

4. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १०५।

## साम्प्रदायिकता का प्रभाव

धार्मिक भावना की संकीर्णता और साम्प्रदायिकता की रस्साकशी के कारण विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के स्तोत्रों में एक दूसरे के उपास्य को तुच्छ एवं अपने को महान् सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी खूब चला। प्रतिस्पर्धा की यह भावना ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध जैन तथा बौद्ध स्तोत्रों में अधिक प्रकट हुई है। जैन स्तोत्रों में कहीं तो हिन्दू देवताओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है और कहीं उन्हें अपने तीर्थंकरों से अत्यन्त हीन सिद्ध किया है। भक्तामरस्तोत्र की निम्नलिखित उक्तियाँ ही देख लीजिए—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानाद् व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥
ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजः स्फुरन् मणिषु याति यथा महत्त्वम् नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

जिन की स्तुति में भूपाल कवि की यह उक्ति भी लीजिए —

कन्तोः सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चिन्मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिम् ।
मोघीकृतत्रिदशयोषिदपाङ्गपातस्तस्य त्वमेव विजयी जिनराज ! मल्लः ॥[1]

साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर कुछ ऐसे स्तोत्र भी लिखे गए जिनमें साम्प्रदायिक दर्शन और सिद्धान्तों का भी जानबूझ कर समावेश किया गया। इन स्तोत्रों को प्रचार-विज्ञप्ति कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि अनुभूति की जो गहनता गीतिकाव्य में अपेक्षित है उसका इनमें पूर्णतया अभाव है। उपास्य देव-विशेष के प्रति भक्ति-भावना के स्थान में दर्शन और सिद्धान्तों का समावेश ही कवि का अभीष्ट हो उठा है। कहीं कहीं तो विविध आगमों की ही नामनिर्देशपुरःसर स्तुति की गयी है। भक्ति के क्षेत्र में उपास्य के साथ तन्मयता की स्थिति में जिन भावों की अनुभूति हुआ करती है उनका लेशमात्र भी इन स्तोत्रों में नहीं मिलता। ऐसे स्तोत्र जैन साहित्य में विशेष रूप से पाए जाते हैं। कारण यह है कि जैन साहित्यकारों की प्रवृत्ति चित्रकाव्य की रचना कर शक्ति-प्रदर्शन करने की ओर ही अधिक थी। उदाहरणार्थ श्रीजिनप्रभसूरिविरचित सिद्धान्तागमस्तव का नाम लिया जा सकता है। बारहवीं शताब्दी के अन्त तक अनेक वैष्णवाचार्य हुए जिन्होंने भक्ति की सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक व्याख्या कर विभिन्न सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया। उत्तरवर्ती धार्मिक साहित्य एवं स्तोत्र रचना पर इस साम्प्रदायिक दर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। १५ वीं शताब्दी में गौडीय रसशास्त्र के आविर्भाव में शृंगारिक प्रवृत्ति के साथ इसका भी पर्याप्त योग था। बहुत से वेदान्ती स्तोत्र जिनमें कितने ही शंकरकृत बताए जाते हैं, काश्मीर के शैव सम्प्रदायियों द्वारा निर्मित रचनाएँ, दक्षिण के वैष्णव कवियों द्वारा रचित स्तुतियाँ और बंगाल के शाक्त अथवा तान्त्रिक स्तोत्र, सभी तत्कालीन विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों के उदाहरण हैं। यह सत्य है कि

1. जिनचतुर्विंशतिका, १२

इनका मूल धार्मिक विश्वासों की गहराई में उतरा हुआ है किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि ये प्रायः सम्प्रदायविशिष्ट के धर्मशास्त्रीय एवं दार्शनिक भार से दबे हुए हैं।

इस प्रकार स्तोत्र-साहित्य के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धार्मिक गीति-साहित्य का विकास भी शृंगारिक गीति-काव्य के समान हुआ। इसमे भी प्रारम्भ में प्रकृति को महत्त्व दिया जाता था और प्राकृतिक तत्वों की स्तुति की जाती थी। जिस प्रकार शृंगारिक गीति काव्य मे प्रकृति का स्थान नारी ने ले लिया उसी प्रकार धार्मिक साहित्य में उपास्य के नर रूप ने उसके प्राकृतिक स्वरूप पर विजय पाई। शृंगारिक गीति साहित्य पर कामशास्त्र का भारी प्रभाव पड़ा तो धार्मिक गीति साहित्य पर तन्त्रों का। कामशास्त्र के प्रभाव से भी वह अछूता नहीं है। नखशिख-वर्णन की परिपाटी दोनो मे ही एक साथ कुछ आगे पीछे आयी और उत्तर काल में पाण्डित्य-प्रदर्शन, चमत्कार-सृष्टि, शब्दों की करामात आदि का समावेश भी काव्य-शास्त्र के प्रभाव के साथ साथ एक जैसा ही हुआ। इस समानता का कारण स्पष्ट है भावोद्बोध के आलम्बन भिन्न होते हुए भी दोनों की बाह्य परिस्थितियाँ समान ही थी।

—:o:—

८

# युगप्रवर्तक कवि जयदेव

## पृष्ठभूमि

बारहवीं शताब्दी के समाप्त होते-होते भारतीय साहित्य-धारा मे फिर एक नूतन मोड आया जिससे शृङ्गारिक गीतिकाव्य के क्षेत्र मे भी कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओ का समावेश हुआ। नवीन विषय, अभूतपूर्व शैली, नूतन विचारधारा और अभिनव गतिविधि के कारण उसका स्वरूप ही बदल गया। इस परिवर्तन का मूल तत्त्व पुरानी धारा मे ही मौजूद था जो सामयिक वातावरण मे पनप उठा। इससे पूर्व शृङ्गारिक रचनाओ मे नायक नायिका अनिर्दिष्ट ही रहते थे। उनका नामोल्लेख आदि न करके 'स सा' आदि सर्वनाम-रूपों से ही काम चला लिया जाता था। यों तो हाल की गाथा सप्तशती मे ही राधा और कृष्ण का दो-एक गाथाओ मे उल्लेख मिलता है, गोपी-कृष्ण शिव-पार्वती आदि मिथुन-अभिधान सामान्य-वर्णन के मध्य मे यत्र-तत्र दृग्गोचर होते हैं, किन्तु यह प्रवृत्ति सामान्य नही थी। इस प्रकार की रचनाएँ इतनी सीमित हैं कि उन्हे एक अलग श्रेणी मे वर्गीकृत नहीं किया जा सकता किन्तु १२ वी शती मे इस प्रकार की रचनाओ का प्राधान्य हो गया और उत्तरोत्तर बढता ही गया। 'अत प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार इनको एक सामान्य प्रवृत्ति-जनित रचनाए मानकर अलग से वर्गीकृत कर देना अनुचित नहीं जान पडता। व्यक्ति विशेष की शृगारिक चेष्टाओ और भावनाओ का वर्णन करने वाली ये रचनाएँ भक्ति और शृङ्गार का ऐसा सम्मिश्रण उपस्थित करती हैं जिनका विवेचन एक दूसरे से विश्लिष्ट करके नही किया जा सकता। जिन निर्दिष्ट नायक नायिका को इनका अवलम्ब बनाया गया वे राधा कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण थे। कुछ रचनाएँ सीता-राम तथा शिव-पार्वती को लेकर भी हुइ किन्तु राधा-कृष्ण की लीलाओ के आगे उनमे कोई आकर्षण कवियो को नही दीख पडता था। अनिर्दिष्ट नायक-नायिका वाली परम्परा भी सम्प्रत रुक नहीं गई थी। वह भी विरल छुट-पुट रचनाओं को लेकर मन्द मन्द चल रही थी। इस परिवर्तन का कारण तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ थी अतएव उन पर यहा संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त जान पड़ता है।

## राजनैतिक स्थिति

राजनैतिक दृष्टि से देश की दशा बडी कमजोर थी। सारा देश छोटे छोटे भूखण्डो मे विभाजित था। ऐसी कोई केन्द्रीय शक्ति न रह गई थी जो छोटे छोटे

राज्यों के राजाओं को सगठित कर सकती। वे पारस्परिक द्वेष के संक्रामक रोग से पीड़ित थे। स्वार्थ की भावना अजेय होकर उनमें संघर्ष करा रही थी। भारत की इस दुर्बलता का लाभ उठाकर विदेशी लोग एक के बाद दूसरा आक्रमण कर अपने पैर जमाते चले जा रहे थे ऐसी स्थिति मे हिन्दुओ की राजनैतिक चेतना बिखर सी गयी थी।

## आर्थिक स्थिति

देश की आर्थिक दशा अच्छी थी। कृषि और व्यापार उन्नत अवस्था मे थे। भारत की सम्पत्ति की कहानिया विदेशों मे भी प्रचलित थीं। महमूद ने सम्पत्ति लूटने के ही उद्देश्य से भारतवर्ष पर आक्रमण किये थे। उत्तरी भारत के मन्दिरों की सम्पत्ति का विदेशी लेखको ने जो वर्णन किया है वह देश की खुशहाली का प्रमाण है। विदेशी यात्रियों ने भारत के विभिन्न भागों मे उत्पन्न होने वाले खाद्यान्नों फलों, मसालो तथा अन्य पदार्थों की प्रचुरता का वर्णन किया है तथा व्यापार की उन्नत अवस्था का उल्लेख किया है। मगध का चावल, काश्मीर के अंगूर और रत्नगिरि का नारियल प्रसिद्ध था[1]। याकूत का कथन है कि मदुरा के आसपास कपूर बहुतायत से उत्पन्न होता है। मार्को पोलो के अनुसार बगाल मे शक्कर और सोंठ की पैदावार अधिक थी। इब्नमर्दद ने मलाबार को काली मिर्चों का देश कहा है और मार्कों पोलो ने तो उसे भारत के ही नहीं विश्व के प्रान्तो मे सर्वश्रेष्ठ बताया है।[2] आर्थिक दशा अच्छी होने के कारण रहन सहन का, विशेष रूप से उच्च वर्ग का, दर्जा काफी ऊंचा था।

## सामाजिक दशा

जाति भेद अत्यन्त कठोर हो गया था और वही हिन्दू समाज, जिसने यवन, शक, कुशाण आदि विदेशी जातियो को आत्मसात् कर लिया था, अब सकीर्ण मनोवृत्ति का हो गया था। अलबरूनी ने लिखा है कि हिन्दुओ की कट्टरता का शिकार विदेशी जातियाँ होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र समझते हैं। वे उनके साथ खान-पान व विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उनका विचार है कि ऐसा करने से वे भ्रष्ट हो जायेंगे।[3]

उसका कथन है कि हिन्दुओं के पास बहुत उच्चकोटि की पुस्तके हैं किन्तु ये कतिपय शिक्षित व्यक्तियो के लिये ही हैं। सर्व साधारण का सम्बन्ध मूर्तियों और मन्दिरों मे निरर्थक साधनों और कष्टप्रद प्रतिबन्धनों से है। जनता की इस दशा पर विस्मित होकर उसने कहा है कि जिस देश मे अमृत की धारा बहती है वहाँ लोगों को विष-पान कराया जाता है। साधारण जनता अनुचित अन्धविश्वासो और अज्ञानान्धकार मे फँसी हुई कष्टकर जीवन बिता रही है।

1. देखिए, एज आफ स्ट्रगिल फार एम्पायर, पृष्ठ ५१६-५१७।
2. दी स्ट्रगिल फार एम्पायर, पृष्ठ ५२७।
3. डा० सत्यकेतु, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५६१।

स्त्रियों की दशा पहले से भी अधिक गिर गयी थी। इस युग में स्मृतियों की जो व्याख्याएं हुई उनके अनुसार स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिए। केवल शारीरिक अपवित्रता से ही नहीं, मानसिक अपवित्रता से भी उसकी रक्षा की जानी चाहिए। पत्नी को घर के काम-काज और उत्तरदायित्व में इतना व्यापृत रखा जाये कि उसे पर पुरुष की बात सोचने का अवसर ही न मिले।[1] इससे स्पष्ट है कि स्त्री को घर की चहारदीवारी में बन्द कर उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण किया जा रहा था। बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। स्त्रियों के कारण युद्ध होते थे। कन्याओं का बलपूर्वक अपहरण करके उनके साथ विवाह करने में राजाओं की शान समझी जाती थी। ऐसी दशा मे उन्हें अनचाहे व्यक्ति से भी विवाह करना पड़ता था। बाल-विवाह प्रचलित थे।

## धार्मिक स्थिति

जयदेव के आविर्भाव के समय भारतवर्ष में ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख थे। इस्लाम का पदार्पण भी हो चुका था किन्तु उसका यत्किञ्चित् प्रभाव पश्चिमी भारत में ही था। बंगाल में यह प्रभाव बाद मे पहुँचा। जैन धर्म भी भारत के एक कोने मे (गुजरात मे) पनप रहा था। बौद्ध और ब्राह्मण धर्म देश-व्यापी थे। इन दोनों ही धर्मों पर—विशेषरूप से बौद्ध धर्म पर—तान्त्रिक प्रभाव पड़ने के कारण धार्मिक विश्वासों मे बड़ी अराजकता फैली हुई थी।

तन्त्रों का सबसे अधिक प्रभाव शाक्त सम्प्रदाय पर पड़ा और जैसा कि डा० मजूमदार ने कहा है, शाक्त सम्प्रदाय निकृष्ट तान्त्रिक क्रियाओं का पर्यायवाची बन गया। शक्ति की उपासना का आधार उपनिषदों का ब्रह्मवाद है। शाक्तों के अनुसार ब्रह्म चिरन्तन शक्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। संसार के समस्त प्राणियो की उत्पत्ति माता के गर्भ से होती है। अतः रचनात्मक शक्ति पुरुष के रूप में न मानकर स्त्री के रूप में मानी जानी चाहिये। यही शक्ति प्रकृति है। दुर्गा, शिवा आदि उसी के नाम है। विभिन्न देवी देवताओं के रूप में यह शक्ति प्रतिफलित है। इसका स्वरूप आनन्दमय है।

इस आनन्दमयी शक्ति की उपासना भौतिक आनन्ददायक पदार्थों के साथ होती है। जिनमें पञ्च मकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—का विशेष महत्व है। मैथुन के सम्बन्ध मे कोई नियम नहीं। प्रत्येक वर्ण की स्त्री प्रत्येक वर्ण के पुरुष की उपभोग्या हो सकती है' विण्टरनिट्ज़ का कथन है कि शाक्त तन्त्रों के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि इन में मानव मस्तिष्क से प्रसूत उच्चतम विचारों से लेकर नीचतम विचारों तक एकत्र पाए जाते है। एक ओर तो इनमें देवत्व के विषय मे उच्चतम विचार तथा दार्शनिकता के दर्शन होते हैं और दूसरी ओर अधिक से अधिक जंगली अन्धविश्वास तथा भ्रामक रहस्यमय जादू-टोने और दुराचारों का वर्णन मिलता है[2]। श्री आर० सी० मजूमदार का कथन है

1. दी स्ट्रगिल फार एम्पायर, पृष्ठ ४८।
2. History of Indian Lit. Vol. 1

कि 'निकृष्ट तान्त्रिक सिद्धान्तों और क्रियाओं का वर्णन किसी भी आधुनिक ग्रन्थ में कर सकना असम्भव है'[1]। एक अन्य भारतीय विद्वान् ने इन्हें मानव दुराचारों में सबसे अधिक क्रान्तिकारी और भयानक कहा है।[2]

तन्त्रों का सबसे अधिक प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ा। अशोक के समय बौद्धों की जो तीसरी सभा हुई थी, तब बौद्धों में अठारह निकायों का विकास हो चुका था जिनमें से छः निकायों ने महासांघिक तथा बारह ने स्थविरवादी सम्प्रदाय स्वीकार किया। महासांघिक सम्प्रदाय बुद्ध को अलौकिक रूप देना चाहता था और स्थविरवादी उनके मानवरूप की रक्षा करना चाहता था। महासांघिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत एक निकाय था 'वैपुल्यवाद' जो आगे चलकर महायान के रूप में परिणत हुआ। वैपुल्यवादी अन्य निकायों से जिन विषयों पर मतभेद रखते थे उनमें से एक यह भी था कि वे किसी विशेष अभिप्राय से भिक्षु-भिक्षुणियों द्वारा मैथुन का सेवन विहित मानते थे। इसका कारण कदाचित् यह था कि अनेक युवक और युवतियाँ भी प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते थे। यद्यपि अलग अलग विहार होने के कारण भिक्षु-भिक्षुणियों के एक साथ रहने का अवसर नहीं मिलता था तथापि वे सबके सब मार को वशीभूत नहीं कर सकते थे। सम्भवतः इसी लिए वैपुल्यवादियों ने उपर्युक्त व्यवस्था दी। जब महायान सम्प्रदाय पर तान्त्रिक प्रभाव पड़ा और वह वज्रयान के रूप में परिणत हुआ तो उसने 'विशेष अभिप्राय' की आड़ में मैथुन की अनुमति प्रदान की और रहस्यपूर्ण शब्दजाल द्वारा मैथुन क्रिया को सम्यक् संबुद्ध बनने के लिए सहायक बताया। आठवीं सदी के बाद जब वज्रयान का भली-भाँति विकास हो गया तो वैपुल्यवादियों द्वारा बोया हुआ वह बीज महान् वृक्ष बन गया और सिद्धि को प्राप्त करने के इच्छुक भैरवी चक्र की आड़ में ऐसी बातें करने लगे जो धार्मिक संघ के लिए तो क्या सभ्य समाज के लिए भी घृणास्पद थीं[3]। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में जहाँ कहीं भी भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का प्रसार था, वज्रयान का प्रभाव सबसे अधिक रहा। बंगाल और मगध तो इसके गढ़ थे ही[4]।

वज्रयान में तन्त्र मन्त्र और हठयोग को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पहले बौद्ध लोग अपने धार्मिक 'सुत्तों' का पाठ करते थे। वैपुल्यवादियों ने सोचा कि शब्द में विशेष शक्ति होती है इसलिए संक्षिप्त शब्द समुदाय से भी वही फल प्राप्त हो सकता है। अतः इन्होंने छोटी छोटी पंक्तियों की धारणियाँ बनाईं। बाद में वे भी कष्टकर प्रतीत हुईं तो मन्त्रों की सृष्टि की। मन्त्र-शक्ति के विश्वास के साथ यौगिक क्रियाओं ने भी बौद्ध धर्म में प्रवेश किया। वज्रयान के छोटे छोटे मन्त्र अभीष्ट फल देने वाले थे और उसके गुरु लोग योग-क्रियाओं और गुह्य साधनाओं

1. एज ऑफ स्ट्रगिल फार एम्पायर, पृष्ठ ४०१।
2. आर० एन० मित्र, नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर, पृष्ठ २६१।
3. डा० सत्यकेतु, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५१७-५१८।
4. दी स्ट्रगिल फार एम्पायर, पृष्ठ ४१३।

द्वारा वज्रगुरु या सिद्धपद प्राप्त कर लेते थे। सिद्ध होने पर वे साधारण जीवन से ऊपर उठकर सदाचार-दुराचार, खाद्य-अखाद्य, उचित-अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्य के बन्धन से मुक्त हो जाते थे।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में, बंगाल में वज्रयानियों के एक वर्ग ने यन्त्र जप, देव-पूजा तथा अभिचार क्रियाओं के विरुद्ध आन्दोलन किया। उन्होंने कहा कि सत्य एक आध्यात्मिक वस्तु है, कृत्रिम और अस्वाभाविक मार्ग से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिए सहज मार्ग का अपनाना ही श्रेयकर है। इसलिए मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों को रोकने की आवश्यकता नहीं ; कामवृत्ति को भी नहीं। इस वर्ग ने मानव प्रकृति पर किसी भी प्रकार का बन्धन लगाने की अपेक्षा उसे अपने प्रकृत रूप में सत्य-प्राप्ति का साधन स्वीकार किया और इसीलिए अपने सम्प्रदाय का नाम सहजयान रखा। यौन योग की क्रियाओं में सहजयानी साधक वज्रयानियों से भी चार कदम आगे रहे[1]।

वैष्णव धर्म मे भी स्त्रीतत्त्व की प्रतिष्ठा हो चुकी थी यद्यपि उसका स्वरूप साधक की उपभोग्या रूप में नारी को स्वीकार करने वाले उपर्युक्त सम्प्रदायों से सर्वथा भिन्न था। इसमे स्वयं गोपी भाव को प्राप्त होना साधक का लक्ष्य था। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में आभीरों के प्रभाव से बालकृष्ण की लीलाएँ भागवत धर्म मे जोड़ दी गई थी। महाभारत में कृष्ण की किन्ही भी लीलाओं का उल्लेख नहीं मिलता। पाञ्चरात्र पद्धति मे वासुदेव कृष्ण की पूजा चतुर्व्यूह (चार रूपों) के साथ होती थी जिसके विस्तृत प्रतिपादन के लिए सन् ६००–८०० के मध्य में १०८ पांचरात्र संहिताएँ बनी। इन संहिताओं में भी तान्त्रिक प्रभाव काफी है।[2] धीरे धीरे कृष्ण की लीलाओं को महत्त्व दिया गया। गोपियों के साथ क्रीडाओं की कहानियाँ उनके चरित में जोड़ी गईं। ७वीं से ६वीं शताब्दी के बीच मैं विरचित भागवत पुराण मे श्री कृष्ण की लीलाओं का भक्तिपरक प्रतिपादन है। भागवत मे राधा का उल्लेख नहीं है। वैष्णव सम्प्रदाय में राधा की उपास्यरूप में प्रतिष्ठा अपेक्षाकृत बाद की वस्तु है। कृष्ण और गोपियों की शृङ्गार-लीलाओं के आधार पर वैष्णव सम्प्रदाय में देवदासी प्रथा चली। ११वीं १२वीं शताब्दी में यह प्रथा जोर-शोर से चल रही थी। धोयी ने अपने पवनदूत में एक कृष्णमन्दिर की देवदासियों का चित्रण करते हुए कहा है कि वे ऐसी प्रतीत होती थीं मानों लक्ष्मी अपने पति की सेवा के लिए भू-लोक में उतर आई हो।[3] समसामयिक अभिलेखों से भी, जिनमें एक मन्दिर से सम्बद्ध सैंकड़ों देवदासियों के शारीरिक सौन्दर्य का खुलकर वर्णन किया गया है, इस की पुष्टि होती है।[4] डा० मजूमदार

1. स्ट्रगिल फार एम्पायर पृष्ठ ४१३-१४।
2. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ १००।
3. पवनदूत, ५-२८।
4. एन० जी० मजूमदार, इन्सक्रिप्शन्स आफ बंगाल, पृष्ठ ३५।

के अनुसार यह प्रथा तान्त्रिक प्रभाव के कारण ही चली।[1]

लगभग इसी समय निम्बार्क ने वैष्णव भक्ति में राधा तत्त्व की प्रतिष्ठा कर राधा की भक्ति को शास्त्रीय रूप दिया और राधा की सहस्रों सखियों की कल्पना की। अपने दश श्लोकों में राधा की वन्दना करते हुए उन्होंने कहा है—

मैं वृषभानुजा राधा का ध्यान करता हूँ जो कृष्ण के वामाङ्ग में सुशोभित है। सहस्रों सखियों से परिवेष्टित तथा सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली हैं।[2]

संक्षेप में राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यह संघर्ष का युग था। भारतीय राजाओं में पारस्परिक द्वेष चरम सीमा पर पहुँच गया था। विदेशी आक्रान्ताओं के पैर जमने लगे थे। धार्मिक साधना के क्षेत्र में नैतिकता के स्थान में वामाचार का प्रभाव बढ़ रहा था। तन्त्रवाद के नाम पर उच्छृङ्खल नारी भोग, सुरा-पान आदि दुर्गुणों की वृद्धि हो रही थी और धार्मिक गुरु भोली भाली जनता को गुमराह कर रहे थे। ऐसे अवसर पर जनता की कुत्सित शृंगार भावना का उन्नयन कर उसे भगवद्-विषयक रति की ओर उन्मुख करने से दुर्गुणों के दूर हो जाने की संभावना का अनुभव होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि आचार्यों ने शास्त्रीय पद्धति पर भगवद्-भक्ति का प्रतिपादन किया जिससे जनता को रतिभाव का नया आलम्बन मिला। भक्ति को लौकिक प्रेमभाव के मेल में रखने के लिए राधा-कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण की लीलाओं के गान का समावेश भी निम्बार्क ने विशेष रूप से इस में कर दिया जिसका प्रभाव वज्रयानियों की पञ्चमकार साधना से ग्रस्त बंगाल और उसके समीपस्थ प्रदेश पर विशेष रूप से पड़ा। भक्ति की यह परम्परा, जो अब तक शताब्दियों से सूक्ष्म रूप में अनदेखी सी चली आ रही थी, सारे भारतवर्ष में फैल गयी। इन परिस्थितियों में अनेक कवियों द्वारा भक्ति और शृंगार की समवेत रचनाओं की सृष्टि स्वाभाविक ही थी। बहुत से कवियों में भक्ति की अपेक्षा शृङ्गार का ही स्वर प्रधान रहा। राधाकृष्ण की प्रेमकेलियों का गान ही इन कवियों का मुख्य ध्येय बन गया जिसमें अलौकिकता कम और लौकिकता अधिक थी। जयदेव ऐसे ही कवियों में से एक थे। यह बात अन्तः साक्ष्य से भी प्रमाणित होती है। अपनी रचना का उद्देश्य और महत्त्व जयदेव ने स्वयं इन शब्दों में प्रकट किया है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥ गीत गोविन्द १-३

यदि हरि-स्मरण में मन है और यदि विलास-कथाओं के प्रति कौतूहल है तो जयदेव की मधुर, कोमल, सुन्दर पदों से युक्त वाणी को सुनो।

इस श्लोक का पूर्वार्ध गीतगोविन्द के भावपक्ष का परिचय देता है और

1. दी स्ट्रगिल आफ एम्पायर, पृष्ठ ४०१।
2. दशश्लोकी।

उत्तरार्ध कलापक्ष की ओर संकेत करता है। 'हरिस्मरण' और विलासकलाओं का इसमें एकत्र समन्वय है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भक्ति और शृङ्गार की क्रमागत वर्णन-परम्पराओं का जयदेव ने जान-बूझकर गठ-बन्धन किया है। अपने पाठक के मानस में वे भगवल्लीलागान की सरसता के साथ विलास-कलाओं का कुतूहल भी देखना चाहते हैं। ये दोनों ही भाव उनके काव्य में गंगा-यमुना की भाँति मिल गये हैं जिसमें संगीत-पोषित कोमल पदावली की 'सरस्वती' भी आ मिली 'शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्' मे कवि ने अपनी वाणी की श्रवणीयता की ओर भी संकेत कर दिया है। वाणी की यह श्रवणीयता उसके द्वारा भक्ति और शृङ्गार की एकत्र समाहिति के कारण ही नही अपितु मधुर कोमल पदविन्यासिनी कामिनी के नुपुरों के रुन-झुन-सदृश नाद-सौन्दर्य के कारण भी है। उसकी कलात्मक रमणीयता भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि स्वयं जयदेव के अनुसार उसकी रचना का अध्ययन तीन दृष्टियों से होना चाहिये—

१— भगवल्लीलागान की दृष्टि से।

२— शृङ्गारिक भावनाओं की दृष्टि से।

३— पदावली अथवा गेय पदशैली की दृष्टि से।

किन्तु यह ध्यान भी रखना आवश्यक है कि ये तीनों तत्त्व एक ही इकाई के विभिन्न पहलू है। इनका प्रभाव व्यक्तिगत नही सामूहिक है जिसके कारण गीत गोविन्द 'गीत गोविन्द' है। इन बातों को दृष्टि मे रखकर यहा पूर्ववर्ती और परवर्ती गीति-साहित्य से जयदेव के लेन-देन पर विचार किया जायेगा।

## भगवल्लीला गान

*भगवल्लीला-गान की परम्परा बहुत पुरानी है। गोपाल कृष्ण विषयक* सब से अधिक कथाएँ हरिवंश पुराण मे हैं। इस पुराण मे कृष्ण के चरित्र को गोपियों के साथ सम्बद्ध कर लिया है। विष्णुपर्व के १२८ अध्यायों मे कृष्ण जीवन की पूरी कथा दी गयी है और कृष्ण के सौन्दर्य का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। पूतना-वध, शकटासुर-वध, यमलार्जुन-पतन, माखन-चोरी, गोवर्धन-धारण आदि सभी लीलाओं का इसमें विशद वर्णन है। पाश्चात्य विद्वानों ने हरिवंश पुराण का रचना-काल ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग माना है और अपने कथन की पुष्टि में हरिवंश पुराण मे आये हुए 'दीनार' शब्द को रखा है।[1]

जैसा कि कहा जा चुका है, कृष्ण-चरित में बाल-लीलाओं का समावेश आभीर जाति के प्रभाव के कारण हुआ। आभीरों में बाल-देवी और बाल-देवता की उपासना प्रचलित थी। बाल-देवता के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसका जन्म नीच घराने मे हुआ और पालन-पोषण एक दूसरे कल्पित पिता के यहाँ जिसे यह ज्ञान था कि वह उसका अपना बच्चा नहीं है और उसके बहुत से निरीह भाइयों की हत्या हो चुकी है। धेनुक-वध आदि की कथाएँ भी इन्हीं आभीरों के कारण कृष्ण

1. डा० हरवंश लाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य पृष्ठ १६१।

कथा में स्थान पा गयी ।[1] गोपियों के साथ कृष्ण की केलियों के विषय में भण्डारकर का मत है कि "घुमक्कड़ आभीर जाति के साथ जब आर्यों का निर्बाध संपर्क हुआ तो वासुदेव धर्म में कृष्ण-गोपी-लीलाओं का भी समावेश हो गया। अवश्य ही आभीर स्त्रियां आकर्षक और सुन्दर रही होंगी, जैसी कि आजकल अहीर ग्वालों की स्त्रियां होती हैं।"[2]

भक्ति के विकास-क्रम में नाम-कीर्तन और गुण-गान के साथ-साथ ही लीला-गान की परम्परा का भी विकास हुआ। सामयिक परिस्थितियों के कारण शृंगारिक लीलाओ के गान की ओर लोगो की प्रवृत्ति अधिक रही होगी और काल-भेद और देश-भेद के कारण लीला-गान की परम्परा मे कुछ परिवर्तन भी हुए होगे। इस प्रकार लीला-गान की एकाधिक परम्परा मे कुछ परिवर्तन भी हुए होंगे। इस प्रकार लीला-गान की परम्पराएँ अस्तित्व मे आ गई होगी जिन्हे यथावसर शास्त्रीय रूप दिया गया।

कृष्ण-लीला-गान-परम्परा का प्रमुख ग्रन्थ श्रीमदभागवत है। भागवत मे महाभारत मे लेकर पुराणकाल तक कृष्ण-चरित में समाविष्ट सभी तत्त्वों का समन्वित रूप उपलब्ध होता है। यहाँ आकर कृष्ण को अन्य सब अवतारों की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिलता है और वे भगवान् के पूर्ण अवतार मान लिये जाते हैं :—

एते चांशकलाः पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। श्री मद्भागवत १।३।२८॥

भागवत की रचना संभवतः नवी शताब्दी मे दक्षिण देश में हुई। श्री शंकराचार्य का अद्वैत मत प्राचीन भागवत धर्म का पोषक था। भक्ति पद्धति मे जिन नवीन तत्त्वों का समावेश आलवार और अदियार भक्तों के सम्पर्क से बढ़ रहा था, उन्हें शंकराचार्य ने अपने मत मे कोई स्थान नही दिया और न ही भक्ति को सर्वोपरि माना। श्रीमद्भागवत मे इसके विरोध मे ही भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। भागवत मे यह उल्लेख है कि कलियुग मे नारायण के भक्त कहीं-कही होंगे परन्तु द्रविड देश मे, जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी और महानदी नदियाँ बहती हैं, विशेष रूप से होगे। इन नदियो के जल का पान करने वालों के हृदय शुद्ध होंगे[3]। इससे प्रतीत होता है कि भागवत की रचना दक्षिण मे हुई और उस समय तमिल देश मे कृष्ण-लीला-गान का पर्याप्त विकास हो चुका था।

जयदेव के समय मे उत्तरी भारत में भी अपनी लीला-गान-परम्परा अवश्य रही होगी। जिस क्षेत्र में कृष्ण का लीला-धाम स्वय मौजूद हो उसमें उनके गायन की

1. जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, सन १६५७ पृष्ठ १८१।

2 The dalliance of Krishna with cowherdess, which introduced an element in consistent with the advance of morality into the 'Vasudeva religion, was also an after-growth consequent upon the freer intercourse between the wandering Abhiras and their more civilised Aryan neighbours...Besides, the Abhiran women must have been fair and handsome as those the Ahir Gavaliyas of the present day are. (*Quoted by Dr. H. L. Sharma, Sur aur Unka Sahitya. p. 192-93.*)

3. श्रीमद्भागवत ११।५ ३९–४०।

परम्परा न रही हो ऐसा हो नहीं सकता। भागवत तथा गीतगोविन्द के रास-वर्णन से इस तथ्य की पुष्टि भी होती है।

गीतगोविन्द में छोटे-छोटे बारह सर्ग हैं। सर्व प्रथम मङ्गलाचरण, प्रस्तावना रचनोद्देश्य और कवि परिचय के चार श्लोक हैं। इसके पश्चात् एक पद्य मे दशावतारों का वर्णन है। यह सब इस कृति का प्राक्कथन मात्र है। तत्पश्चात् मूलग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। एक सखी विरहोत्कण्ठिता राधा के समक्ष वसन्त का वर्णन करती है और दूर से गोपाङ्गनाओं के साथ रासासक्त कृष्ण को दिखाती हुई राधा को उनके रास से अवगत कराती है। इस पर ईर्ष्या-कषायित-हृदया राधा मान धारण कर लेती है। जब कृष्ण को इस बात का पता चलता है तो वे अन्य गोपियों का साथ छोड़कर राधा का विरह अनुभव करते हुए यमुना तट के एक कुञ्ज मे राधा की याद करने लगते है तथा राधा के पास एक दूती (सखी) भेजते हैं जो राधा को कृष्ण की विरह-वेदना की सूचना देती है। राधा की सखी भी कृष्ण के पास जाकर राधा की विरहावस्था का वर्णन करती है और कृष्ण को उससे मिलने के लिए प्रेरित करती है। इसी समय चन्द्रमा उदित हो जाता है और कृष्ण के आने मे विलम्ब जान कर राधा पुनः मानिनी बन जाती है। कृष्ण आते हैं और मान-मोचन का प्रयास करते है किन्तु राधा नही मानती। कृष्ण चले जाते हैं, सखी राधा को समझाती है और अभिसार की सलाह देती है। राधा का प्रसाधन होता है। इसके पश्चात् राधा के अभिलाष का वर्णन है। कृष्ण की उत्कण्ठा का वर्णन करके सखी राधा को अभिसारार्थ शीघ्रता करने के लिए कहती है। अभिसार सम्पन्न होता है। इसके बाद मे कृष्ण की रतिश्रान्ति और राधा की कृष्ण से पुनः प्रसाधन की प्रार्थना का वर्णन कर गीतगोविन्द की प्रशसा के साथ कवि अपनी कृति को समाप्त करता है।

गीतगोविन्द के इस कथानक से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि ने राधा-कृष्ण की रास-लीला का ही वर्णन किया है। अन्य लीलाओं की अपेक्षा कृष्ण चरित की यही विशेषता जयदेव जैसे रसिक कवि को जिसका उद्देश्य सहृदयों के विलासकला-कुतूहल को भी शान्त करना था, अधिक आकृष्ट कर सकती थी। श्रीमद्भागवत के रास से गीत गोविन्द के रास में मौलिक भेद यह है कि भागवत का रास शरद्-रास[2] है और गीत गोविन्द का बसन्त रास।[3] भागवत की गोपियां कृष्ण का वेणुगीत सुनकर मन्त्र-मुग्ध सी सब कुछ छोड़ कर यमुना तट पर उनके पास पहुंचती हैं। कृष्ण उन्हें समझाते हैं और पतिव्रता-धर्म का उपदेश देते हुए घर लौट जाने के लिए कहते हैं, किन्तु जब वे अनेक प्रकार से अपनी भक्ति की दुहाई देती हुई प्रार्थना करती हैं।[4] तो दयार्द्र होकर योगेश्वर आत्माराम श्री कृष्ण उनके साथ रमण करते हैं।[5] रास के

1. श्री मद्भागवत, ११।५।३८-४०.
2. भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः (भागवत, १० पू०, २६-१।
3. विहरति हरिरिह सरसवसन्ते, गीत गोविन्द प्रबन्ध १।
4. श्रीमद्भागवत १० पू०-२६-३१।
5. प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्, भागवत, १०-२६-४२।

इस पूर्व-प्रसंग का समावेश गीतगोविन्द में नहीं है। भागवत के रास का स्थान कुमुदामोदवायु यमुना का पुलिन[1] है किन्तु गीतगोविन्द का लवङ्गगन्ध से कोमल मलय-समीर वाला कोकिल-कूजित-कुञ्ज-कुटीर कानन।[2]

कृष्ण को अपने साथ रास-रत देखकर भागवत की गोपियों के मन में अभिमान का संचार हो जाता है जिसके व्यपोह के लिए कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। वियोगिनी गोपियाँ रोती-बिसूरती उन्हें खोजती हैं और उनकी लीलाओं का स्मरण एवं निरूपण करती हैं। लता-वृक्षों से कृष्ण को पूछती हुई वे वन में किसी विशेष गोपिका की पद-पंक्ति कृष्ण के पद-चिन्हों के साथ देखती हैं और उसके सौभाग्य को सराहती हैं, किन्तु जिस गोपी के साथ कृष्ण अन्तर्हित हुए थे वह भी कुछ दूर जाकर सौभाग्यमद के कारण कृष्ण से कहती है कि मैं चलने मे असमर्थ हूँ, आप जहाँ चाहे मुझे स्वय ले चले। इस पर कृष्ण उसे भी छोड़कर अन्तर्हित हो जाते हैं। कृष्ण को खोजती हुई गोपियाँ अपनी इस सखी को वियोगावस्था में वन में भटकती पाती है और सब मिलकर कृष्ण का गुन-गान करती हैं जिससे कृष्ण फिर प्रकट होकर रास करते हैं। भागवत में विशिष्ट गोपी की, जिसके साथ कृष्ण अन्तर्हित हुए थे और जिसका भागवत में कोई नाम नहीं दिया गया है, जो स्थिति है लगभग वही गीतगोविन्द मे राधा की है। गीतगोविन्द में राधा की सखी उसे अन्य गोपियों के साथ रामासक्त कृष्ण को दूर से दिखाती है जिससे राधा मानिनी बन कर सखी को कृष्ण के पास भेजती है। इसके बाद कृष्ण रास छोड़कर चले जाते हैं। यद्यपि गीतकार ने कृष्ण के रास छोड़ने का कोई कारण नहीं बताया है तथा वानीरकुञ्ज मे उन्मनस्क बैठे हुए कृष्ण का उल्लेख[3] यह सकेत करता है कि वे राधा के रोष के कारण ही रास छोड़कर चले गए हैं। इस प्रकार कृष्ण के रास छोड़ जाने के कारण भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर गोपियों की जो दशा हुई उसका भागवत में विस्तृत वर्णन है किन्तु गीतगोविन्द मे इस घटना के पश्चात् गोपियों का कोई उल्लेख नहीं, केवल राधाकृष्ण ही रगमञ्च पर रह जाते हैं। भागवत मे पुन.प्रवृत्त रास मे सभी गोपियाँ भाग लेती हैं किन्तु गीतगोविन्द मे केवल राधाकृष्ण की ही केलियाँ चलती हैं। इस प्रकार गीतगोविन्द का घटना-चक्र भागवत के घटना-चक्र से सर्वथा भिन्न हैं। दोनों की पृष्ठभूमि में भी पर्याप्त अन्तर है। सबसे बड़ा अन्तर भावना अथवा दृष्टिकोण का है। भागवत का रास आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से नीचे नहीं उतरता। गोपियाँ कृष्ण की सर्वान्तर्यामिता ईश्वरता और अलौकिकता को आद्यन्त दृष्टि में रखती हैं।[4] और कृष्ण अनासक्त रूप से रास में प्रवृत्त होते है क्योंकि गोपियाँ उनकी छाया ही तो है।[5] स्वयं गोपियाँ भी

1. भागवत, १०–२८–४५।
2. गीत गोविन्द सर्ग १, प्रबन्ध ३।
3. वही ३–१।
4. भागवत, १० पू० २६–४१।
5. रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः। श्रीमद्भागवत १०।३३।१७

देहाभिमान बोध से ऊपर उठी हुई हैं।[1] रास-वर्णन मे शृंगारिक चेष्टाओं का भी संयत वर्णन है। गीतगोविन्द मे भी यद्यपि प्रत्येक प्रबन्ध के अन्त मे कवि ने अपने नामोल्लेख के साथ हरि-स्मरण की याद भी दुहराई है किन्तु उद्दाम शृंगारिक चेष्टाओं और सुरत-व्यापारों की प्रचुरता को देखते हुए यह सब कुछ नगण्य है। भागवत के कृष्ण गोपियों मे अभिमान की झलक पाते ही उनकी उपेक्षा कर अन्तर्धान हो जाते हैं। जिस विशिष्ट कृपापात्र गोपी के साथ वे अन्तर्हित होते हैं उसे भी, जब सौभाग्य-मदाविष्ट पाते है, छोड़ जाते हैं। इस विशिष्ट गोपी के वियोग की भी कोई प्रतिक्रिया उनके हृदय पर नहीं होती क्योंकि वे वास्तव में आत्माराम हैं। पश्चात्ताप के रूप मे प्रायश्चित कर लेने पर ही गोपियाँ पुन: कृष्ण के दर्शन पा सकी। किन्तु गीतगोविन्द के कृष्ण पर राधा के मान की ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया होती है। वे रास छोड़ देते हैं, राधिका के पास दूती भेजते है, उसके विरह मे अत्यन्त दुखी होते हैं और स्वय उसे मनाने जाते है। ये सब तत्त्व इसी बात की पुष्टि करते है कि भागवत के कृष्ण अलौकिक पुरुष है और गीतगोविन्द के कृष्ण लौकिक नायक। अर्थात् जयदेव का दृष्टिकोण प्रधानतः शृंगारी है। सूक्ष्म कथानक के लघु-सूत्र मे नायिका के अनेक प्रकारो का चित्रण, प्रणय के विविध पक्षों मे प्रसगानुसार उद्भूत होने वाली भावनाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, कृष्ण द्वारा राधा के मान-मोचन-प्रयास आदि 'विलास-कथा' के ही आकर्षण को प्रमाणित करते है।

भागवत और गीतगोविन्द के रास-वर्णन मे कही-कहीं कुछ साम्य भी दिखायी देता है यथा–

काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिता।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।[2] भागवत १०–३३–१०॥

करतल-ताल-तरल-वलयावलि-कलित-कल-स्वन-वंशे।
रास-रसे सह नृत्यपरा हरिणा युवतिः प्रशशंसे।[3] गीतगोविन्द १–४–७॥

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पल-सौरभम्।
चन्दनलिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह।[4] भागवत १०–३३–१२॥

कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले।[5] गीतगोविन्द १–४–५॥

---

1. शरदर्कांशुजास्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत्।
देहाभिमानजं बोधं मुकुन्दो व्रजयोषिताम्॥ वही १०।२१।४०

2. कोई मुकुन्द के साथ स्पष्ट स्वर में उसके साधुवाद से सम्मानित होकर गान करती थी।

3. हरि करतलों से ताल देने में चंचल वलयों से मुखरित रास के आनन्द में नाचती हुई युवति की प्रशंसा करते थे।

4. उनमें से एक ने अपने कन्धे पर रखी हुई कृष्ण की कमलगन्ध चन्दन-लिप्त बाहु को चूम लिया।

5. किसी गोपी ने कान में कुछ कहने के बहाने पुलकित होकर प्रियतम के कपोल को चूम लिया।

नृत्यन्ती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।
पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात्स्तनयोः शिवम्[1]।। भागवत, १०–३३–१४।।
पीन-पयोधर-भारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम् ।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम् ।।[2] गीतगोविन्द १–४–३।।

सम्भव है जयदेव ने श्रीमद्भागवत को देखा हो और उससे कुछ प्रभावित भी हुए हों किन्तु प्रतिपादित भेद को देखते हुए केवल इस साम्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि जयदेव ने रास वर्णन के लिए पूरा कथानक भागवत से ग्रहण किया। स्पष्ट है कि उत्तरी भारत मे लीलागान की कोई स्वतन्त्र परम्परा रही होगी। इस विषय मे डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—'सम्भवतः १० वीं ११ वी शताब्दी मे भागवत परम्परा से भिन्न भी कोई लीला गान की शास्त्रीय परम्परा थी। जयदेव का गीतगोविन्द पूर्णरूप मे भागवत परम्परा का ग्रन्थ नहीं है।'[3] डा० एस० के० डे० ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किए हैं[4]। संक्षेप मे भागवत और गीत गोविन्द के लीलागान की तुलना से हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते है—

१— भागवत में आध्यात्मिकता का स्वर प्रबल है और गीतगोविन्द में लौकिकता का।
२— जयदेव की कृति का आधार भागवत-परम्परा से भिन्न लीला-गान-परम्परा है जिस से जयदेव ने अपना विषय ग्रहण किया और उसे अपनी प्रतिभा के बल पर अधिकाधिक काव्योपयोगी बना लिया। शायद भागवत से भी वे कुछ प्रभावित हुए हों।
३— राधा-पात्र की सृष्टि में पौराणिकों का उद्देश्य चाहे जो कुछ रहा हो किन्तु जयदेव ने प्रथम बार उसे प्रेम की प्रतिमा के रूप मे प्रतिष्ठित किया। भारतीय गीतिकाव्य की सबसे बड़ी देन है 'राधा', और उसे साहित्यिक रगमञ्च पर सर्वप्रथम उतारने वाले कवि है जयदेव।

जयदेव के विशद शृंगार-वर्णन को देख कर भले ही कुछ लोग उसमें अश्लीलता अथवा भद्देपन (वलगर एलिमेण्ट्स[5]) का अनुभव करें किन्तु उसका एक सामयिक सामाजिक महत्त्व भी है। जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों से स्पष्ट है, शृंगार-सुरा के व्यसनी समाज की चिकित्सा आवश्यक थी जिसका श्री गणेश जयदेव ने बड़ी कुशलता के साथ किया। शृगार के आसव में थोड़ी सी

1. नाचती गाती किसी गोपी ने, जिसकी मेखला और नुपूर बज रहे थे, पास में ही स्थित कृष्ण के हस्तकमल को थककर अपने कुचों पर रख लिया।

2. कोई-कोई गोपवधू सानुराग अपने पीन पयोधरों से कृष्ण का आलिङ्गन कर पञ्चम स्वर में अनुगान करती थी।

3. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १३७।

4. एस० एन० दास गुप्त एण्ड एस० के० डे० हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३१०।

5. दी स्ट्रगिल फार एम्पायर, पृष्ठ ४३३।

भक्तिरस की मात्रा मिलाकर उन्होंने कम से कम उसके प्रभाव को हलका कर देने की पद्धति को आगे बढ़ाया। समाज से बुरी तरह चिमटी हुई इस भावना के उन्नयन का इससे अच्छा कोई अन्य उपाय हो भी क्या सकता था ?

## शृङ्गार-वर्णन

निःसन्देह शृंगारिक वर्णन तथा अन्य साहित्यिक कारणों की दृष्टि से गीत गोविन्द का महत्त्व और भी अधिक है। जयदेव को अपने समय में प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं का पूरा-पूरा ज्ञान था। काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों का उन्होंने अध्ययन किया था और शृंगार के रसराजत्व से वे भली-भांति परिचित थे। गीतिकाव्य की जो दो प्रमुख धाराएं —शृंगारिक और धार्मिक— बहुत दूर से समानान्तर चली आ रही थीं, उन दोनों का रस मिलाकर जनता को आचमन कराने की ओर तो कवियों की प्रवृत्ति गाथासप्तशती के ही समय से चली आ रही थी। समय की आवश्यकता के अनुसार जयदेव ने उन दोनों धाराओं को मोड़कर एक स्थान पर मिला दिया और ऐसा मिलाया कि विवेकी विद्वद्हंस भी इस नीर-क्षीर को अलग करने मे असमर्थ रहे। इतना ही नहीं, इस नवीन धारा में उन्होंने काव्य-शास्त्रीय नायिका-भेद का संमिश्रण भी कर दिया जिसका स्रोत ऐसी रचनाओं में कहीं कहीं हलकी झलक दिखाता हुआ बह रहा था। इस प्रकार जयदेव ने प्रथम बार उन सब तत्त्वों को भक्ति के क्षेत्र मे एकत्र सन्निविष्ट किया जो विशेषतया गौडीय वैष्णवों की परम्परा मे पृथक् नायिका-भेद की सृष्टि के कारण बने और सामान्यतया उत्तरकालीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करते हुए अन्त में क्रमशः क्षीणशक्ति होकर रीतिकालीन कवियों की राधा-कृष्ण विषयक उक्तियो में विलीन हो गए। विविध प्रसगों और परिस्थितियो की कल्पना कर उन्होंने राधा को विभिन्न प्रकार की नायिकाओं की भूमिका मे प्रस्तुत किया है। उदाहरण लीजिए—

१ उत्कण्ठिता

सखि हे केशीमथनमुदारम्।
रमया मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम्[1] ॥ गीत गोविन्द ५ ॥

२. प्रोषितपतिका

निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम्।
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम् ॥
माधव मनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना।
सा विरहे तव दीना[2] ॥ गीत गो० ६ ॥

---

1. सखि ! केशी-संहारक उदार कृष्ण से मेरा मिलन कराओ। मैं काम से पीडित हूँ।

2. हे माधव ! वह तुम्हारे विरह में अत्यन्त दीन हो गयी है, चन्दन और चन्द्रकिरणों की निन्दा करती है। मलयानिल को सर्प-निलय के संपर्क के कारण गरलतुल्य समझती है और काम के बाणों से भयभीत सी भावना से तुम में लीन है।

३. वासक सज्जा

नाथ हरे! सीदति राधाऽऽवास गृहे।
विहितविशदबिसकिसलय वलया।
जीवति परमिह तव रतिकलया ॥ नाथ हरे० ४ ॥
मुहुरवलोकितमण्डनलीला।
मधुरिपुरहमिति भावनशीला ॥ नाथ हरे० ५ ॥

यही वासकसज्जा विप्रलब्धा बनकर विलाप भी करती है—

भवति विलम्बिनि विगलितलज्जा।
विलपति रोदिति वासकसज्जा ॥ नाथ हरे[1]० ॥ ७ ॥

४. विप्रलब्धा

कथितसमयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्।
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम्।
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवञ्चिता।
तत्किं कामपि कामिनीमभिसृतः किं वा कलाकेलिभि-
र्बद्धो बन्धुभिरन्धकारिणि वनाभ्यर्णे किमुद्भ्राम्यति।[2]
कान्तः क्लान्तमना मनागपि पथि प्रस्थातुमेवाक्षमः।
सङ्केतीकृतमञ्जुवञ्जुललताकुञ्जेऽपि यन्नागतः ॥ गीत गो० १३ ॥

५. खण्डिता

रजनिजनितगुरुजागररागकषायितमलसनिवेशम्।
वहति नयनमनुरागमिव स्फुटमुदितरसाभिनिवेशम्।
हरि हरि याहि माधव! याहि केशव! मा वद कैतववादम्।
तामनुसर सरसीरुहलोचन! या तव हरति विषादम्[3] ॥ गीत गो० १७ ॥

तवेदं पश्यन्त्याः प्रसरदनुरागं बहिरिव।
प्रियापादालक्तच्छुरितमरुणद्योति हृदयम्।
ममाद्य प्रख्यात-प्रणयभर-भङ्गेन कितव!
त्वदालोकः शोकादपि किमपि लज्जां जनयति।

---

1. हे कृष्ण राधा आवासगृह में दुःख पा रही है। मृणाल के वलय धारण कर अलंकृत हुई वह तुम्हारे ध्यान में मग्न है और तुम्हारी रतिकला (की आशा) से ही जीवित है।

2. बताये हुए समय पर भी कृष्ण नहीं आये। मेरा निर्मल रूप और यौवन व्यर्थ है। सखी जन के वचनों से ठगी हुई मैं किसकी शरण जाऊँ? इस वेतसकुञ्ज में वे नहीं आये। क्या कहीं अन्यत्र अभिसार किया? क्या बन्धुओं ने बाँध लिया? अँधेरे वन में भटक गये या थकान के कारण न आये।

3. तुम्हारी आँखें रात भर जागने के कारण रक्तवर्ण तथा अलसाई हुई हैं। वे स्पष्ट अनुराग धारण किये हैं। माधव! हटो, जाओ, बातें मत बनाओ। उसी का अनुसरण करो जो तुम्हारा विषाद हरती है।

६. कलहान्तरिता

तामथ मन्मथखिन्नां रतिरसभिन्नां विषादसंपन्नाम् ।
अनुचिन्तितहरिचरितां कलहान्तरितामुवाच रहसि सखी ।। गीत० ६।१ श्लोक ।।

७. अभिसारिका

मुग्धे मधुमथनमनुगतमनुसर राधिके !
घन-जघनस्तनभारभरे ! दरमन्थरचरणविहारम् ।
मुखरितमणिमञ्जीरमुपैहि विधेहि मरालनिकारम् ।
× × ×
अधिगतमखिलसखीभिरिदं तव वपुरपि रतिरणसज्जम् ।
चण्डि ! रसितरशनारव डिण्डिममभिसर सरसमलज्जम् ।। मुग्धे ३ ।। ६ ।।

८. स्वाधीन-पतिका

कुरु यदुनन्दन ! चन्दनशिशिरतरेण करेण पयोधरे ।
मृगमदपत्रकमत्र मनोभव-मङ्गलकलश-सहोदरे ।। १ ।।
निजगाद सा यदुनन्दने क्रीडति हृदयानन्दने ।। ध्रुवपदम् ।।
× × ×
रचय कुचयोश्चित्रं पत्रं कुरुष्व कपोलयो-
र्घटय जघने काञ्चीं मुग्धस्रजा कबरीभरम् ।
कलय वलयश्रेणीं पाणौ पदे मणिनूपुरा-
विति निगदितः प्रीतः पीताम्बरोऽपि तथाकरोत् ।

शृङ्गार के संयोग और विप्रलम्भ, दोनों पक्षों की विविध अवान्तरदशाओं और व्यापारों का चित्रण जयदेव ने किया है। गीत गोविन्द का प्रारम्भ ही वसन्त ऋतु के वर्णन से हुआ है जिसे भारतीय कवि समुदाय बहुत पहले से संयोगियों के लिये वरदान और वियोगियों के लिए अभिशाप के रूप में चित्रित करता आया है। जयदेव ने भी परम्परा के ही अनुसार वसन्त के प्रभाव का वर्णन किया है। एक ओर तो वासन्तीकुसुमसुकुमारा यथवा राधा कन्दर्पज्वरजनित चिन्ता से आकुल है और दूसरी ओर ललितलवङ्गलताओं का स्पर्श करने वाले मन्द मलय समीर से युक्त तथा मधुकर निकर एवं कोकिलकूजित कुटीर में कृष्ण का व्रजयुवतियों के साथ विहार चल रहा है। कृष्ण के लिये यह वसन्त सचमुच सरस है—

विहरति हरिरिह सरसवसन्ते ।

किन्तु विरही जन के लिये तो वसन्त दुरन्त ही है—

नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।

दुरन्तता का कारण यह है कि केवड़े की गन्ध वाला वायु ईषद्विकसित मल्लिका के पराग रूपी पटवास से वनों को सुवासित करता हुआ हृदय को जलाया करता है प्रवासी लोग मधु गन्ध के लोभी भौरों से घिराई हुई आम्रमञ्जरी पर

क्रीडा करती हुई कोयलो को काकली से कणज्वर उत्पन्न करने वाले दिनों को प्रियतमा के ध्यानगम्य समागम के रस से जैसे तैसे बिताते हैं।

दरविदलितमल्लीवल्लिचञ्चत्पराग—
प्रकटितपटवासैर्वासयन काननानि ।
इह हि दहति चेत केतकीगन्धबन्धु
प्रसरदसमबाणप्राणवदगन्धवाह ॥

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलरवरुदगीणकणज्वरा ।
नीयन्ते पथिकै कथ कथमपि ध्यानावधानक्षण
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासरमी वासरा ॥

माधवी एव मल्लिका के परिमल से ललित वसन्त मुनियो के मन पर भी मोहनी डाल देता है। (प्रर्णायियो को अनायास रत्यनुकूल करने के कारण) यह तरुणजनो का अकारण बन्धु है—

माधविकापरिमललिते नवमालिकयातिसुगन्धौ।
मुनिमनमामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ।

इसी वसन्त का प्रभाव है कि मुग्धवधुए भी प्रौढा समान रमण करती हैं—

हरिरिह मुग्धवधूनिकर विलासिनि विलसति केलिपर ।
पीनपयोधरभारभरेण हरि परिरभ्य सरागम ।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम ॥ ३ ॥
कापिविलासविलोलविलोचनखेलनजनितमनोजम ।
ध्यायति मुग्धवधूरधिक मधुसूदनवदनसरोजम ॥ ४ ॥
कापि कपोलतले मिलिता लपितु किमपि श्रुतिमूले ।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयित पुलकैरनुकूले[1] ॥ ५ ॥

गीतगोविन्द का वसन्तवर्णन सयोग श्रृङ्गार की क्रीडाओ के चित्रण की पृष्ठ-भूमि है। वसन्त वर्णन ही नहीं जयदेव का सारा ही प्रकृतिचित्रण श्रृगार के उद्दीपन की दृष्टि से चित्रित हुआ है। इक्कीसवें प्रबन्ध मे अभिसारिका राधा को सकेतकुञ्ज मे प्रविष्ट होने के लिए प्रेरित करती हुई सखी के द्वारा कुञ्ज का वर्णन देखिए—

मञ्जुतरकुञ्जतलकेलिसदने ।
विलसरतिरभसहसितवदने ।
मृदुचलमलयपवनसुरभिशीते ।
विलस मदन-शर निकरभीते।

1 गीतगोविन्द प्रबन्ध' ४ ।

विततबहुवल्लिनवपल्लवघने ।
विलस चिरमलसपीनजघने ।
मधुमुदितमधुपकुलकलितरावे ।
विलस कुसुमशरसरसभावे ।
मधुरतरपिकनिकरनिनदमुखरे ।
विलसदशनरुचिरुचिरशिखरे[1] ।

प्रकृति का यह चित्रण नायक-नायिका की उद्दाम शृंगार-क्रीडाओं की भूमिकामात्र है। नायिका के तल्पारोहण से लेकर सुरतविमर्दविगलित प्रसाधन के पुनः प्रसाधित करने तक के व्यापारों का वर्णन जयदेव ने बड़ी रुचि के साथ किया है जिस पर पूर्ववर्ती शृंगारिक कवियों का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित होता है। उदाहरण लीजिए—

त्वं मुग्धाक्षि ! विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीम् ।
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो ।
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ।। अमरुक २७ ।।

'अयि मुग्धाक्षि ! इस कञ्चुकिका के बिना ही तुम मनोहर छवि धारण करती हो' यह कहते हुये ज्यों ही प्रिय ने कञ्चुकी की ग्रन्थि का स्पर्श किया त्योंही शय्या के छोर पर बैठी हुई नायिका की आँखों में भरे हर्ष से आनन्दित सखी-वर्ग धीरे से झूठे-सच्चे बहाने बनाकर खिसक गया।

अमरुक के इस श्लोक का उत्तरार्ध जयदेव के निम्नलिखित श्लोक के पूर्वार्ध में व्याप्त है—

भजन्त्यास्तल्पान्तं कृतकपटकण्डूतिपिहित-
स्मितं याते गेहाद्बहिरवहितालीपरिजने[2] ।
प्रियास्यं पश्यन्त्याः स्मरपरवशाकूतसुभगं
सलज्जा लज्जापि व्यगमदिव दूरं मृगदृशः ।। गीत गो० सर्ग ११ ।।

झूठी खुजलाहट से अपनी मुसकान को छिपाती हुई, शयन के एक ओर बैठी प्रेयसी की सावधान सखियाँ एवं परिजन घर से बाहर निकल गये तो काम-वश प्रिय के मुख को साभिप्राय देखती हुई उस मृगनयनी की लज्जा भी मानों लजाकर दूर खिसक गयी।

---

1. रति के वेग से सस्मित मुख वाली ! सुन्दर कुञ्जों के केलिगृह में विलास कर। काम के शरों से भयभीत ! कोमल मन्द और चपल मलयपवन से सुगन्धित एवं शीतल कुञ्जगृह में आनन्द भोग। अलसित और पुष्ट जङ्घाओं वाली ! फैली हुई अनेकानेक लताओं के किसलयों से सघन केलिकुञ्ज में विलास कर। आदि।

और उत्तरार्ध अमरुक के एक दूसरे श्लोक से प्रभावित प्रतीत होता है—

सुप्तोऽयं सखि सुप्यतामिति गताः सख्यस्ततोऽनन्तरं
प्रेमावेशितया मया सरलया न्यस्तं मुखे तन्मुखे ।
ज्ञातेऽलीकनिमीलने नयनयोर्धूर्तस्य रोमाञ्चतो
लज्जासीन्मम तेन साप्यपहृता तत्कालयोग्यैः क्रमैः । अमरुक ३७ ।

'सखि यह सो गया है, तू भी सो जा' कह कर जब सखियां चली गयी तो मैंने प्रेम के आवेश मे अपना मुख सीधे-स्वभाव प्रिय के मुख पर रख दिया किन्तु इस धूर्त के रोमाञ्च से उसके झूठे ही नयन मूंद लेने का भेद खुला तो मुझे लज्जा आ गयी किन्तु उसने समयोचित व्यापारो से उसे भी हर लिया।

जयदेव ने मनुष्य की धन्यता का मानदण्ड यह माना है—

ईषन्मीलितदृष्टिमुग्धविलसत्सीत्कारधारावशा-
दव्यक्ताकुलकेलिकाकुविकसद्दन्तांशुधौताधरम् ।
शान्तस्तब्धपयोधरं भृशपरिष्वङ्गात्कुरङ्गीदृशो
हर्षोत्कर्षवियुक्तनिःसहतनोर्धन्यो धयत्याननम् ॥ गीत गो० सर्ग १२

वह पुरुष धन्य है जो गाढ आलिंगन के कारण शान्त एवं स्तब्ध उरोजों वाली तथा हर्ष के आधिक्य से शिथिलित शरीर वाली मृगनयनी के कुछ-कुछ मुंदीसी आंखों और सीत्कार की परम्परा एवं आकुल केलियों के कारण फैलती हुई दन्तकान्ति से अलंकृत अधर वाले मुख का पान करता है।

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानां ।
मुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् ।
उपरि सुरतखेदस्विन्नगण्डस्थलीनाम् ।
अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ।[1]

जयदेव की इस चुम्बन-चतुर नायिका को भी देखिये—

कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले ।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले[2] ।

अमरुक का नायक भी ऐसा ही है जिसकी शिकायत नायिका अपनी सखी से कर रही है—

अहं तेनाहूता किमपि कथयामीति विजने ।
समीपे चासीना सरसहृदयत्वादवहिता ।
ततः कर्णोपान्ते किमपि वदताघ्राय वदनं ।
गृहीता धम्मिल्ले स च मया गाढमधरे [3] ।

---

1. शतक त्रयादि सुभाषित, पृष्ठ ४८ ।
2. गीतगोविन्द प्रबन्ध ४ ।
3. अमरुक ६८ ।

'तुमसे एकान्त में कुछ कहना है' यह कह कर प्रिय ने मुझे बुलाया और मैं बड़े ध्यान के साथ पास बैठ कर सुनने लगी, तब कान के समीप कुछ कहते हुए उन्होंने मेरा मुख चूम लिया और केश पकड़ लिये तब मैंने भी कसकर उनका अधर पकड़ा लिया।

आलिंगन-चुम्बन का ही चित्रण करके जयदेव तृप्त न हो सके। विपरीत रति का भी उन्होंने खुलकर चित्रण किया है। एक बार नहीं तीन-तीन बार—

उरसिमुरारे रुपहितहारे घन इव तरलबलाके।
तडिदिव पीते रतिविपरीते राजसि सुकृतविपाके।[1]

पुण्यशालिनि! चंचल बक-पंक्ति से युक्त मेघ के समान मुक्ताहार से शोभित कृष्ण के वक्षस्थल पर विपरीत सुरत के समय, तुम विद्युत् के समान शोभा पाती हो।

स्मरसमरोचितविरचितवेशा।
गलितकुसुमदरविलुलितकेशा।
कापि मधुरिपुणा विलसति युवतिरधिकगुणा॥ १॥
हरिपरिरम्भणवलितविकारा।
कुचकलशोपरि तरलितहारा॥ २॥
विचलदलककलिताननचन्द्रा।
तदधरपानरभसकृततन्द्रा॥ ३॥
चञ्चलकुण्डलदलितकपोला।
मुखरितरसनजघनगतिलोला॥ ४॥
दयितविलोकितलज्जितहसिता।
बहुविधकूजितरतिरसरसिता॥ ५॥
विपुलपुलकपृथुवेपथुभङ्गा।
श्वसितनिमीलितविकसदनङ्गा॥ ६॥
श्रमजलकणभरसुभगशरीरा।
परिपतितोरसि रतिरणधीरा॥[2] ७॥

कोई उत्तमगुणशालिनी युवति स्मर-समय के योग्य वेष धारण कर मधुरिपु के साथ विलास कर रही है। उसका केश-पाश शिथिल हो गया है जिसमें गुँथे हुए पुष्प गिर गये हैं। हरि के आलिंगन से उसका काम-विकार उद्दीप्त हो गया है। कुच रूपी कलशों पर पड़ा हुआ हार चंचल हो उठा है। अलकों के खिसक आने से उसका मुखचन्द्र और भी शोभित हो रहा है और वह प्रिय के अधर-मधु के नशे में डूबी सी जा रही है। चपल कुण्डलों के आघात से उसके कपोल घिसे जा रहे

1. गीत गोविन्द प्रबन्ध ११।
2. वही „ १५।

हैं। प्रिय दृष्टि मिलने पर वह लजाती हुई मुसका देती है। सुरत-जन्य विविध रसितों (ध्वनियों) से वह मुखरित है। उसका शरीर रोमाञ्चित और कम्प से युक्त है, सांस फूल रहा है। आँखें मुंदी जा रहीं हैं। काम बढ़ रहा है, शरीर पसीने से लथपथ है और लो रति-रण में डटकर सामना करने वाली वह युवती प्रिय के उर पर गिर पड़ी।

> दोर्भ्यां संयमितः पयोधरभरेणापीडितः पाणिजै-
> राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः श्रोणीतटेनाहतः।
> हस्तेनानमितः कचेऽधरमधुस्यन्देन संमोहितः।
> कान्तः कामपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गतिः।

भुजाओं से बाँधा हुआ, पयोधर-भार से पीडित, नखों से आविद्ध, विक्षत-अधर पुट, जघन-प्रदेश से आहत और हाथ से कच-ग्रहपूर्वक झुकाकर अधरमधु के प्रभाव से सम्मोहित प्रिय ने अद्भुत तृप्ति का अनुभव किया। आश्चर्य ! काम की गति कैसी उल्टी होती है ?

> वामाङ्गे रतिकेलिसंकुलरणारम्भे तया साहस-
> प्रायं कान्तजयाय किंचिदुपरि प्रारम्भि यत्सम्भ्रमात्।
> निष्पन्दा जघनस्थली शिथिलिता दोर्वल्लिरुत्कम्पितं।
> वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिद्ध्यति।

रति केलियों से व्याप्त सुरत-समर आरम्भ होने पर उसने प्रियतम को जीतने के उद्देश्य से अचानक ऊपर आकर जो साहसिक कार्य किया उससे उसका जघन-स्थल निस्पन्द हो गया, भुजलताएँ शिथिल हो गयी, (सांस फूलने से) वक्ष काँपने लगा और आँखे बन्द सी हो चलीं। भला स्त्रियों में पुरुषार्थ कहाँ सिद्ध हो सकता है ?

उपर्युक्त उदाहरण गीत गोविन्द की शृंगाररसनिर्भरता का परिचय देने के लिये पर्याप्त हैं। इन्हे एक आध ही स्थान पर 'हरि' का नाम जोड देने से भक्ति-परक नहीं माना जा सकता। समूचा वर्णन साधारण नायक-नायिका-परक ही सिद्ध होता है। गीत गोविन्द के कथावस्तु से अलग करके देखने पर तो ये तथा अन्य ऐसे ही पद सामान्यतया अमरुक जैसे शृंगारी कवियों की रचना से टक्कर लेते दिखाई देते हैं और कथानक के प्रसंग मे भी भक्ति की अपेक्षा शृंगार रस के प्राधान्य की ही धारणा को पुष्ट करते हैं जिससे यह सशय होने लगता है कि हिन्दी के रीतिकालीन कवियों का 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो' कहीं इन्हीं से तो प्रोत्साहित न हुआ हो। प्रेम का वैसा ही विलासमय आदर्श जयदेव के इस श्लोक में देख लीजिए—

> आश्लेषादनु चुम्बनादनु नखोल्लेखादनु स्वान्तज—
> प्रोद्बोधादनु संभ्रमादनु रतारम्भादनु प्रीतयोः।

अन्यार्थं गतयोर्भ्रमान्मिलितयोः संभाषणैर्जानतो-
र्दम्पत्योरिह को न को न तमसि व्रीडाविमिश्रो रसः ।।

'अन्य नायिका तथा नायक से समागम के प्रयोजन से (अलग-अलग) गये हुए पति-पत्नी अंधेरे में (संयोग से) भ्रमवश (एक दूसरे को वही समझते हुए जिस के लिए गए थे) मिल गए और क्रमशः आलिंगन, चुम्बन, नखोल्लेख, कामोद्दीपन और सुरत-आरम्भ से प्रसन्न होते हुए जब वार्तालाप से एक दूसरे को पहिचान गए तो उनका सुरत रस अकथनीय लज्जा से परिपूर्ण था।'

यह श्लोक लीलागान से अकस्मात् ही कुछ विषयान्तरित कवि की सामान्य उक्ति नहीं है अपितु 'पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाहः प्रतिक्रिया' के अनुसार उसके मानस का स्वाभाविक उद्‌गार है जो उसके भावजगत् को अनेक आवरणों से बाहर लाकर स्वाभाविक रूप से सामने रख देता है।

विरह की अनेक दशाओं, शृंगार के अन्तर्गत अनेक सञ्चारियों और कामशास्त्रीय ढंग की रतिकेलियों, कचग्रह, चुम्बन, नखच्छद, रदच्छद, वस्त्रपरिवर्तन आदि के चित्रण और मान मनाव, दूती-सप्रयोग आदि बातें शृंगार की मुक्त परम्परा का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण लीजिए—

अभिलाष

सखि हे केशीमथनमुदारम् ।
रमय मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम् ।

चिन्ता

त्यजति न पाणितलेन कपोलम् ।
बालशशिनमिव सायमलोलम् ।

× × ×

किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण ।
किं धनेन जनेन किं मम जीवितेन गृहेण ।

स्मरण

हरिरिति हरिरिति जपति सकामम् ।

मरण

विरहविहितमरणेव निकामम् ।

व्याधि

कन्दर्पज्वरसंज्वरातुरतनोराश्चर्यमस्याश्चिरम् ।
चेतश्चन्दनचन्द्रमःकमलिनीचिन्तासु संताम्यति ।
किन्तु क्लान्तिवशेन शीतलतनुं त्वामेकमेव प्रियं ।
ध्यायन्ती रहसि स्थिता कथमपि क्षीणा क्षणं प्राणिति ।

आवेग

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम् ।
विलपति हसति विषीदति रोदति चञ्चति मुञ्चति तापम् ।

वितर्क और चिन्ता

भ्रूचापे निहितः कटाक्षविशिखो निर्मातु मर्मव्यथां ।
श्यामात्मा कुटिलः करोतु कबरीभारोऽपि मारोद्यमम् ।
मोहं तावदयं च तन्वि तनुतां बिम्बाधरो रागवान् ।
सद्वृत्तः स्तनमण्डलस्तव कथं प्राणैर्मम क्रीडति ।।

असूया

नायातः सखि निर्दयो यदि शठस्त्वं दूति किं दूयसे ?
स्वच्छन्दं बहुवल्लभः स रमते किं तत्र ते दूषणम् ?

दैन्य

बाधां विधेहि मलयानिल ! पञ्चबाण !
प्राणान् गृहाण न गृहं पुनराश्रयिष्ये ।
किं ते कृतान्तभगिनि ! क्षमया तरङ्ग-
रङ्गानि सिञ्च मम शाम्यतु देहदाहः ।।

चिन्ता मूर्च्छा आदि सञ्चारियों के साथ पुलक, वेपथु और स्वेद आदि सात्त्विक भावों का यह मिश्रण शृंगाररस का ही पानक प्रस्तुत करता है—

सा मां द्रक्ष्यति वक्ष्यति स्मरकथां प्रत्यङ्गमालिङ्गनैः ।
प्रीतिं यास्यति रंस्यते सखि ! समागत्येति चिन्ताकुलः ।
स त्वां पश्यति वेपते पुलकयत्यानन्दति स्विद्यति ।
प्रत्युद्गच्छति मूर्च्छति स्थिरतमःपुञ्जे निकुञ्जे प्रियः ।।

वियोगियो के लिए वियोगावस्था मे चार प्रकार के मनोविनोद स्थानों का उल्लेख मल्लिनाथ ने मेघदूत की टीका मे किया है। प्रियसदृशवस्तु का दर्शन, प्रिय के चित्र का दर्शन, स्वप्नगत प्रिय का दर्शन और प्रिय द्वारा स्पृष्ट पदार्थों का स्पर्श। गीतगोविन्द मे इन सब का समावेश हुआ है—

विलिखति रहसि कुरंगमदेन भवन्तमसमशरभूतम् ।
प्रणमति मकरमधो विनिधाय करे च शरं नवचूतम् ।। (प्रबन्ध ८)

यहाँ कवि ने अपनी प्रतिभा के उन्मेष से प्रियसदृशवस्तु एवं प्रिय के चित्र दोनों को मिलाकर एक कर दिया है। कामदेव राधा के प्रियतम कृष्ण के ही समान है अतः वह कृष्ण का चित्र कामदेव के रूप में चित्रित करके दर्शन और प्रणाम करती है। विरहावस्था मे नींद तो कहाँ ? राधा ध्यानलीन होकर कल्पना से कृष्ण को सामने उपस्थित कर लेती है—

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम् ।
विलपति हसति विषीदति रोदिति चञ्चति मुञ्चति तापम् ।

और कृष्ण राधा के अंग का स्पर्श करने वाले पवन से उड़ायी हुई धूलि को ही पाकर कृतकृत्य से हो जाते हैं—

बहु मनुतेऽतनु ! ते तनुसङ्गतपवनचलितमपि रेणुम् । (प्रबन्ध ११)

कालिदास के यक्ष की भी यही दशा थी। उसी के शब्दों में सुनिए—

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां ।
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाताः ।
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ।। (मे० दू० उ० ४४)।।

प्रिय-मिलन-जनित हर्ष का भी एक उदाहरण लीजिए—

अतिक्रम्यापाङ्गं श्रवणपथपर्यन्तगमन—
प्रयासेनेवाक्ष्णोस्तरलतरतारं गमितयोः ।
इदानीं राधायाः प्रियतमसमायातसमये ।
पपात स्वेदाम्बुप्रसर इव हर्षाम्बुनिकरः ।

सुरत-श्रम से खिन्न लजीली नायिका की मनोहरता जयदेव ने इस प्रकार चित्रित की है—

व्याकोशः केशपाशस्तरलितमलकैः स्वेदमोक्षौ कपोलौ ।
क्लिष्टा बिम्बाधरश्रीः कुचकलशरुचा हारिता अंगयष्टिः।
काञ्चीकान्तिर्हताशा स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्यः।
पश्यन्ती सत्रपा सा तदपि विलुलिता मुग्धकीर्तिधिनोति।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि गीत गोविन्द में भगवल्लीलागान के अंकुर पर प्रचलित शृङ्गारिक भावना की कलम रोपी गयी है जिससे उसका स्वरूप ही परिवर्तित हो गया। यद्यपि उसका धार्मिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि साधारण सहृदय उसे शृंगार-प्रधान काव्य ही मानेगा। इसीलिए श्री वरदराजाचारी का कथन है कि यद्यपि भक्तिभावपूर्ण गीति की दृष्टि से उसका मूल्य कम नहीं किया जा सकता तथापि शृङ्गारिक गीति की दृष्टि से इसका मूल्य और भी अधिक है।[1] डा० एस० एन० दास गुप्त का मत है कि यद्यपि यह काव्य शृंगारिक स्वरूप लिए हुए हैं—विशेष रूप से साधारण पाठक के लिए—किन्तु हरि-भक्तों के हृदय में इसके गीत किसी प्रकार की यौनभावना का सञ्चार नहीं करते—बल्कि उनके हृदय में राधा और कृष्ण की अलौकिक लीलाओं का प्रकाश आलोकित करते हैं। यह कृष्णरूपी परमात्मा प्राप्ति के लिये राधा रूपी आत्मा की कामना

1. Although its value as a devotional lyric cannot be minimised, its value as an erotic lyric, is greater. (*A History of the Sanskrit. Lit.* p. 95)

की उतनी अभिव्यक्ति नहीं करता। एक सच्चे वैष्णव के लिए यह राधाकृष्ण की परम लीलाओं का चित्रण है जिनमे भक्त धार्मिक अनुभूति और भक्ति के साथ प्रविष्ट होता है।[1] इसके विपरीत डा० एस० के० डे का कथन है कि यह काव्य कोई प्रशस्तिपूर्ण स्तोत्र नहीं है अपितु राधा कृष्ण की रासलीला के अत्यन्त शृंगारमय कथानक से सम्बद्ध है।[2] आगे वे फिर लिखते है कि जयदेव द्वारा राधा-कृष्ण के कथानक का घोर शृंगारिक रूप में चित्रण ब्रह्मवैवर्तपुराण के कथानक से मिलता जुलता है किन्तु इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नही कि जयदेव उससे प्रभावित हुए हों।[3] इसमे सन्देह नहीं कि चैतन्य सम्प्रदाय वालों ने गीतगोविन्द को पूर्णरूपेण सम्प्रदायिक महत्त्व प्रदान किया है और उनका सम्बन्ध विद्यापति की ही भाँति किसी न किसी प्रकार अपने सम्प्रदाय से जोडा है। उनकी दृष्टि मे गीतगोविन्द एक सुन्दर काव्य मात्र नहीं है अपितु एक परम पवित्र धार्मिक ग्रन्थ है जिसकी सगति वे अध्यात्म ज्ञान तथा रस शास्त्र से बैठाते हैं। इस बात को हम भी मानते हैं कि गौडीय रसशास्त्र गीतगोविन्द से प्रभावित हुआ। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि जयदेव इस सम्प्रदाय के गुरु थे। वास्तविक बात यह है कि गीतगोविन्द का थीम और स्पिरिट ऐसे है जो गौडीय रसशास्त्र से सबद्ध किये जा सकते हैं। वस्तुतः इस काव्य का प्रणयन रसशास्त्र के प्रकाशन से तीन सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने उसकी अपनी भावनाओं के अनुकूल व्याख्या कर ली। इससे न तो जयदेव ही उस सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित सिद्ध होते है और न ही गीतगोविन्द सर्वथा धार्मिक या साम्प्रदायिक ग्रन्थ प्रमाणित होता है। बिहारी-सतसई के आयुर्वेदपरक और शान्तपरक अर्थ भी लोगों ने किये हैं किन्तु बिहारी न तो आयुर्वेद के आचार्य ही थे और न ही सन्यासी।

हमारी दृष्टि से तो जयदेव परवर्ती साम्प्रदायिक आचार्यों की भाँति किसी प्रकार के साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से प्रेरित होकर कवि-कर्म मे प्रवृत नही हुए। 'हरिस्मरण' की बात उन्होने सवा सोलह आने असाम्प्रदायिकता के साथ कही है। वे जन्मजात कवि थे, सरस्वती के कृपा-पात्र और प्रतिभा के चहेते थे। उनका कवि होने का दावा प्रत्येक गीत मे मुखरित हुआ है और वे सब से पहले कवि है, बाद मे कुछ और। हरि का भजन भी वे करते होंगे। किन्तु उनका भक्त-रूप कविरूप की अपेक्षा निश्चयपूर्वक कम झलक पाया है और उनके भावुक हृदय ने राधा-कृष्ण के प्रेम-कथानक का जो भावमय कवित्वपूर्ण चित्रण किया है उसमें मानवीय प्रेम का पूरा चित्र उभर आया है। यह उनके व्यक्तित्व का और विशेषतया काव्य का आकर्षण था जिसके कारण अनेक सम्प्रदाय उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ने का लोभ

1. *A History of Sansk. Lit.* by S. N. Das Gupta and S. K. De, Editor's note 667.

2. वही पृष्ठ ३६० ।

3. वही ,, ३६२ ।

संवरण न कर सके। चैतन्य सम्प्रदाय के अतिरिक्त बंगाल का सहजिया सम्प्रदाय भी उन्हें अपना आदि गुरु तथा नौ रसिकों में से एक समझता है[1]। उनके असाम्प्रदायिक होने का यह भी एक सबूत है कि बहुत से सम्प्रदाय उनसे सम्बन्ध जोड़ने में गौरव का अनुभव करते हैं।

श्री विनयमोहन शर्मा ने ठीक ही कहा है कि गीतगोविन्द में लयशृंगार की प्रधानता सम्भवतः युगधर्म कही जा सकती है। यदि गीतों के आध्यात्मिक सकेतों को पृथक् कर दिया जाय तो वे शुद्ध-कला-सौन्दर्य के प्रदर्शक रह जाते हैं।

डा० डे का यह कथन सर्वथा उचित है कि—

Jayadeve, it is true, emphasises the praise and worship of Krsna, but his work is not, at least in its form and spirit, the expression of an intensely devotional personality in the sense in which Lilashuka's poem is, and no influence of Lilashuk is traceable in Jayadeve.

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, जयदेव ने अपने पहले से चली आती हुई शृंगारिक गीति परम्परा तथा लीलागान की परम्परा को परस्पर मिला दिया। इतना ही नहीं, डा० एस० के० डे के अनुसार भले ही गीतगोविन्द प्रशस्तिपरक स्तोत्र न हो किन्तु उस परम्परा से प्रभावित अवश्य है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में जो आशीर्वादात्मक उक्तियाँ हैं उनमें से बहुत सी शृंगारिक मुद्राओं और चेष्टाओं का ही चित्रण प्रस्तुत करती है किन्तु अनेक मे कृष्ण-चरित्र-विषयक अन्य लीलाओं का भी संकेत जिस ढंग से किया गया है वह गुणगानात्मक स्तोत्र-परम्परा से, जो लीलागान से अलग अपना वैशिष्ट्य रखती है और जिसके अन्तर्गत शंकराचार्य के भक्ति-स्तोत्र आते हैं, स्पष्ट रूप में प्रभावित है।

एक अन्य और श्लोक में कृष्ण को सफलतापूर्वक वीर रस का आश्रय चित्रित किया गया है किन्तु उसके मूल में भी कवि का रतिभाव ही है—

जयश्रीविन्यस्तैर्महित इव मन्दारकुसुमैः।
स्वयं सिन्दूरेण द्विपरणमुदा मुद्रित इव।
भुजापीडक्रीडाहतकुवलयापीडकरिणः ।
प्रकीर्णासृग्बिन्दुर्जयति भुजदण्डो मुरजितः[4] ॥

अर्थात् खेल खेल में ही अपनी भुजाओं से कुवलयापीड हाथी का वध करने वाले मुरविजेता कृष्ण के, हाथी के रुधिरकणों से व्याप्त होने के कारण जयलक्ष्मी

1. S. K. De. *Hist. of Sans Lit.* pp. 392
2. हिन्दी गीत गोविन्द की भूमिका।
3. *Hist. of Sans. Lit. p. 392.*
4. गीतगोविन्द सर्ग ११।

द्वारा मन्दार-कुसुमों से पूजित एवं सिन्दूर से मुद्रित सा प्रतीत होते हुए भुजदण्ड की जय !

इस प्रकार जयदेव ने शृंगार, लीलागान तथा स्तोत्र परम्परा का अद्वितीय समन्वय कर दिया। शृंगार के क्षेत्र को उन्होंने व्यापकता प्रदान की। उनकी रचना पर विहंगम दृष्टि डालने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि शृंगारिक जगत् में पहले से चली आती हुई रूढ़ियों को ही उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया और इस दृष्टि से उन्होंने उससे लिया ही, दिया कुछ नहीं, किन्तु तनिक ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र मे भी उन्होंने क्रान्तिकारी कार्य किया है। उनकी मौलिक उद्भावना की छाप शृंगार के कोमल कलेवर पर इतनी गहरी बैठी कि शताब्दियों तक वह कवियों की तल्लीनता का कारण बनी रही। यह उद्भावना राधा को शृंगार के रंगमञ्च पर एक सर्वथा नये रूप और वेश मे प्रस्तुत करती है। राधा-कृष्ण को नायक-नायिका का रूप देकर मानवीय प्रेम-चित्रण की परम्परा का श्रीगणेश यहीं से होता है। जैसा कि इस अध्याय की भूमिका मे हम कह आये हैं, इससे पूर्व शृंगारिक रचनाओं मे विशेषकर मुक्तकों मे नायक नायिका का नाम निर्देश नहीं हुआ करता था। 'स सा' आदि सर्वनाम रूपों से ही काम चला लिया जाता था। यद्यपि शिव-पार्वती, गोपी-कृष्ण आदि मिथुन अभिधान भी यत्र तत्र दृग्गोचर होते थे किन्तु इस प्रकार की रचनाएं नगण्य थी। जयदेव ने शृंगार के मन्दिर में राधा-कृष्ण की पूर्णतया प्रतिष्ठा की और उनका स्वरूप इतना आकर्षण बनाया कि उत्तरवर्ती कवियों के लिए वे स्वयं आदर्श बन गए। संस्कृत के ही नहीं, क्षेत्रीय भाषाओं के कवि भी उनकी राधा को अपने काव्य की नायिका बनाकर कृतार्थ हो गए। मैथिली के विद्यापति, बंगला के चण्डीदास तथा व्रज के अनेक कवियों ने कृष्ण और राधा को प्रेम तथा प्रतीति का पर्याय मानकर चित्रण किया। धार्मिक जगत् मे भी उसका स्वागत हुआ। उसके स्वरूप की बड़ी भारी प्रतिक्रिया हुई। अनेकानेक वैष्णव सम्प्रदायो ने उसे अपनाया और गौडीय आचार्यों ने तो उसके आधार पर अलग से भक्ति के क्षेत्र मे नायिका-भेद की प्रतिष्ठा की। व्यापकता गम्भीरता और आकर्षण की दृष्टि से यह एक महान् प्रभाव था जो जयदेव के युग-प्रवर्तक होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। किन्तु जयदेव के महत्त्व की कहानी यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। उनके काव्य की सबसे बडी विशेषता उसकी कलात्मकता में है।

## गेयपद शैली

संस्कृत के पुराणपन्थी छन्दों की अवहेलना न करते हुए भी जयदेव ने कविता को एक नया परिधान दिया और ध्रुवक देकर पद लिखने की परम्परा को बल दिया। यह सत्य है कि संस्कृत में पद लिखने की प्रथा छुट-पुट रूप में उनसे पहले भी रही थी किन्तु गीतगोविन्द में उसका इतना प्राञ्जल और प्रौढ स्वरूप अभि-व्यक्त हुआ है कि आगे के कवियों के लिए यही प्रेरणा का स्रोत बन गया और इसके

अनुकरण पर दर्जनों काव्यों की रचना हुई। इस रचना की गेयपद शैली जो अभी तक संस्कृत साहित्य में अनदेखी सी ही थी एकबारगी अप्रत्याशित सदृश प्रकट हुई। यह एक ऐसा जबर्दस्त परिवर्तन था जिस को देखकर पिशेल तो चकरा ही गये। गीतगोविन्द की असाधारण शैली को देखकर उन्होंने सोचा कि यह अजनबी वस्तु संस्कृत के बाने में कहीं अन्यत्र से आ धमकी है। उन्होंने झट से अनुमान कर लिया कि मूलतः गीतगोविन्द अपभ्रंश में लिखा गया होगा। यह संस्कृत संस्करण उसी का अनुवाद है[1]। यह मत मैक्समूलर के 'प्राकृतमत' (Prakrit theory) के समान ही निराधार तथा हेय है। इसमें तो सन्देह नहीं कि गेयपदशैली का प्रादुर्भाव पहले अपभ्रंश में ही हुआ और अब तक के उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सर्वप्रथम सरहपा ने इसका साहित्य में प्रयोग किया किन्तु उनके समकालीन शंकराचार्य के नाम से प्रचलित स्तोत्रों में भी ध्रुवक देकर अन्त्य तुक सहित पद्य मिलते हैं। हमारा अनुमान है कि गीत शैली को सरहपा ने लोकसाहित्य से अपनाया। शंकराचार्य की रचनाओं मे इस शैली का जो कुछ प्रभाव लक्षित होता है वह भी कदाचित् लोक-साहित्य का ही प्रभाव है। इस विषय पर पाँचवें अध्याय में विचार किया जा चुका है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि सरहपा की भाषा तत्कालीन लोक-भाषा से बहुत भिन्न नहीं है। धीरे धीरे साहित्यिक और लोक अपभ्रंश में अन्तर होता गया। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है कि अपभ्रंश के गान करने योग्य पदों का बहुत अधिक साहित्य था। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में दो प्रकार की अपभ्रंश की चर्चा की है। एक तो वह अपभ्रंश जिसकी चर्चा उन्होंने अपने अपभ्रंश व्याकरण में की है। यह साहित्यिक भाषा थी, दूसरी ग्राम्य अपभ्रंश जो सम्भवतः लोकभाषा थी और जीवित थी। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह भाषा अधिक अग्रसर भाषा है। इस प्रकार की ग्राम्य अपभ्रंश भाषा में रासक डोम्बिका आदि श्रेणी की गेयरचनाएँ लिखी जाती थीं। ग्यारहवीं शती के अब्दुल रहमान का सन्देशरासक भी ऐसा ही है, गेयपदों का अपभ्रंश साहित्य बहुत थोड़ा ही बचा है[2]।

डा० डे का कथन है कि पदावली, जो गीतगोविन्द के कलेवर के अधिकांश में व्याप्त है, वास्तव में जनभाषा मे प्रचलित अभिव्यक्ति पद्धति का प्रतिरूप है, संगीतमय छन्द तथा अन्त्य तुक और ध्रुवक प्राचीन संस्कृत साहित्य में कठिनता से ही कहीं प्रयुक्त हुए होंगे। स्वयं 'पदावली' शब्द का प्रयोग भी, जो बाद के बंगाली गीतों में इतना प्रचलित हुआ, संस्कृत में इस अर्थ मे कहीं नहीं हुआ है अपितु जन साहित्य से ही ग्रहण किया गया है[3]। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि गीतगोविन्द का प्रणयन उस युग में हुआ था जब संस्कृत कविता ह्रासोन्मुख हो चली थी। अतः ऐसे समय में किसी प्रतिभाशाली कवि के हृदय में समसामयिक

1. *Die Hofdichter des Laksmansena*, p. 22.

2. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १४-१५।

3. S. K. De, *Hist. of Sansk. Lit*, p. 394.

जनभाषा-साहित्य की उचित प्रवृत्ति का समावेश कर उसमें स्पन्दन भरने की भावना का उन्मेष होना अस्वाभाविक नहीं था। इसके अतिरिक्त, गीतगोविन्द की पदावलियों में संस्कृत साहित्य की परम्पराएँ—शृंगार वर्णन की रूढियाँ, अलंकृत वर्णन शैली, अनुप्रास और यमक का आधिक्य—अपने मौलिक रूप में सन्निहित हैं और यह सब कुछ आयासजन्य नहीं है अपितु इस रचना की साहित्यिक अभिव्यक्ति का अविभाज्य अंग है। ये विशेषताएँ अपभ्रंश और प्राकृत साहित्य में शायद ही कहीं लक्षित होती हों।

एक उदाहरण लीजिए—

> दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसंदीपकं।
> गतिर्जनमनोरमा विजितरम्भमूरुद्वयम्।
> रतिस्तव कलावती रुचिरचित्रलेखे भ्रुवा—
> वहो विबुधयौवत वहसि तन्वि! पृथ्वीगता॥

शब्द-महिमा द्वारा राधा में मदालसा, मनोरमा, रम्भा आदि अनेक अप्सराओं की प्रतिष्ठा इस पद्य में कर दी गई है। यह प्रवृत्ति संस्कृत की अपनी है जिससे परिचित कोई भी विद्वान् यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हो सकता कि यह किसी अपभ्रंश पद का अनुवाद है। यह तो स्वयं भी अन्य किसी भाषा में अनूदित नहीं किया जा सकता। अस्तु, अपभ्रंश से गेयपदशैली संस्कृत में आयी और उसने गीतगोविन्द को प्रभावित किया; यह तो माना जा सकता है, किन्तु गीतगोविन्द किसी अपभ्रंश रचना का अनुवादमात्र है यह अविश्वसनीय ही नहीं भ्रान्त और उपहसनीय भी है। डा० कीथ का मत भी यही है। वे लिखते हैं कि

"यह नितान्त असम्भव है कि इस काव्य का मूलरूप संस्कृत के अतिरिक्त अन्यत्र रहा हो। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि तुक (अथवा अन्त्यानुप्रास) के प्रयोग ने जो अपभ्रंश साहित्य में अनिवार्यतः मौजूद है, गीत गोविन्द के रचयिता को प्रभावित किया हो।" (सं० सा० इति० पृष्ठ १९७)

वस्तुतः लीला के पद बहुत पहले से लिखे जाते रहे थे। कब से लिखे जा रहे थे यह तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छन्दों के गेयपदों में कृष्ण लीलागान करने की प्रथा अवश्य चल रही थी। बौद्ध सिद्धों के गान, चण्डीदास के पद और विद्यापति के पद बंगाल और उसके आस पास में रचे गए थे। जयदेव का जन्म भी बंगाल में ही हुआ था। उनकी साधनाभूमि भी वहीं थी। इन तथ्यों के आधार पर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि उड़ीसा और बंगाल में इस प्रकार के गान लोकभाषा में बहुत दिनों से प्रचलित रहे होंगे[2] और उन्हीं के अनुकरण पर जयदेव ने ये गान लिखे होंगे। इस दृष्टि से जयदेव पर

१. सं० सा का इति०, पृष्ठ १९७।

२. वही पृष्ठ १९८।

लोकसाहित्य का प्रभाव असम्भव नहीं किन्तु पूर्वी भारत में ही नहीं पश्चिमी भारत में भी टेक या ध्रुवक देकर पद लिखने की परम्परा जयदेव से शताब्दियों पहले से चली आ रही थी। राजपूताने के नाथ-सिद्धों के भजन बहुत पुराने हैं। लोकभाषा मे ही क्यों, संस्कृत मे भी ऐसे पद लिखे जाने लगे थे। दशम शताब्दी के काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने दशावतारचरित मे गोपियों के मुख से जो गीत गवाया है वह गीतगोविन्द के पदों की ही जाति का है। वह गीत यह है—

ललित-विलास-कला-मुख-खेलन !
ललना-लोभन-शोभन-यौवन ! मानितनवमदने।
अलिकुलकोकिलकुवलयकज्जल ।
कालकलिन्दसुताविवलज्जल ! कालियकुलदमने।
केशिकिशोरमहासुरमारण !
दारुण गोकुलदुःखविदारण ! गोवर्धनधरणे।
कस्य न नयनयुग रतिसंगे
मज्जति मनसिजतरलतरंगे, वररमणीरमणे[1]।

इससे सूचित होता है कि पश्चिम भारत मे भी लोकभाषा मे उस प्रकार के गीत प्रचलित थे जिस प्रकार के गीतगोविन्द में मिलते हैं। सारांश यह है कि दीर्घकाल से समूचे उत्तरी भारत में पूर्व से पश्चिम तक इस प्रकार के पद जनता में प्रचलित थे और, जैसा कि द्विवेदी जी ने अपने हिन्दी साहित्य में लिखा है, जनता के गीतो मे दो ही बातों की प्रधानता रहती है। शृङ्गार की और धर्म की। इस अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों में तत्कालीन सामाजिक दशा की ओर स्पष्ट सकेत किया गया है। उस दशा मे तो जनता के गीतों मे इन तत्त्वों की प्रमुखता और भी अधिक स्वाभाविक सिद्ध होती है। इस दृष्टि से जयदेव का उनसे प्रभावित होना असम्भव नहीं है। अपने काव्य का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है—

यद्गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद्वैष्णवं ।
यच्छृङ्गारविवेकतत्त्वरचनाकाव्येषु लीलायितम् ।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः ।
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः ।

गान्धर्व कलाओं में जो कुछ कौशल है, जो कुछ वैष्णव उपासना है, शृङ्गार-विवेक के तत्त्वों से युक्त काव्य रचनाओ मे जो कुछ लीला है, कृष्ण मे निरतमना जयदेव पण्डित द्वारा समाहित इन विशेषताओं को सुधीजन गीतगोविन्द में आनन्दपूर्वक प्राप्त करें।

निःसन्देह संगीत और भगवल्लीलागान के अतिरिक्त शृंगारमय काव्यों में जो कुछ तत्त्व मिलते हैं वे भी गीतगोविन्द में समाविष्ट हैं। इस श्लोक में 'गान्धर्व कला-

4. दशावतार चरित ८-१७३।

कौशल' शब्द विशेषतया उल्लेखनीय हैं। संगीत के अभूतपूर्व समावेश के साथ गीतगोविन्द का काव्य-सौष्ठव चमक उठा है। यही कारण है कि संस्कृत से अनभिज्ञ लोग भी इसकी पंक्तियों को सुनकर आनन्द से झूम उठते है। इन पंक्तियों के लेखक ने ऐसे समाज पर गीतगोविन्द के सम्मोहन का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा है जिसमे संस्कृत तो क्या हिन्दी जानने वाले भी बहुत कम थे। जब हम गीतगोविन्द के गान्धर्वकौशल पर विचार करते है तो पता चलता है कि कवि का तात्पर्य शास्त्रीय संगीत की साधना नहीं था। गीतगोविन्द का प्रचार शास्त्रीय संगीत के कारण नहीं हुआ। यह संकुचित विचार उसके रचयिता के व्यापक दृष्टिकोण मे आ ही नहीं सकता था। उसकी प्रतिभा इस बात को जानती थी कि पदबद्ध पद्धति से जनसाधारण की रुचि के अधिक निकट पहुँचा जा सकता है और वे भी संगीत का आस्वादन कर सकते है। फिर भी इस रचना के विषय मे कुछ बहुत भ्रान्ति फैल रही है। उदाहरणार्थ पटना से प्रकाशित 'साहित्य' शीर्षक पत्रिका के मार्च १९५१ के अङ्क के ५ वें पृष्ठ पर कहा गया है "संस्कृत काल मे भारतीय संगीत का जो शास्त्रीय रूप निर्मित हुआ था और जो" रूढ़िग्रस्त होकर दूर जा पड़ा था उसकी मुक्ति की आकांक्षा मे ही गीतगोविन्द की संगीतकला फूट पड़ी थी।" किन्तु भारतीय संगीत के मान्य विद्वानो की सम्मति मे न तो संस्कृत संगीत शास्त्र मे इस प्रकार की रूढ़िग्रस्तता उत्पन्न हुई थी और न इस कल्पित इतिहास का गीतगोविन्द से कोई सम्बन्ध ही है। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के संगीत विभाग मे शोध प्राचार्य श्री दानीएलू नेथ्री डा० सिद्धेश्वर वर्मा को उनके एक पत्र के उत्तर में १३-१-५१ को लिखा था कि 'गीतगोविन्द ने भारतीय संगीत शास्त्र मे एक नए युग का संचालन कर दिया, इसका कोई प्रमाण विद्यमान नहीं, उस युग का शास्त्रीय संगीत रूढ़िग्रस्त हो गया था, इसका भी कोई सबूत नहीं'। इतना ही नहीं, उक्त प्रो० साहब के अनुसार गीतगोविन्द सम्भवतः उन पुरानी रचनाओं मे से है जिनमें कविता को संगीत में विशेष स्थान दिया गया है, परन्तु संगीत की दृष्टि से यह मानदण्ड की अधोगति का ही परिचायक है[1]। यही विचार 'हिन्दुस्तानी संगीत' नामक ग्रन्थ के यशस्वी लेखक प्रो० रानाडे ने भी व्यक्त किया है। उनका कहना है कि गीतगोविन्द ने संगीत-शास्त्र की उन्नति पर कोई विशेष छाप नहीं डाली है। संगीत की दृष्टि से गीतगोविन्द का स्थान

1. By no existing evidence can the Geet Govind be stated to have created a new era in Indian Music......There is no existing evidence that the classical music of the time may have been stereotyped... It may have been one of the early compositions in which the poem is given a prominent part in relation to the music itself. This of course musically has to be considered as a lowering of standard.

(See *Dr. Siddheshwar Varma's* Preface *to Hindi-Geet-Govind.)*

गौण ही है। शार्ङ्गदेव ने अपने 'संगीत रत्नाकर' में इसका उल्लेख तक करने की परवाह नही की[1]। संगीत शास्त्र के इन विशेषज्ञों के उक्त मत इस बात की पुष्टि करते है कि जयदेव का प्रमुख उद्देश्य सगीत-साधना नहीं था प्रत्युत काव्य-साधना की गम्भीरता में उतरकर अपनी कृति को एक सर्वथा नूतन परिधान देना था। यह सत्य है कि जयदेव ने सगीत के विकास पर कोई छाप नही छोड़ी किन्तु यह उससे भी अधिक प्रत्यक्ष है कि उन्होने गीतिकाव्य के विकास पर अपनी अमिट छाप लगा दी। अपने गान्धर्व-कौशल को उन्होने कवि कर्म के ऊपर सवार न होने दिया अपितु सगीत को ही अपनी सरस्वती का मराल-वाहन बनाया।

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, जयदेव की वाणी का परिधान गांवों के गीतो मे शताब्दियों से चले आते हुए सूत्र से निर्मित हुआ, फिर भी वह ग्राम्य नही है, क्योंकि उसकी काट-छांट इस नये कलाकार के हाथों हुई जिसने उसके स्वरूप को सुविभक्त और सुडौल ही नही बनाया बल्कि शास्त्रीय पद्धति का हल्का सा रग देकर सौभाग्य सूचक भी बना दिया। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने ठीक ही कहा है कि 'पक्के राग के विशेषज्ञ प्रचलित भाषा से स्वतन्त्र ही रहना चाहते है। उनकी प्रवृत्ति तो यह होती है कि वे एक दो शब्दों को लेकर उन्ही को भिन्न भिन्न रूप से तोड़ मरोड़ कर गाते है। इससे प्रतीत होता है कि गीतगोविन्द का सगीत शास्त्रीय सगीत से स्वतन्त्र होता हुआ एक सर्वसाधारण ग्राह्य स्वरूप रखता है जिसका आधार लोकगीत समझना चाहिये[2]। टेक अथवा ध्रुवक के विषय में डा० कीथ का कथन है कि निःसन्देह ध्रुवक का प्रभावशाली प्रयोग धार्मिक कृतियों से लिया गया है। यह ऋग्वेद मे मिलता है तथा क्लासिकल धार्मिक गीति में भी, जिसमें तुक का भी प्रयोग हुआ है[3]।

ऋग्वेद में 'स जनास इन्द्र ? तस्मै देवाय हविषा विधेम' जैसे ऋक्‌चरण को प्रत्येक ऋक् के अन्त मे दुहराया गया है। इसे टेक का पूर्वरूप मान भी लें तो भी उसके बाद के साहित्य में इस प्रकार की रचनाओं का बहुत दूर तक बाहुल्य नही पाया जाता। यदि इक्के दुक्के श्लोको में कहीं यह विशेषता मिलती भी है तो वह आकस्मिक है क्योंकि उसका लगातार प्रयोग नही हुआ। शकर के नाम से प्रचलित कुछ स्तोत्रों में अवश्य ही योजनापूर्वक टेक का प्रयोग किया गया है किन्तु उसका सम्बन्ध मण्डूकप्लुति न्याय से ऋग्वेद से नही जोड़ा जा सकता। इसे समसामयिक अपभ्रंश रचनाओं का ही प्रभाव मानना पड़ेगा।

---

1. Geet Govind has not made any special marks of its own in the advancement of music. Musically Geet Govind has a minor place which Sarnga Deve did not even care to mention in his Sangit Ratnakar. (हिन्दी गीतिगोविन्द की भूमिका)
2. हिन्दी गीतगोविन्द की प्रस्तावना, पृष्ठ ३।
3. *Hist. of Sans. Lit.*, p. 198.

चौपाई और दोहा अपभ्रंश के अपने छन्द है। यद्यपि चौपाई की तर्ज संस्कृत के विद्युन्माला छन्द से मिल जाती है किन्तु दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि चौपाई एक मात्रिक छन्द है जिसके प्रत्येक चरण मे सोलह मात्राएँ होती है, जबकि विद्युन्माला वर्णिक छन्द है जिसके प्रत्येक पाद मे दो मगण और उनके बाद दो गुरु अक्षर होते है। अर्थात् उसके प्रत्येक पाद मे आठ गुरु होते हैं जो सोलह मात्राओ के बराबर है। दोनो की तर्ज की समानता का कारण यही है। चाहे चौपाई का विकास विद्युन्माला से ही हुआ हो किन्तु मात्रिक होने के कारण उसका प्रयोग विद्युन्माला की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक है। संस्कृत के काव्यो मे चौपाई छन्द का प्रयोग नहीं मिलता। इसका आविर्भाव अपभ्रंश साहित्य के साथ ही हुआ। जयदेव ने कई प्रबन्धों की रचना इसी छन्द मे की है। पहली अर्द्धाली के बाद ध्रुवक देकर वे आगे भी प्रत्येक अर्द्धाली के बाद उसे दुहराते रहे हैं। उदाहरणार्थ गीत-गोविन्द के नवम, द्वादश तथा चतुर्दश प्रबन्ध द्रष्टव्य है।

इसी प्रकार अपभ्रंश का दूसरा अत्यन्त प्रचलित छन्द है दोहा। यह एक मात्रिक छन्द है जिसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मे चौबीस चौबीस मात्राएँ होती है और ग्यारह तथा तेरह मात्राओं पर यति होती है। गीतगोविन्द के एक प्रबन्ध मे यह छन्द भी प्रयुक्त हुआ है। मात्राएँ दोनो पंक्तियों मे दोहा के ही समान हैं, केवल यति का पालन नहीं किया गया है—

मामियं चलिता विलोक्य वृतं मधुनिचयेन।
सापराधतया मयापि न वारिता भयेन।
हरि हरि हतादरतया गता सा कुपितेव। ध्रुवपद ॥
किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण।
किं धनेन किं जनेन किं मम जीवितेन गृहेण। हरि हरि ॥
चिन्तयामि तदानन कुटिलभ्रु कोपभरेण।
शोणपद्ममिवोपरि भ्रमताकुलं भ्रमरेण।

जयदेव के उपर्युक्त गीत की तुलना हिन्दी के आधुनिक कवि प्रसाद के इस गीत से कीजिए—

आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम प्रलाप।
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
लाज के बन्धन खोल रहा। कोकिल[1] ॥

कीथ के अनुसार गीतगोविन्द जैसे काव्य की रचना उल्लेखनीय मौलिक कृति हैं क्योकि यह यात्राओं के लोकगीतो से अत्यन्त सुन्दर कलात्मक काव्य के प्रणयन की दिशा मे एक महान प्रयत्न है[2]।

---

1. प्रसाद, चन्द्रगुप्त।
2. कीथ, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १९३।

विद्वानों का अनुमान है कि केवल गेयपदशैली की दृष्टि से ही नही गीतगोविन्द का पूरा बहिरंग लोकसाहित्य से प्रभावित है। अर्थात् गेयपद तथा पाठयोग्य (recitable) श्लोकों का साथ-साथ प्रयोग करने और कहीं-कहीं पदों का साराश अनुपद ही श्लोक मे दे देने की प्रवृत्ति का उद्गम भी वही है। मैक्डानल का कथन है—

It is probable that he took as his model popular plays representing incidents from the life of Krishna, as the modern Yatras in Bengal still do. The latter festival plays even now consist chiefly of lyrical stanzas, partly recited and partly sung, the dialogue being but scanty, and to a considerable extent left to improvisions. On such a basis Jayadeva created his highly artificial poem.[1]

यह खेद की बात है कि मैक्डानल जैसा विवेकी विद्वान् गीतगोविन्द को कृत्रिम (artificial) विशेषण दे। यदि वे भूल से कलात्मक (Artistic) के स्थान मे इस शब्द का प्रयोग कर गये हो तो उतना शोचनीय नहीं। किसी खण्डहर के ऊपर नव सामयिक सामग्री का प्रयोग कर एक सर्वथा नूतन भवन का निर्माण, यदि सच्ची कला के प्राणो से स्पन्दित है तो, आर्टिफीशियल कभी नहीं कहा जा सकता। गीतगोविन्द की रचना हुए सात सौ से अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके। आजकल का 'यात्रा साहित्य' उस समय वर्तमान रूप में निःसन्देह नही रहा होगा। इस दीर्घकाल की अवधि मे उसमे भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हुए होंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गीतगोविन्द से, जिसका विशेषतया बगीय वैष्णवों में और सामान्यतः जन साधारण में इतना अधिक प्रचार रहा है, यह यात्रा-साहित्य स्वय तो प्रभावित नहीं हुआ है। व्रजक्षेत्र मे जो रासलीला का स्वरूप आजकल प्रचलित है वह भी कुछ इसी ढंग का है जिसमें गेयपद, पाठ्य और वार्ता सदृश सामग्री रहती है। जब हम जयदेव पर लोकसाहित्य के प्रभाव की बात कहते हैं तो हमे प्रश्न के इस दूसरे पहलू को भी नहीं भुला देना चाहिये। यह सत्य है कि लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य के पारस्परिक आदान-प्रदान मे शिष्टसाहित्य जितना लेता है उतना देता नही। किन्तु इसका एक कारण है, वह यह कि अनेक कारणों से शिष्ट साहित्य का जनसाधारण में प्रचार नही हो पाता। उसके जितने अश का प्रचार हो जाता है वह अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। इस का प्रत्यक्ष उदाहरण जयदेव के ही समकालीन जगनिक द्वारा रचित 'आल्हा खण्ड' नामक ग्रन्थ है जो अपने मूलरूप में आज प्राप्त नहीं है किन्तु जिसने प्रचार की व्यापकता के कारण, हिन्दी क्षेत्र के लोकसाहित्य को विराट् रूप से प्रभावित किया है। उसके अनुकरण पर एक बहुत बडा साहित्य लोक कवियों ने रच डाला है। आधुनिक स्वांगो मे भी इसका प्रभाव लक्षित होता है।

1. मैक्डानल हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३४५।

अन्त्यानुप्रास अथवा तुक का ग्रहण भी जयदेव ने अपभ्रंश से किया। यह सत्य है कि संस्कृत मे इससे मिलता जुलता स्वरूप श्लोक के पादान्त में आये हुए यमक का होता है। वासुदेव का यमक काव्य (अध्याय ४, ७) घटकर्पर, नलोदय, आनन्दतीर्थ का यमकभारत (मद्रास, ग्रन्थ-सूचीपत्र २०-७९५४) और श्रीवत्साङ्क का यमकरत्नाकर ऐसी ही रचनाएँ है।

प्राचीन काव्य शास्त्रियों ने इस प्रकार के यमक का उल्लेख और नामकरण भी किया है। प्राकृत साहित्य मे भी इस प्रकार का यमक प्रयुक्त होता था। हेमचन्द्र ने गलितक छन्द मे, जिसका प्राकृत में पर्याप्त प्रयोग हुआ है, पंक्तियों के अन्त में यमक निर्धारित किया भी है। किन्तु वास्तविक तुक, जिसमें व्यञ्जन साम्य की उतनी परवाह न करके पंक्तियों के अन्तिम शब्दों मे स्वरसाम्य लाया जाता है, विश्वनाथ से पहले संस्कृत के काव्यशास्त्रियों को मान्य न हो सकी। विश्वनाथ ने प्रथम बार उसे अन्त्यानुप्रास के नाम से परिभाषित किया। पीछे कहा जा चुका है कि तुक का आगमन संस्कृत में अपभ्रंश से ही हुआ। उसे यमक का विकास समझना ऐतिहासिक और साहित्यिक विकास की स्पिरिट के विरुद्ध होगा क्योंकि संस्कृत में शंकर के बाद भी इसका प्रयोग यत्र तत्र केवल सायोगिक रूप मे ही देखा जाता है। यह तो अपभ्रंश के साहित्य की ही जो संस्कृत साहित्य के साथ ही साथ पनप रहा था, अपनी अनिवार्य विशेषता थी। इस शैली मे गीतगोविन्द ही सबसे प्रथम प्रौढ रचना है जिसका अनुकरण अन्य कवियों ने भी किया। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने जयदेव की कृति से प्रभावित होकर ही अन्त्यतुक को अन्त्यानुप्रास के नाम से स्वीकार कर लिया। इस आधार पर साहित्यशास्त्र में इस नूतन अलंकार के प्रवेश का बहुत कुछ श्रेय जयदेव के बांटे पडता है।

जयदेव की कारयित्री प्रतिभा इस नवीन ढंग के अनुप्रास की कोरी नकल करके ही सन्तुष्ट नही हो सकती थी। उसने इसके प्रयोग में अन्य प्रकार के वैचित्र्य का समावेश कर उस पर अपनी छाप लगा दी। तुक का प्रयोग उन्होंने अन्त मे ही नहीं मध्य मे भी किया है—

**रतिसुखसारे गतमभिसारं मदनमनोहरवेषम्।**
**न कुरु नितम्बिनि! गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम्।**
**धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली।**
**गोपीपीनपयोधरमर्दनचञ्चलकरयुगशाली[1] ॥**

यद्यपि यह मध्य तुक संस्कृत साहित्य के लिए कोई अपरिचित वस्तु नहीं है। ऋग्वेद में ही इस की खोज की जा सकती है—

**त्रातारमिन्द्रं अवितारमिन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्[2]।**

1. गीतगोविन्द प्रबन्ध ११।

2. ऋग्वेद ६-४७-११।

शंकराचार्य के देवीक्षमापनस्तोत्र का यह श्लोक भी देखिए—

श्वपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा ।
निरातङ्को रङ्को विहरति चिर कोटिकनकैः ।
तवापर्णे ! कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदं ।
जनः को जानीते जननि ! जपनीयं जपविधौ ।

तथापि जयदेव की मध्यानुप्रास-योजना इससे भिन्न प्रकार की है। जिस प्रकार अन्त्य तुक सममात्रिक अथवा समवर्णिक पंक्तियों के अन्त में रखी गई है उसी प्रकार जहाँ कहीं उन्होंने मध्य तुक का प्रयोग किया है वहाँ भी इस सन्तुलन को ध्यान में रखा है जब कि इन उक्तियों में यह बात नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ जयदेव की उपर्युक्त पंक्तियों को ही ले लीजिए। प्रत्येक पंक्ति-मिथुन की प्रथम पंक्ति में मध्यतुक का समावेश किया गया है जिसकी प्रथम सोलह मात्राओं को आठ-आठ मात्राओं के द्विकों में विभाजित कर लिया गया है जिनमें प्रथम चार मात्राओं के अन्त में चार-चार मात्रा वाले शब्दों द्वारा तुक की सृष्टि की गई है और पूरे प्रबन्ध में इसी क्रम का निर्वाह किया गया है जिससे तुक संगीत का एक अविभाज्य अङ्ग बन गई है—

पतति पतत्रे विचलति तत्रे शङ्कितभवदुपयानम् ।
↑ ↑
मुखरमधीरं त्यजमञ्जीरं रिपुमिव केलिसुलोलम् ।
↑ ↑
विगलितवसनं परिहृतरसनं घटय जघनमपिधानम् ।
↑ ↑

प्रत्येक पंक्ति में रेखांकित चतुष्कलों के पश्चात् के चतुष्कल, जो तीर के चिन्ह द्वारा दिखाये गये हैं, तुक की सृष्टि करते हैं।

यह तो हुई एक अकेली पंक्ति के मध्य में तुक-सृष्टि की बात। कहीं-कहीं पंक्ति-मिथुन की दोनों पंक्तियों के अन्त में जिस प्रकार तुक का विधान किया गया है उसी प्रकार मध्य में भी, अन्तर केवल इतना है कि मध्यतुक में पहली पंक्ति की अपेक्षा दूसरी में एक मात्रा कम कर दी गई है—

वहति मलय समीरे मदनमुपनिधाय ।
स्फुटति कुसुमनिकरे विरहिहृदयदलनाय ।
दहति शिशिरमयूखे मरणमनुकरोति ।
पतति मदनविशिखे विलपति विकलतरोऽति ।
ध्वनति-मधुपसमूहे श्रवणमपिदधाति ।
मनसि कलितविरहे निशि निशि रुजमुपयाति ।

उपर्युक्त उदाहरण से तथा समस्त तुकान्त कविता के अध्ययन से पता चलता है कि तुक-सृष्टि में पहली पंक्ति के कम से कम अन्तिम दो अक्षरों के स्वर दूसरी पंक्ति में अवश्य दुहराये जाते हैं, किन्तु उक्त गीत के ही मध्य में जयदेव ने केवल एक अक्षर के स्वर एवं व्यञ्जन को दुहराकर तुक की प्रतिष्ठा की है। पंक्तियों के

अन्त की तुक प्रचलन के ही अनुसार है। इस प्रकार की मध्यतुक को हम तुकार्ध कह सकते हैं।

जयदेव से पूर्व संस्कृत के कवियों की यह प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने अपनी कृतियों में प्रायः अपना पूरा परिचय तो क्या नाम तक भी देने की परवाह नहीं की। हाँ कुछ नाटकों को इसका अपवाद अवश्य कहा जा सकता है। नाटकों की प्रस्तावना में कवि और कृति के नामोल्लेख की प्रथा पुराने समय से चली आ रही थी किन्तु मुक्तक रचनाओं अथवा छन्दों में यह सर्वथा अपरिचित थी। जयदेव ने प्रत्येक अष्टपदी के अन्त में अपने नाम का उल्लेख भी किया है। उन्होंने प्राय सर्वत्र 'जयदेवभणितम्' का प्रयोग किया है। नामोल्लेख की यह प्रथा निश्चयपूर्वक लोकसाहित्य की प्रवृत्ति थी। आज भी अशिक्षित लोककवियों के भी स्वाँगों की सभी रागिनियाँ उनके नाम की छाप से अंकित है। अपभ्रंश साहित्य में यह प्रथा बहुत पहले से चली आ रही थी। उदाहरणार्थ पांचवें अध्याय में उदाहृत सिद्ध कवि सरहपा के गीत की यह अन्तिम पंक्ति देखिए—

जामे काम कि कामे काम, सरह भणइ अचिन्त सो धाम।

'सरह भणइ' और 'जयदेव भणितम्' का साम्य विशेष रूप से लक्षितव्य है। इस प्रकार प्रचलित अपभ्रंश काव्यशैली से जयदेव ने बहुत कुछ लिया, फिर भी उनकी शैली उनकी ही है। अभिव्यक्ति की नवीनता जो सर्वदा और सर्वशः काव्य में रमणीयता के नाम से आदृत हुई है, उनकी शैली में स्पष्टतया भासित होती है। भावानुकूल शैली-प्रयोग की कला जयदेव को खूब आती थी। केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

सखि! हे केशीमथनमुदारम्।
रमय मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम्।
प्रथमसमागमलज्जितया पटुचाटुशतैरनुकूलम्।
मृदुमधुरस्मितभाषितया शिथिलीकृतजघनदुकूलम्॥ सखि०॥
किसलयशयननिवेशितया चिरमुरसि ममैव शयानम्।
कृतपरिरम्भणचुम्बनया परिरभ्य कृताधरपानम्॥ सखि०॥
अलसनिमीलितलोचनया पुलकावलिललितकपोलम्।
श्रमजलसकलकलेवरया वरमदनमदादतिलोलम्॥ सखि०॥
कोकिलकलरवकूजितया जितमनसिजतन्त्रविचारम्।
श्लथकुसुमाकुलकुन्तलया नखलिखितघनस्तनभारम्॥ सखि०॥
चरणरणितमणिनूपुरया परिपूरितसुरतवितानम्।
मुखरविशृङ्खलमेखलया सकचग्रहचुम्बनदानम्॥ सखि०॥
रतिसुखसमयरसालसया दरमुकुलितनयनसरोजम्।
निःसहनिपतिततनुलतया मधुसूदनमुदितमनोजम्॥ सखि०॥

इस गीत में कृष्ण के समागम के लिए राधा की उत्कण्ठा का वर्णन है।

ध्रुवक पद में राधा द्वारा सखी से कृष्ण-समागम कराने की प्रार्थना की गई है। इस के पश्चात् प्रत्येक पंक्ति केवल दो विशेषणों से बनी है जिनमें एक राधा का है और दूसरा कृष्ण का। राधा स्वयं समागम-प्रार्थिनी है इसलिए उसकी उत्कण्ठा का व्यंजक विशेषण पहले आना ही चाहिए। ये विशेषण सुरतव्यापृत नायिका और नायक के व्यापारों और अनुभावों का ऐसा क्रमिक चित्र उपस्थित करते हैं कि सुरत के प्रारम्भ से अन्त तक का एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित हो जाता है। नायिका की प्रथम समागम के प्रारम्भ की लज्जा से लेकर निःसहनिपतिततनुलता तक के व्यापार और अनुभावों के समानान्तर नायक के चाटु वचनों से लेकर मुदितमनोजता (काममन्तुष्टि) तक की क्रियाएँ और भाव निधुवन का चरमसीमा तक क्रमिक विकास प्रस्तुत करते हैं जिससे राधा की उत्कण्ठा की तीव्रता का अभिव्यञ्जन होता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति की भावानुकूलता गीतगोविन्द के सभी गीतों की विशेषता है जिससे जयदेव की 'संदर्भशुद्धिं गिरां जानीते जयदेव एव' गर्वोक्ति भली-भाँति सार्थक प्रमाणित हो जाती है।

जयदेव की एक अन्य विशेषता है गौडी तथा वैदर्भी रीति का अभूतपूर्व समन्वय। आचार्यों ने भी गौडी रीति को शृंगारादि कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं माना है तथा समास की प्रचुरता को इस दृष्टि से हेय बतलाया है। ओजः समास-भूयस्त्वमेतद्गद्यस्य लक्षणम् कह कर समास-बाहुल्य को गद्य में ही अधिक प्रशस्य माना गया है। जयदेव ने आचार्यों की इस मान्यता को चुनौती दी। ओजःपूर्ण शब्दों को तो उन्होंने नहीं अपनाया किन्तु समासों का खुलकर प्रयोग किया है। कहीं कहीं तो गीत की एक एक पंक्ति में केवल एक ही समस्त पद समा सका है। यथा—

ललित-लवंगलता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे।
मधुकर-निकर-करम्बित-कोकिल-कूजित-कुंजकुटीरे।

इतना ही नहीं प्रायः पूरा गीत एक वाक्य में ही समाप्त होता है। उदाहरणार्थ ऊपर उल्लिखित 'सखि हे केशीमथनमुदारम्' वाला गीत ही ले लीजिए। पूरे गीत में एक ही क्रिया है—'रमय' इस प्रकार का समास-बाहुल्य तथा वाक्य-विन्यास देखकर महाकवि बाण की कादम्बरी की याद आ जाती है। यह सब कुछ होने पर भी जयदेव की पदशय्या इतनी ललित और स्पष्ट है कि प्रसाद गुण भाषा के प्रवाह का साथ कहीं नहीं छोड़ता। ध्रुवपद में समास का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है। अनुप्रास की समस्वरता का ध्यान भी सर्वत्र रखा गया है।

समूची रचना में ऐसे शब्द खोज निकालना कठिन है जो भावनाओं के ही अनुरूप कोमल न हों। शब्दों के अंतःसंगीत का जैसा माधुर्य इस रचना में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि गीतगोविंद का कलात्मक स्वरूप मस्तिष्क के सूक्ष्म व्यापारों का निदर्शन है तथापि स्पष्टता, सरसता और सरलता के कारण उसमें कृत्रिमता का कहीं भी आभास नहीं होता।

जयदेव ने कुशल जौहरी के समान शब्दों के नगों को एक एक करके यथा-स्थान जड़ दिया है 'उसमे कला की बारीकी अवश्य है पर वह आधुनिक रुचि की कसौटी पर भी श्रम की बरबादी सिद्ध नहीं होगी। इस विषय मे डा० कीथ का मत उल्लेखनीय है—

......In poems which were to be sung and to be used at popular festivals artificiality was obviously out of place, and though they can never have been intelligible to the mass of their admirers without the readily given aid of vernacular interpretations, the songs are such as, once explained, would doubtless easily be comprehended and learned.[1]

गीतगोविन्द की इन अदृष्टपूर्व विलक्षणताओं के कारण ही गेटे ने उसकी मेघदूत तथा अभिज्ञानशाकुन्तल के समान ही प्रशंसा की है[2]। सर विलियम जोन्स द्वारा गीतगोविन्द के एक विकृत अनुवाद को देखकर उस ने कहा था कि यदि उत्कृष्ट काव्य का यही लक्षण है कि उसका अनुवाद करना असम्भव है तो जयदेव का काव्य वस्तुत. ऐसा ही है।

Jayadeva's work is a masterpiece and it surpasses in its Completeness of affect any Indian poem. It has all the perfection of the miniature word-pictures which are so common in Sanskrit poetry, with the beauty which arises as Aristotle asserts from magnitude and arrangement.[3]

अपने आकार प्रकार की दृष्टि से भी गीतगोविन्द अपने समय तक के साहित्य मे एक बिलकुल अजनबी व्यक्तित्व लेकर उपस्थित हुआ है जिसे पहचानने में आधुनिक विद्वानों को कठिनाई हुई है। विलियम जोन्स इसे पशुचारकीय रूपक (Pastoral Drama) और लासेन संगीतकाव्यात्मक रूपक (Lyric-Drama) कहते हैं; पिशेल ने इसे मधुर रूपक (Melodrama) की श्रेणी में रखा है तो वानश्रोडर परिष्कृत यात्रा (Refined Yatra) कहना पसन्द करते है। लैवी इसको गीत और रूपक का मध्यवर्ती काव्य मानते है। किन्तु जयदेव का उद्देश्य शायद प्रबन्धकाव्य रचना था। इसलिए उन्होने इसका विभाजन सर्गों में किया है। यदि उन्हें इसका नाटकीय रूप और अभिनेयता अभिप्रेत होती तो वे अवश्य ही अङ्कों और दृश्यो में इसका विभाजन करते तथा अभिनय की सुगमता के लिए उचित संकेत देते।

1. *Hist. of sans. Lit.*, p. 195.

2. वही।

3. वही, पृष्ठ १६४।

डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि कवि ने उसे (गीतगोविन्द को) प्रबन्धकाव्य के रूप मे ही सजाया है। नि.सन्देह गीतगोविन्द के गान गीतिकाव्यात्मक अर्थात् लिरिकल है। ऐसे पदों से प्रबन्धकाव्य का काम नही लिया जा सकता। इसलिए गीतगोविन्द वास्तव मे प्रबन्ध काव्य नही हो सका है। वह वस्तुतः गीति-काव्य-संग्रह ही है।[1]

हमे तो ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव का उद्देश्य इसे 'गीतिकाव्य' ही कहने का था। यह इस रचना के नाम से ही प्रकट है। इसके अतिरिक्त सभी पदो के राग तथा ताल के संकेत भी उन्होंने दिये हैं जिसमे प्रतीत होता है कि इनका गाया जाना ही उनका अभीष्ट था। वस्तुतः उन्होंने इसे 'प्रबन्ध गीति' के रूप मे ही रचा है। कुछ भी हो भावनाओं की गहनता, पदों की गेयता और शैली की मसृणता के कारण यह जाने या अनजाने गीतिकाव्य ही बन गया है। यद्यपि यह अर्ध-नाटकीय रूप मे ढला हुआ है किन्तु इसकी आत्मा पूर्णतया गीतिमय है।[2] कीथ उस की मौलिकता की सराहना करते करते नहीं अघाते।[3]।

## उत्तरवर्ती कवियों पर प्रभाव और संस्कृत-गीतिसाहित्य में जयदेव का स्थान

जयदेव ने अपने उत्तरवर्ती कवियो के लिए गीतिकाव्य का जो आदर्श प्रस्तुत किया उसका बडी तत्परता के साथ अनुकरण हुआ जिसके फलस्वरूप गीतगोविन्द की शैली पर अनेक काव्यों की रचना हुई। राधाकृष्ण के भक्तों ने ही नही, सीताराम तथा शिव पार्वती के उपासको ने भी जयदेव के अनुकरण पर अपने अपने उपास्य-युगल की लीलाओं का शृङ्गारिक वर्णन किया। इन रचनाओ पर जयदेव की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। सदा से मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में परिचित राम का यह रासासक्त नवीन रूप देखिए—

अखण्डरासमण्डले सखीसमूहकल्पिते
रराज राजनन्दनो विमोहयन् जगत्त्रयम्।
प्रकामकामकामुको मनोजमन्त्रभाविताम्
रणन् सुवल्लकीं भृशं सुधासुधारया तदा।
क्वचित्क्वचिद्वनान्तरे क्वचित्क्वचिल्लतान्तरे
क्वचित्क्वचित्कुचान्तरं प्रविश्य राजनन्दनः।
प्रदीपयन् मनोभवं प्रदर्शयन् स्वलाघव
कलाकुतूहलं मुहुः प्रकामकामशास्त्रजम्[4]।

1. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पाचवा भाषण।
2. S. K. De. *Hist. of Sans. Lit.* p, 393.
3. The form of the Poem is extremely original, *Hist. of Sans. Lit* p. 191.
4. लोमश संहिता २-१८७-१८६।

गीतगोविन्द के अन्तरङ्ग और बहिरग दोनो का ही अनुकरण हुआ। गीत-गोविन्द में सखी राधा को अन्य युवतियो के साथ रास मे आसक्त कृष्ण को दिखाती हुई कहती है—'विहरति हरिरिह सरसवसन्ते' और इसके पश्चात्—

कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपिश्रुतिमूले ।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले ।
करतलतालतरलवलयावलि कलितकलस्वनवंशे ।
रासरसे सह नृत्यपरा हरिणा युवतिः प्रशशंसे ।
श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम् ।
पश्यति स स्मितचारुतरामपरामनुगच्छति वामाम्[1] ॥

इन पंक्तियों के अनुकरण पर हर्याचार्य के जानकीगीत का यह पद लीजिए—

क्रीडति रघुमणिरिह मधु-समये ।
पश्य कृशोदरि ! भूपतितनये ।
जानकि ! हे वर्द्धितयौवनमये — ध्रुवपद ।
कापि विचुम्बति तं कुलबाला ।
गायति काचिन्मृदुधृततालो ॥ १ ॥
कामपि सोऽपि करोति सहासां ।
कलयति काचन कामविकाशाम् ॥ २ ॥
हरिवर्णितमिदमनुरघुवीरम् ।
निवसतु चेतसि सरससनीरम् ॥[2]

इसी प्रकार 'गीतराघव' के नाम से दो रचनाएँ प्रचलित हैं जिनमे एक प्रभाकर द्वारा सन १६१८ मे लिखी गई जिसका उल्लेख श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने अपनी सन् १८८२-८३ की रिपोर्ट मे किया है। दूसरी रचना किन्ही हरिशंकर[3] आचार्य की कृति है। हरिनाथ के नाम से एक रामविलास काव्य भी मिला है। इसी प्रकार रामगीतगोविन्द की हस्त-प्रतिलिपि इण्डिया लाइब्रेरी मे सुरक्षित है।[4] १८ वी शताब्दी मे विश्वनाथसिंह जू ने संगीत रघुनन्द की रचना की। इन सभी रचनाओं में गीत-गोविन्द के अनुकरण पर गीत रचे गए हैं और राधाकृष्ण के स्थान पर सीताराम की लीलाओं का गान किया गया है।[5]

शिव पार्वती की शृंगारिक चेष्टाओं का भक्ति से मेल बिठाकर शिव-भक्तों ने

1. गीतगोविन्द प्रबन्ध ४ ।
2. जानकी गीत सर्ग १ ।
3. हरप्रसाद शास्त्री, Notices of Sans. Mass. Report, 1895-1900.
4. Eggeling's *catalogue of Sans. Mss. in the India Library*, Vol. III Landon, 1891.
5. रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना पृष्ठ १८५-१८६ ।

भी इस प्रकार के काव्यों का प्रणयन किया जिनमें भानुदत्त का गीत-गौरीश विशेष उल्लेखनीय है। यह बम्बई से 'ग्रन्थ रत्नमाला' के अन्तर्गत सन् १८८८ में और उसके पश्चात् सन् १६१६ में गोपालनरायन कम्पनी से प्रकाशित हुआ। कल्याण का गीत गङ्गाधर, रामभट्ट का गीतगिरीश और वशमणि का गीत-दिगम्बर भी ऐसी ही रचनाएँ हैं। इन रचनाओं पर भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से गीत-गोविन्द का भारी प्रभाव परिलक्षित होता है—

जयदेव

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम्।
विहितवहित्रचरित्रमखेदम्।
केशवधृतमीनशरीर!
जय जगदीश हरे।

भानुदत्त

भ्रमसि जगति सकले प्रतिलवमविशेषम्।
शमयितुमिव जनखेदमशेषम्।
पुरहर कृतमारुतवेष!
जय भुवनाधिपते।

जयदेव

निभृतनिकुञ्जगृहं गतया निशि रहसि निलीय वसन्तम्।
चकितविलोकित-सकलदिशा-रतिरभस-रसेन हसन्तम्।
सखि हे केशीमथनमुदारम्।
रमय मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम्।

भानुदत्त

अभिनवयौवनभूषितया दरतरलितलोचनतारम्।
किञ्चिदुदञ्चितविहसितया चलदविरलपुलकविकासम्।
सखि! हे शङ्करमुदितविलासम्।
सह सङ्गमय मया नतया रतिकौतुकदर्शितहासम्।

राधा कृष्ण को लेकर सस्कृत मे ही नहीं मैथिली, बंगला आदि आधुनिक भाषाओं में भी गीतगोविन्द के अनुकरण पर गीत लिखे जाने लगे। इसी जाति के गीतों को वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलाचार्य ने अपने शृङ्गाररसमण्डन नामक ग्रन्थ में स्थान दिया है।

जिस प्रकार गीतगोविन्द के प्रारम्भ में सखी राधा को दूर से व्रजयुवतियों के साथ रासासक्त कृष्ण को दिखाती है उसी प्रकार शृङ्गाररसमण्डन में भी। उदाहरण लीजिए—

(वसन्तरागेण गीयते)
हरिरिह व्रजयुवतीशतसङ्गे।

विलसति करिणीगणावृतवारणवर इव रतिपतिमानभङ्गे । १ । ध्रुवपदम् ।
विभ्रमसंभ्रमलोलविलोचनसूचितसञ्चितभावम् ।
कापि दृगञ्चलकुवलयनिकरैरञ्चति तं कलरावम् ॥ २ ॥
स्मितरुचिरुचिरतराननकमलमुदीक्ष्य हरेरतिकंदम् ।
चुम्बति कापि नितम्बवती करतलधृतचिबुकममन्दम् ॥ ३ ॥
उद्भटभावविभावितचापलमोहननिधुवनशाली ।
रमयति काममपि पीनघनस्तनविलुलितनववनमाली ॥ ४ ॥
प्रियपरिरम्भविपुलपुलकावलिद्विगुणित-सुभग शरीरा ।
उद्गायति सखि ! कापि सम हरिणा रतिरसरणधीरा ॥ ५ ॥ ध्रु० ॥[1]

और तब राधा सखी से कहती है—

केदाररागेण गीयते ।
कथमपि मधुमथनं मया सह मनोभवकोटिरुचिरम् ।
रमय कामरसमप्यारस नय रसिकं सुचिरम् ।
कुंजे निलीयरचितकुसुमशयन गतया कथमपि रहसि ।
रतिरभसेन हसन्तीमोषल्लजितया चारुभावे चेतसि ।[2]

फिर राधा-कृष्ण के मान-मनाव और अभिमार की यही कहानी कही गयी है जो गीतगोविन्द मे है। गीतगोविन्द की ही भांति राधा द्वारा कृष्ण से स्वशृंगार-प्रसाधन की प्रार्थना और कृष्ण के उसे स्वीकार करने के साथ इसका उपसंहार होता है।

नारायणतीर्थ की कृष्णलीलातरङ्गिणी[3] और रूप गोस्वामी की गीतावली भी गीतगोविन्द के अनुकरण पर रचे हुए गीतों से भरी पड़ी है। लीलागान विषयक ग्रन्थों के अतिरिक्त दृश्य काव्य तथा गद्य साहित्य पर भी जयदेव का बड़ा भारी प्रभाव परिलक्षित होता है। रामानन्द राय का जगन्नाथ-वल्लभ नाटक विशेषरूप से उल्लेखनीय है जिसे स्वयं लेखक ने संगीत नाटक कहना पसन्द किया है। चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों की प्रायः सभी कवि-कृतियां इस प्रकार के गीतों से ओत-प्रोत हैं। उदाहरणार्थ कवि कर्णपूर का आनन्दवृन्दावनचम्पू, जीव-गोस्वामी का गोपालचम्पू तथा प्रबोधानन्द का संगीतमाधव इस दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। इन सब के उदाहरण देना यहाँ सम्भव नहीं। गीतगोविन्द का आकर्षण कुछ ऐसा अनोखा है कि उसने आधुनिक युग तक की कृतियों को प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ शिवराजविजय का यह गीत ले लीजिए—

1. शृङ्गाररसमण्डन, मूलचन्द तेलीवाला पृष्ठ, ५६ ।

2. वही, पृष्ठ ५८ ।

3. Eggeling, India office catalogue, VII. No. 3881.

सखि हे नन्दतनम आगच्छति ।
मन्दं मन्दं मुरलीरणनैः समधिकसुखं प्रयच्छति ।। ध्रुवपदम् ।
भैरवरूपः पापिजनानां सतां सुखकरो देवः ।
कलितललितमालतीमालिकः सुरवरवांछितसेवः ।
सारङ्गः सारङ्गसुन्दरो दृग्भिर्निपीयमानः ।
चपलचमत्कृतिवसनो विहितमनोहरगानः ।[1]

डा० दशरथ ओझा का मत है कि जयदेव का प्रभाव आधुनिक लोक-गीत-कारों पर भी अत्यधिक परिलक्षित होता है।[2] उनके गीतगोविन्द ने मैथिल, ब्रज, गुजराती, मराठी आदि सभी भाषाओं को प्रभावित किया। लोक-नाटकों पर भी इसका अधिक प्रभाव पड़ा। इस काव्य की प्रमुख विशेषताओं में एक विशेषता शब्द सगीत की है। नादात्मक सौन्दर्य के द्वारा सगीत के प्रभाव की सृष्टि का सामर्थ्य विरले ही कवियों में होता है। यों तो सैकड़ों वर्ष पहले से कवि लोग अनुप्रास और यमक अलकारों द्वारा वैचित्र्य का आधान अपनी रचनाओं में करते आ रहे थे। 'दण्डिन: पदलालित्यम्' लोगों की प्रशसा अर्जित कर चुका था, किन्तु यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जयदेव का पदलालित्य केवल जैसे तैसे ध्वनिसाम्य के उपकरणों को एकत्र कर चमत्कार-सृष्टि तक ही सीमित नहीं है। भावानुकूलता उसका प्रमुख उद्देश्य है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, उन्होंने गीति शैली अपभ्रंश से अपनायी और संस्कृत साहित्य की अनेकानेक परम्पराओं का समावेश कर उसे पुष्ट किया, किन्तु उनसे पहले की रचनाओं में उस ढग की शब्द-योजना शायद ही कहीं हो जिस ढंग की उन्होंने की है। इसलिए यह उनकी मौलिकता ही कही जायेगी। अपभ्रंश में पदरचना की परम्परा तो थी किन्तु शैली का यह परिष्कार और लालित्य का ऐसा उदात्त रूप वहां दुर्लभ था। अतः उत्तरवर्ती गेयपदशैली में रचित रचनाओं में जो यह नवीन तत्त्व देखा जाता है उसके प्रवर्तक जयदेव ही सिद्ध होते है। हिन्दी के मध्यकालीन कवियों पर और विशेषतया कृष्ण भक्त कवियों पर यह प्रभाव बहुत ही अधिक मात्रा में दीख पड़ता है। इसका कारण यही है कि हिन्दी के समानान्तर ही विभिन्न सम्प्रदायों में राधाकृष्ण-भक्ति विषयक साहित्य का प्रणयन सस्कृत में भी हो रहा था और, जैसा कि प्रमाणित किया जा चुका है, सस्कृत की इन रचनाओं पर जयदेव का सर्वाङ्गीण प्रभाव पड़ा है। स्वयं गीतगोविन्द के गाने का प्रचार भी विभिन्न सम्प्रदायों में कुछ कम नहीं था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इस श्रेणी की हिन्दी रचनाएँ भी उससे प्रभावित होतीं। बिहार और बगाल में अब भी गीतगोविन्द के पद विभिन्न धार्मिक उत्सवों पर जनसाधारण तक में गाए जाते हैं। ब्रज की रासलीलाओं में भी इस प्रकार के कुछ पदों का गान होता है।

1. शिवराज विजय प्रथम समुच्छ्वास।

2. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ४४८।

ब्रजभाषा मे ही आधुनिक रास खेलने वाले जो पद गाते हैं उनमे भी शब्द-संगीत का निर्वाह करने का प्रयत्न बराबर अनुभव किया जा सकता है। इन तथ्यों को दृष्टि मे रखते हुए यह असम्भव नही कि वर्तमान लोकनाटककारो पर भी जयदेव का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ गया हो। बिहार राज्य के भिखारी ठाकुर के गीतों में स्वरमाधुर्य, शब्दसगीत और अर्थसगीत का कही कही सुन्दर सामजस्य पाया जाता है। 'मैनागुजरी' स्वांग (लोकनाटक) के एक संभाषण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी—

शाहजादा

**गुज्जर पं क्या मोही है गुज्जर लोक गुआल।**
**गुज्जर गुज्जर बहुत भले मेरे शाही लोग के काल।**
**बादशाह! शाही लोग के काल।**

यहाँ 'गूजर' का 'गुज्जर' और गोपाल का 'गुआल' रूपान्तर केवल शब्द-संगीत का प्रभाव लाने के लिए ही है। 'गूजर' शब्द रखने से एक तो भाषा के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होता है और दूसरे अर्थगत कर्कशता से भी उसका सामजस्य नहीं बैठता। अतः भावना के पुरुषत्व की अभिव्यक्ति के लिए 'गूजर' शब्द के स्थान में 'गुज्जर' ही अधिक उपयुक्त है। ध्रुवपद के बार बार दुहराये जाने के कारण अभिव्यंजनीय भाव मे स्थिरता आती है। इसीलिए तो इसे ध्रुवक कहा भी जाता है।

ब्रजक्षेत्र के प्रसिद्ध लोक-नाटककार नत्थाराम शर्मा के सगीत-स्याहपोश का मङ्गलाचरण देखिये—

**करन कष्ट सब नष्ट दुष्टगंजन मंजन त्रैतापन।**
**शमन अमङ्गल मूल दमन क्रोधादि मानमदपापन।**
**अष्टभुजो आठों भुज विक्रम धारि स्वर्ग शरचापन।**
**असुर मारि भयहारि देव इन्द्रादि करे अस्थापन।**

इन उदाहरणो से लोकनाटककारों की भी शब्दसगीत के प्रति अभिरुचि सिद्ध होती है। यह सत्य है कि ऐसे नाटककार लोक में विरल ही होते हैं किन्तु साहित्यिक जगत में भी अर्थ और शब्द की ध्वनि का पूर्ण समन्वय कर सकने वाले कलाकार कभी-कभी ही अवतरित होते हैं। जयदेव ऐसे ही कलाकार थे और लोक-नाटककारों की इस अभिरुचि के सम्पादन में उनका प्रत्यक्ष तो नहीं किन्तु अप्रत्यक्षतः बड़ा हाथ था।

जयदेव के इस व्यापक प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए हम डा० एस० के० डे० के इन शब्दों में अपने सिद्धान्त का प्रतिबिम्ब पाते हैं कि—

1. सेठ गोविन्द दास अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ४४८।

In its novelty and completeness of effect, Jayadeva's poem is unique in Sanskrit and it can be regarded as almost creating a new literary genre.[1]

इस विवेचन के आधार पर हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते है.—

१ जयदेव का गीतगोविन्द भागवत-परम्परा से भिन्न लीलागान-परम्परा का साहित्यिक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

२ जयदेव ने शृङ्गारिक गीति परम्परा और स्तोत्र परम्परा का एक ऐसा समन्वय कर दिया जो एक ओर तो भक्तिरस के विकास में योग देता हुआ गौडीय रस शास्त्र की प्रेरणा का मूल बना और दूसरी ओर शृङ्गार के क्षेत्र मे राधा-कृष्ण को सामान्य नायक-नायिका की भूमिका में प्रस्तुत करने की पद्धति का प्रवर्तक सिद्ध हुआ।

३ संस्कृत मे पद लिखने की शैली को उन्होंने उज्जीवित किया और एक ऐसी शैली की नीव डाली जो शताब्दियों तक गीत-लेखकों का आदर्श बनी रही।

## उपसंहार

संस्कृत-गीति-काव्य का उदात्त स्वरूप शृंगारिक गीतियो में या कुछ धार्मिक स्तोत्रों में दिखाई देता है। किन्तु शृंगारिक और धार्मिक विषयों के अतिरिक्त कुछ नीतिकथन तथा वैराग्य-परक उक्तियो मे भी उच्चकोटि का कवित्व मिलता है। नीति कथन भारतीय कवि का एक प्रिय विषय रहा है और प्रायः सभी कवियों ने अपने काव्य में कुछ न कुछ नीति विषयक श्लोक अवश्य कहे है। शृंगार के प्रति अधिक झुकाव होने पर भी उदात्त चारित्रिक धारणा, विषयभोग-त्याग, निरभिलाष जीवन-यापन आदि के सिद्धान्तों मे भी कवियों की आस्था बनी हुई थी। अनेक प्रकार से ससार की निस्सारता प्रतिपादन द्वारा क्षणिक सांसारिक भोगों से विरति उत्पन्न कर मानव-जीवन के अमूल्य क्षणो को ऊँची साधना मे लगाये रहने के लिए प्रेरित करने वाले तत्त्व भी समाज मे सदा से मौजूद रहे हैं। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के शृंगार-प्रधान रीति-युग मे उसके पूर्ववर्ती भक्तियुग की छाया स्पष्ट लक्षित होती है उसी प्रकार उपनिषदों के तत्त्व-ज्ञान, बौद्धों के दुःखवाद और स्मृतियों की आचार-प्रवणता की छाया हमारे आलोच्य काल में दीख पड़ती है। थेरों और थेरियों की गाथाओं में शान्तरस का जो भव्य स्वरूप प्रतिष्ठित हुआ उसने अनेक कवियों को आकर्षित किया।

इस परम्परा की सर्वप्रथम प्रसिद्ध कृतियाँ भर्तृहरि के वैराग्य और नीति-विषयक शतक हैं। सम्भवत: भल्लटशतक इस परम्परा की सर्वश्रेष्ठ कृति है जिसे गीति-काव्य का उत्कृष्ट निदर्शन कहा जा सकता है। वर्ण्य विषय को छोड़ कर शैली,

1. *Hist. of Sans. Lit.*, p. 394.

और रूपविधान (form) की दृष्टि से ये कृतियाँ भी शृंगारिक तथा धार्मिक रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं हैं। नीति-विषयक गीतियों की उल्लेखनीय विशेषता है—अन्योक्ति पद्धति का विकास। अनेक कवियों ने इसी पद्धति को अपनाया और अपनी रचनाओं को नीतिशतक आदि न कह कर अन्योक्ति शतक, अन्योक्तिमुक्तलता आदि नाम देना पसन्द किया।

वास्तव मे विषय-वैविध्य की दृष्टि से संस्कृत का गीतिकाव्य अत्यन्त सपन्न: है। उसमें कहीं प्रेम की मन्दाकिनी बह रही है तो कही करुण रस की फल्गुधारा कहीं जीवन के उल्लासमय संगीत है तो कही विरह के मर्मोच्छ्वास। संस्कृत गीति-काव्य में प्रकृति का भी एक अपना स्थान है। भारतीय कवियों ने प्रकृति और नारी के सौन्दर्य मे अभेद स्थापित किया है। नारी के चरण स्पर्श से अशोक का, आलिंगन से कुबरक का तथा कटाक्ष से तिलक का विकसित होना आदि कविसमय, जो भले ही आज रूढि कहकर हेय समझे जाने लगे हों, इसी तथ्य की ओर संकेत करते है। वैभव, विलास और कल्पना के अनेकानेक रंगों से चित्रित प्रेम-भावना के चित्रों से सस्कृत गीति-साहित्य भरा पडा है। आधुनिक भाषाओं के साहित्य को उसने अत्यन्त प्रभावित किया है और यह बेधड़क कहा जा सकता है कि अन्य भारतीय लोक-भाषाओ से संस्कृत ने जो कुछ लिया है उससे बहुत अधिक दिया भी है। राधा जैसी रस-सृष्टि प्रदान कर उसने आधुनिक भाषाओ के साहित्य के लिए पहले से ही एक नवीन पथ प्रशस्त कर दिया था।

——:o:——

## प्रमुख संदर्भ ग्रन्थों की सूची

**क—वेद ब्राह्मण, उपनिषद् पुराण तथा स्मृतिग्रन्थ**

(१) ऋग्वेद संहिता (सम्पादक मैक्समूलर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) (२) सामवेद संहिता (सं० प० रामस्वरूप शर्मा, १६२७) ३—यजु संहिता (आनन्दाश्रम १६०० ई०) ४—अथर्ववेद संहिता शकर पाण्डुरङ्ग पण्डित, १८६५ ई०) ५—काठकसंहिता (सं० श्रीपाद शर्मा सातवलेकर १६४३ ई०) ६—वाजसनेयी संहिता (सं० जीवानन्द विद्यासागर, १६०८ ई०) ७—तैत्तिरीय संहिता (पं० सत्यव्रत सामश्रमी, १८६४ ई०) मैत्रयाणी संहिता (श्रीपाद शर्मा सातवलेकर, सं० १६६८ वि०) ६—शतपथ ब्राह्मण (पं० सत्यव्रत सामश्रमी, रायल एशियाटिक सोसायटी) १०—ऐतरेय ब्राह्मण (ट्रावनकोर यूनिवर्सिटी, प्र० भा०, १६४२, द्वि० भा० १६५२ ई०) ११—जैमनीय ब्राह्मण (सं० डा० रघुवीर, नागपुर १६५४) १२—कौशीतकी ब्राह्मण १३—वृहदारण्यकोपनिषद् (आनन्दाश्रम, चतुर्थ संस्करण १६२७ ई०) १४—श्वेताश्वतरोपनिषद् (गीता प्रेस गोरखपुर, तृतीय संस्करण) १५-१६—छान्दोग्य और कठोपनिषद् (निर्णयसागर 'ईशादिविंशोत्तर-शतोपनिषद' पञ्चम संस्करण के अन्तर्गत) १७—कठकोपनिषद् (गीता प्रेस, षष्ठ संस्करण) १८—अग्निपुराण (रायल एशियाटिक सोसायटी) १६—कूर्मपुराण (रा० ए० सो० १८६० ई०) २०—वराह पुराण (रा० ए० सो०१८८७ ई०) २१—महाभारत (बम्बई संस्करण, खुला पन्ना) २२—श्रीमद्भागवत (श्यामकाशी प्रेस मथुरा) २३—मनुस्मृति (वेंकटेश्वर प्रेस) २४—याज्ञवल्क्यस्मृति (वेंकटेश्वर प्रेस)

**ख—शब्द, संगीत और काव्य शास्त्र विषयक ग्रन्थ**

२५—निरुक्त (डा० लक्ष्मणस्वरूप शास्त्री, लाहौर १६३४ ई०) २६—अष्टाध्यायी, २७—महाभाष्य (चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस, १६५४ ई०) २८—संगीतरत्नाकर (आनन्दाश्रम, १८६७ ई०) २६—संगीत दामोदर, ३०—संगीत दर्पण, ३१—वृत्त रत्नाकर (रामचन्द्र कुशल, १६२५) ३२—सुवृत्ततिलक (काव्यमाला द्वि० गुच्छक द्वि० संस्करण) ३३—नाट्यशास्त्र (चौखम्बा संस्कृत सीरिज) ३४—कामसूत्र (चौखम्बा सं० सी०, १६२६ ई०) ३५— काव्यप्रकाश

झलकीकर, १६३३) ३६—ध्वन्यालोक (चौ० सं० सी०, १६३७ ई०) ३७—रसगङ्गाधर (निर्णयसागर प्रेस, १६४७) ३८—काव्यादर्श पं० जीवानन्द, १८६०) ३६—काव्यालङ्कार सूत्र (ओरियण्टल बुक एजेंसी, पूना १६२७ ई०) ४०—साहित्यदर्पण (श्री कृष्णमोहन ठाकुर १६४७ ई०) ४१—प्राकृतपैङ्गलम् (रा० ए० सो०, बंगाल, १६०० ई०)

ग—पाश्चात्य काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ

४२—पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्त (लीलाधर गुप्त) ४३—बिगिनिंग ऑफ पोयटरी (गमरे) ४४—एन इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ इंगलिश लिटरेचर (हडसन, द्वि० स० १६१५ ई०) ४५—दि टिपिकल फार्म्स ऑफ इंगलिश लिटरेचर (यूफ्रेम, सन् १६१७ ई०) ४६—दि लिरिक (जानड्रिंकवाटर, प्र० स० १६०२ ई०) ४७—एक्सप्रेशन आफ इमोशन (चार्ल्स डारविन)

घ—विभिन्न इतिहास ग्रन्थ

४८—संस्कृत साहित्य का इतिहास (कीथ, द्वि० स०) ४६—संस्कृत साहित्य का इतिहास (मैक्डानल, प्र० स०) ५०—संस्कृत साहित्य का इतिहास (वरदराजाचारी, १६५२ ई०) ५१—संस्कृत साहित्य का इतिहास (डे तथा दासगुप्ता १६४७ ई०) ५२—संस्कृत साहित्य का इतिहास (बलदेव उपाध्याय, परिवर्धित स० १६३७) ५३—पालि-साहित्य का इतिहास (भरतसिंह उपाध्याय, प्र० स०) ५४—इण्डियन लिटरेचर (विटरनित्ज़, १६२७ ई०) ५५—हिन्दी साहित्य का आदि-काल (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, १६५२ ई०) ५६—एनशिएण्ट इण्डिया (मजूमदार, लन्दन १६४० ई०) ५७—भारत का सांस्कृतिक इतिहास (हरिदत्त वेदालङ्कार, द्वि० सं० १६५२ ई०) ५८—भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास (डा० सत्यकेतु विद्यालङ्कार, १६५३ ई०) ५६—वैदिक साहित्य और संस्कृति (बलदेव उपाध्याय, १६५५ ई०) ६०—वैदिक एज (भारतीय विद्याभवन, बम्बई प्र० स०) ६१—एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी (भारतीय विद्याभवन) ६२—क्लासिकल एज, ६३—इम्पीरियल एज, ६४—दि स्ट्रगिल फ़ार एम्पायर (विद्या-भवन, प्र० स०) ६५—हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर (बी० सी० ला० लन्दन, १६३३ ई०) ६६—केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंगलिश लिटरेचर (संक्षिप्त, अष्टम स १६४६) ६७—अपभ्रंश भाषा और साहित्य (हरिवंश कोछड़—प्र० सं०) ६८—अलबरूनीज इण्डिया।

ङ—आलोचनात्मक तथा विविध ग्रन्थ

६६—हिन्दी गीतिकाव्य (डा० रामखेलावन पाण्डेय, प्र० सं०) ७०—हिन्दी गीतगोविन्द (विनयमोहन शर्मा, प्र० सं०) ७१—दोहाकोश

(राहुल साकृत्यायन, प्र० सं०, २००४) ७२—तुलसीदास (रामचन्द्र शुक्ल, षष्ठ सं०) ७३—संस्कृत स्टडीज (प्रो० हिरियन्ना, प्र० सं० १९५४) ७४—मेघदूत (प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रथम संस्करण) ७५—इण्डिया एज़ नोन टु पाणिनि (प्रो० वासुदेवशरण अग्रवाल, १९५३ ई०) ७५—इण्डिया वैदिक एण्ड पोस्ट वैदिक (ह्वीलर, प्रथम संस्करण १९५२ ई०) ७७—सूर और उनका साहित्य डा० हरवंशलाल शर्मा, १९५४ ई०) ७८—साम्स ग्राफ़ सिस्टर्स (श्रीमती रायस डेविड) ७९—हर्षचरित की भूमिका (पी० वी० काणे, १९१८) ८०—साहित्यदर्पण की भूमिका (पी० वी० काणे, तृतीय संस्करण १९५१)।

## च—कोश, संग्रह एवं पत्र-पत्रिकाएँ

८१—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, ८२—शब्दकल्पद्रुम, (शक सं० १८१०) ८३—सदुक्ति कर्णामृत, ८४—सुभाषितावली, ८५—कवीन्द्र-वचन-समुच्चय, ८६—सिद्ध भारती (सं० विश्वबन्धु शास्त्री १९५० ई०) ७८—स्वरूप भारती (सं० विश्वबन्धु, १९५४) ८८—हिरियन्ना कोमैमोरेशन वाल्यूम, प्र० सं० १९५२ ई०) ८९—सर आशुतोष सिलवर जुबिली कोमैमोरेशन वाल्यूम, ९९—सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ (सं० डा० नगेन्द्र) ९१—बंकिम निबन्धावली (अनु० रूपनारायण पाण्डेय) ९२—जर्नल ऑफ़ रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, ९३—इम्पीरियल गजटियर (सन् १९०९ ई०) ९४—अवंतिका किंजल्क राजस्थानी आदि पत्रिकाओं की पुरानी फाइलें।

— ० —

वीर सेवा मन्दिर
पुस्तकालय
काल नं० 281 परमा
लेखक शास्त्री परमानन्द
शीर्षक संस्कृत गीतिकाव्यानुचिन्तनम्
खण्ड क्रम संख्या 4052